



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री
सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित

जिन्नवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971

* मुनिदीक्षा-11-05-1989

* आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मत्तिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संग्रह के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)

मयणपराजय चरिउ

ग्रन्थकर्ता
पण्डितप्रवरश्री हरिदेव जी

सम्पादक
डॉक्टर हीरालाल जी जैन

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ

(पारम्परानायक)



(द्वितीय पट्टाधीश)



(तृतीय पट्टाधीश)



परम पूज्य चारिष-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिमागर जी महाराज
(अंकनीकर)

(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोगणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिमागर जी महाराज

परम पूज्य तपरचर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिमागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें। मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिचार

JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĪ
APABHRANSHA GRANTHA, No. 5

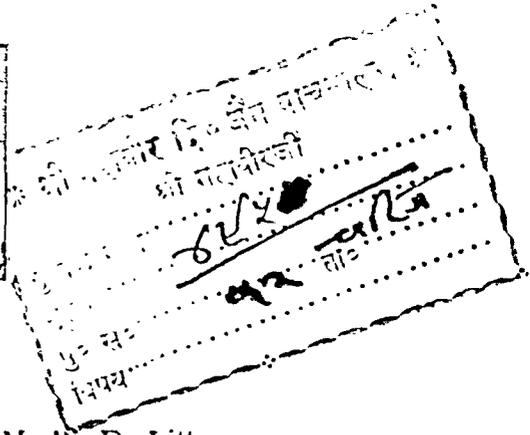
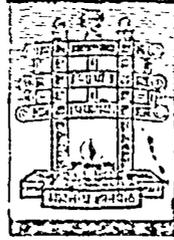
MAYAṆA-PARĀJAYA-CARIU

of
HARIDEVA

WITH

HINDI TRANSLATION

INTRODUCTION & APPENDICES



EDITOR

Dr. HIRALAL JAIN, M. A., D. Litt.

Professor and Head of Department of Sanskrit, Pali and Prakrit,
Institute of Languages Research, University of Jabalpur [M. P.]
Formerly, Director, Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa,
Muzaffarpur [Bihar]

Published by

BHARĀTĪYA JÑĀNAPĪTHA KĀSHĪ

First Edition }
600 Copies }

CHAITRA VIRA SAMVAT 2488
V. S. 2019
APRIL 1962

{ Price
{ Rs. 8/-

विषयानुक्रमशिका

आदर्श प्रतियोंका चित्र पृ. ३७ के सन्मुख	
१. प्रधान सम्पादकीय (अंग्रेजी-हिन्दी)	५-८
२. अंग्रेजी प्रस्तावना	९-३६
३. हिन्दी प्रस्तावना	३७-८४
(१) आदर्श प्रतियोंका परिचय	३७
(२) प्रतीकात्मक नाटक-परम्परा	३८
(३) प्रतीकात्मक कथाओंकी जैन-परम्परा	४४
(४) काम-सम्बन्धी काव्य-परम्परा	४९
(५) मयण-पराजय कथा-सार	५३
(६) मयण-पराजय की संस्कृत मदन-पराजयसे तुलना	५८
(७) कवि-परिचय	६०
(८) मयण-पराजयकी सैद्धान्तिक समीक्षा	६२
(९) मयण-पराजयकी कथा-वस्तुका आधार	६३
(१०) मयण-पराजय काव्यका स्वरूप, शैली व काव्यगुण	६७
(११) मयण-पराजयमें अलंकार	७०
(१२) मयण-पराजयकी छन्द-व्यवस्था	७१
(१३) मयण-पराजयचरितकी भाषा	७८
(१४) मयण-पराजयकी सूक्तियाँ	८१
४. हरिदेवकृत मयण-पराजय-चरित, हिन्दी अनुवाद और पाठभेद	१-५३
५. परिशिष्ट-कामकथा सम्बन्धी अवतरण	५५-७२
(१) अथर्ववेद-३, २५	५७
(२) सुत्तनिपात-पधानसुत्त	५७
(३) जातकट्टवण्णना-निदानकथा-मार पराजय	५८
(४) अश्वघोष कृत बुद्धचरित-सर्ग १३	५९
(५) ललितविस्तर-बोधिसत्त्व-प्रलोभन	६३
(६) कालिदासकृत कुमार-संभव-सर्ग २-३	६५
(७) ज्ञानार्णव-११ व २१	७०
६. अर्थबोधक टिप्पण	७३
७. शब्दकोश	८३
८. शुद्धि-पत्र	८९

GENERAL EDITORIAL

In 1948, the *Madana-parājaya* (Sanskrit) of Nāgadeva was critically edited, along with Hindi translation, by Prof. Rajakumar Jain and published in this very Granthamālā as Granthāṅka No. 1 of the Sanskrit Series. Now here is being presented the *Mayaṇa-parājaya-carīu* (in Apabhraṃsa) of Harideva critically edited with Hindi translation etc. by Professor Dr. Hiralal Jain. There is something very significant about the relation between these two authors and their works in which they have depicted the triumph of the super-man over the animal in man. Both Harideva and Nāgadeva come from the same respectable family, well-known for its piety, as well as physicians and poets. Harideva is a direct ancestor of Nāgadeva: the latter stands as the fifth lineal descendant of the former. Nāgadeva duly mentions that he is heavily indebted to his ancestor whose 'Prākṛit' work he has presented in Sanskrit. Such continuity of learning in the same family and redaction of an ancestor's work into Sanskrit are noteworthy events in the history of Indian literature.

The *Mayaṇa-parājaya-carīu* is a valuable addition to our knowledge of Apabhraṃsa language and literature. The Apabhraṃsa studies have started, so far as modern scholarship is concerned, in this very century; and during the last fifty years, they have not only assumed a definite shape and size, but also still hold a promise of lucrative results. Apabhraṃsa was used as a medium of popular poetry as early as the time of Kālidāsa, and there are evidences to believe that this language was cultivated as facile medium of poetry for bardic, amorous, epic and mystic songs throughout the length and breadth of the area of the Indo-Aryan languages, right from the 6th to the sixteenth century A. D. On the lap of Apabhraṃsa, and side by side with it, have grown and flourished many of our Modern Indian languages, such as, Rājasthānī, Bihārī, Braja (Hindi), Gujarātī, Bengālī etc., especially in their earlier phases. It is wellnigh impossible to study the growth of these languages without a thorough understanding of the Apabhraṃsa language with its regional variations. Some of the latest publications like the *Apabhraṃsa Sāhitya* by Prof. H. Kochhad (Delhi 1955) give us a fair outline of the Apabhraṃsa literature. But whatever is published is comparatively little in relation to what is still in Mss. and needs to be critically edited, studied and published. The wealth of linguistic and cultural material

available in Apabhraṃsa language and literature has a special value, not only for Indian linguistics in general, but also for the study of some of the Modern Indian languages.

We are extremely thankful to Professor Dr. Hiralal Jain for editing this work critically and presenting it here along with Hindi translation, Introduction etc. He is one of the pioneer workers in the field of Apabhraṃsa language and literature. His editions of the Apabhraṃsa works like the *Nāyakumāra-carīu*, *Karakaṇḍa-carīu*, *Sāvaya-dhamma-dohā* and *Dohā-pāhuda* are models of their kind. They are being studied in different Universities and have been a source of inspiration and instruction to a number of subsequent workers. His essays on Apabhraṃsa language and literature have been the veritable foundations of subsequent studies.

Dr. Hiralal Jain's introduction sheds manifold light on the growth of symbolic style in Indian literature and its use in elaborate allegories by Jaina authors like Haribhadra, Uddyotana and Siddharṣi. The biographical details about Harideva and Nāgadeva are duly studied; and their two works are compared and contrasted. The basic sources of Harideva are ably spotted out. The study of the *Mayaṇa-parījaya-carīu* as a Kāvya and of its figures of speech and metrical forms is thorough and highly useful. The linguistic analysis of the poem, though illustrative, is very significant; and students of Hindi language would derive great benefit from it. The learned editor has pointedly shown how certain items of style and expression are current in Hindi even to this day. The Appendices bring in one place the various extracts from different works which are used as a source for the material of the Introduction. The notes and glossary have very much heightened the referential value of the work.

We are very grateful to Shriman Shanti Prasadaji Jain and his enlightened wife Smt. Rama Rani Jain for their keen interest in the progress of this Granthamālā to which, quite generously, they are extending their patronage. The Granthamālā is thus able to render very useful service to the cause of some of the neglected branches of Indology. Thanks are due to Shri Lakshminichandra Jain who is doing his best to further the cause of the Granthamālā.

A. N. UPADHYE

प्रधान सम्पादकीय

सन् १९४८ में नागदेवकृत संस्कृत मदन-पराजय प्रो० राजकुमार द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित सुसम्पादित होकर इसी ग्रन्थमालाकी संस्कृत धाराके ग्रन्थाङ्क १ के रूपमें प्रकाशित हुआ था। अब प्रस्तुत ग्रन्थमें हरिदेवकृत अपभ्रंश मयण-पराजय-चरित प्रोफेसर डॉ० हीरालाल जैन द्वारा हिन्दी अनुवादादि सहित सुसम्पादित होकर प्रकाशित हो रहा है। मनुष्यकी पाञ्चविक वृत्तिपर परमात्म-वृत्तिकी विजयका प्रतिपादन करनेवाले उक्त दोनों ग्रन्थों और उनके कर्ताओंके परस्पर सम्बन्धमें एक बड़ी विशेषता है। हरिदेव और नागदेव, ये दोनों ही उस एक ही प्रतिष्ठित कुलमें उत्पन्न हुए थे जो कुल अपनी धर्मपरायणता तथा वैद्यां और कवियोंके जनयिताके कारण सुप्रसिद्ध था। हरिदेव नागदेवके साक्षात् पूर्वज थे और उनसे पांच पीढ़ी पूर्व हुए थे। नागदेवने स्पष्ट कहा है कि वे अपने उक्त पूर्वजके बड़े ऋणी हैं, क्योंकि उन्होंने उन्हींकी 'प्राकृत' रचनाको संस्कृत भाषामें प्रस्तुत किया है। एक ही कुलमें ऐसी विद्वत्ताकी अविच्छिन्न परम्परा व अपने पूर्वजकी एक रचनाको संस्कृत भाषान्तरमें ढालकर उपस्थित करना भारतीय साहित्यके इतिहासमें एक उल्लेखनीय घटना है।

प्रस्तुत मयण-पराजय-चरित अपभ्रंश भाषा और साहित्य सम्बन्धी हमारी जानकारीको बहुमूल्य वृद्धि प्रदान करता है। आधुनिक अनुसन्धानकी दृष्टिसे अपभ्रंशका अध्ययन इसी शताब्दीकी उपज है। गत पचास वर्षों में ही इस अध्ययनने न केवल अपना विशेष रूप और आकार धारण कर लिया है, किन्तु उससे भविष्यमें बहुमूल्य परिणामोंकी अपेक्षा की जा सकती है। प्राचीन कालमें कालिदासके समयसे ही अपभ्रंश लोकप्रिय काव्य-रचनाका माध्यम बन गया था। इस बातके भी प्रमाण मिलते हैं कि यह भाषा छठी शतीमें नोलहवीं शतीतक वीर गाथा, शृंगार रस, पुराण तथा अध्यात्म विषयक गीतोंका मुलभ और मन्दर माध्यमके रूपमें समस्त भारतीय आर्य भाषाओंके क्षेत्रमें अपनायी गयी थी। अपभ्रंशकी गोदमें ही और उसीके माध-नाय राजस्थानी, गुजराती, ब्रज और विहारी हिन्दी, बंगाली आदि अपनी आधुनिक भाषाएँ, दिनेपनः उनके आदिन रूपोंमें पली-पुसी हैं। इन भाषाओंके विकासका अध्ययन अपभ्रंश भाषा और उसके नाना क्षेत्रीय प्रकारोंकी जानकारीके बिना प्रायः असम्भव है। वर्तमानमें प्रो० ह० कोछड़ कृत अपभ्रंश-साहित्य (दिल्ली १९५६) जैसे कुछ प्रकाशनों-द्वारा हमें अपभ्रंश साहित्यकी रूपरेखा भले प्रकार ज्ञात हो जाती है। किन्तु जो कुछ अभी तक प्रकाशित हुआ है वह हस्तलिखित रूपमें पड़ा हुई तथा आलोचनात्मक रीतिसे सम्पादन, अध्ययन और प्रकाशनकी बाट जोहती हुई सामग्रीकी तुलनामें बहुत अल्प है। अपभ्रंश भाषा और साहित्यमें जो भाषात्मक व सांस्कृतिक समृद्ध सामग्री उपलब्ध है वह न केवल भारतीय भाषा-विज्ञानके लिए ही, किन्तु आधुनिक भारतीय भाषाओंके अध्ययनकी दृष्टिसे बड़ी बहुमूल्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थके सुसम्पादन और उसे हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना आदि सहित प्रस्तुत करनेके लिए हम प्रोफेसर डॉ० हीरालाल जैनके अत्यन्त आभारी हैं। वे अपभ्रंश भाषा और साहित्यके क्षेत्रमें एक उत्कृष्ट विद्वान् हैं। उनके द्वारा सम्पादित पाण्डु-चरित, करकण्ड-चरित, नादयधम्मसूत्रा और पाण्डुसूत्रा नामक अपभ्रंश ग्रन्थ अपने दंगके आदर्श हैं। वे नाना विश्वविद्यालयोंमें पढ़े-पढ़ाये जा रहे हैं और उनके लेखन गवेषकोंकी स्फूर्ति तथा उद्देशके स्रोत सिद्ध हुए हैं। उनके अपभ्रंश भाषा और साहित्य सम्बन्धी लेख परम्परा-कालीन अध्ययनके सार्थक मूलाधार बने हैं।

मयण-पराजय-चरित

और अति उपयोगी है। रचनाका भाषात्मक विश्लेषण दृष्टान्तात्मक होते हुए बड़ा महत्वपूर्ण है, और उससे हिन्दी भाषाके अध्येताओंका बहुत लाभ होगा। विद्वान् सम्पादकने विशेष रूपसे बतलाया है कि मैली और उन्नतकी कुछ विधाएँ आजतक भी हिन्दीमें वैसे ही प्रचलित हैं। परिशिष्टोंमें नाना ग्रन्थोंके वे सब अवतरण एकत्र कर दिये गये हैं जिनका प्रस्तावनाकी सामग्रीमें उपयोग किया गया है। अर्थबोधक टिप्पणों और शब्दकोश द्वारा ग्रन्थके उपयोगमें बड़ी सहायता मिलती है।

हम श्रीमान् शान्तिप्रसाद जी जैन और उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती रमारानी जीके बहुत कृतज्ञ हैं। वे इस ग्रन्थमालाके संरक्षण-संवर्धनमें बड़ी रुचि रखते हैं और उदारताका व्यवहार करते हैं। इसी कारण यह ग्रन्थमाला भारतीय तत्त्वज्ञान सम्बन्धी कुछ उपेक्षित शाखाओंके क्षेत्रमें बहुमूल्य सेवा-कार्य कर रही है। इस ग्रन्थमालाकी कार्योन्नतिमें ज्ञानपीठके मंत्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन जो परिश्रम कर रहे हैं उनके लिए वे हमारे धन्यवादके पात्र हैं।

—श्री० ने० उपाध्ये

INTRODUCTION

1. Critical Apparatus

The *Mayaṇa-parājaya-carit* (MPC) of Harideva is being critically edited and published here for the first time ; and this edition of it is based on three Mss : (I) *Ka* : A paper Ms. belonging to the Editor himself. It was copied by Harṣakīrti at Vijapāṭaka in Śaka 1465 or Saṃvat 1609. (II) *Kha* : This is a paper Ms. copied at Lahore by Rāmadāsa Jaiswāl in Saṃvat 1654. It belongs to the reign of Akbar and specifies the Ilāhī saṃvat 41. The concluding portion of this Ms. has a speciality of its own ; it stops at 2,78,2 with a few additional lines (see Text p. 51, footnote 2), and it is not unlikely that it possesses some genuineness. The subsequent portion appears to have been added later by the author himself or some one else to make the conclusion more attractive. (III) *Ga* : This is a paper Ms. beautifully written. The first folio is missing. No information is available about the place or date of copying and about the copyist. From its general appearance, it is the oldest of the three Mss. and can be assigned to the 15th Century of the Vikrama era, if not a little earlier even. All the three Mss. are written on paper in Devanāgarī characters. *Ga* is the oldest of the three ; and its readings agree more with those of *Ka* than with those of *Kha* : still they are independent in the sense that they are not the copies of each other. The text built from these three Mss, it will be seen, is not in any way unsatisfactory.

2. Symbolism and Sanskrit Plays.

Man has always taken pleasure in communicating to his fellow beings his experiences and thoughts ; but when these latter are no more present and belong to the realm of abstract, his expressions and characters take a symbolic shape. This is what is called *niksepa* in Jaina terminology. It is through four *niksepas*, namely *nāma*, *sthāpanā*, *dravya* and *bhāva*, that we convey our reactions to any reality by giving a name to it, by drawing a visible representation of it, by giving a concrete form to it and by stating the abstract ideas for which it stands. This is not as clear as personal experience, but still it goes a long way to help us to grasp reality from the experience of others. This symbolic communication has taken various shapes in human expression. The Vedic seers reacted to natural phenomena by glorifying them and attributing to them human qualities : they became objects of praise and worship. Further, the Brāhmana, Kṣatriya, Vākyā and

Śūdra were imagined to have originated from the mouth, arm, thighs and feet of the primordial being. (R̥gveda x-90.12) Going a step further, the *samsāra* was configurated as a Tree, on which two Birds, *hahirātman* and *Paramātman*, are seated, the former eating its fruits etc. and the latter just enjoying its sight etc. This symbolic characterisation gradually entered the dramatic performance; Patañjali refers in his *Mahābhāṣya* to the characterisation of Kāṃsa and Bali who are acting as it were in the living present. (*Mahābhāṣya* IV. 1.26) Within a couple of centuries, Aśvaghōṣa, as seen from the fragments of his plays, (Keith; *Sanskrit Drama* p. 84), introduces symbolic or allegorical characters of Buddhi (Wisdom), Kīrti (fame) and Dhṛti (firmness) conversing with each other; and Buddha also is introduced. This seems to be a remote beginning of the conversation between the real and the abstract (symbolic or allegorical) characters on the stage. Though specific dramas have not come to light in the intervening period, it is quite likely that there was a train of tradition from Aśvaghōṣa to Kṛṣṇamīśra to whom we owe a full-fledged allegorical play in the *Prabodhacandrodaya*.

Kṛṣṇamīśra was a contemporary of the Candella king Kīrtivarman of Jejakabhukti, of whom there is an inscription of A.D. 1098. He wrote his *Prabodhacandrodaya* for one Gopāla, possibly a general who restored Kīrtivarman after his defeat by Karna of Cedi (A.D. 1042). The play has six Acts, and is intended to defend the Advaita form of the Viṣṇu doctrine. The summary of the contents of this play may be reproduced here from the *Sanskrit-Drama* (page. 251 f.)

The supreme reality which is truly one, but is united with illusion, has a son, Spirit, who again has two children, Discrimination (*Viveka*) and confusion (*moha*); the posterity of the latter has largely gained in strength, and the position of the former and his offsprings is menaced.

This is told us at the outset of the drama by Love in converse with Desire; the former is sure he has done much to attain the result. The one danger is the old prophecy that there will arise Knowledge (*prabodha*) and judgement or Science (*Vidyā*) from the union of Discrimination and Theology, (Upaniṣad) but these two are long since parted, and their reunion seems unlikely. The two, however, flee before the approach of the king Discrimination who is talking with reason (*Matī*) one of his wives; to his joy he finds that she is all in favour of his reunion with Theology which she is fain to bring about,

In act II we find confusion in fear of overthrow; he hastens by the use of Falsity (*Dambha*) to secure Benaras as the key of the world; Egoism, grandfather of Falsity, visits the city and discovers to his joy his relative. Confusion enters in triumphant pomp his new capital; the materialist Cārvāka supports him. But there is bad news; Duty is rising in revolt; Theology meditates reunion with Discrimination; Confusion bids his minions cast Piety, daughter of Faith (*sraddhā*) in prison and orders Heresy (*mithyādṛṣṭi*) to separate Theology and Faith. In Act III Piety appears supported by her friend Pity; she has lost her mother Faith and is in sad plight, even dreaming of suicide, from which Pity dissuades her. In Digambara Jainism, Buddhism and Saivism she searches in vain for faith; each appears with a wife claiming to be faith, but she cannot recognise her mother in these distorted forms. Buddhism and Jainism quarrel; Saivism enters, makes them drunk with alcohol and pleasure, and takes them off in search of Pity, the daughter of Faith. In Act IV Faith in great distress tells of a danger; she and duty have escaped from a demoness who would have devoured them but for Trust in Viṣṇu, who has saved them. She brings a message to discrimination to start the battle. He musters his leaders, Contemplation, Patience, Contentment, and himself goes to Benaras which he describes. In Act V the battle is over; Confusion and his offspring are dead. But spirit is disconsolate mourning the loss of Confusion and Activity. The doctrine of Vyāsa, the Vedānta, appears, disabuses the mind of error, and he resolves to settle down as a hermit with the one wife worthy of him, inactivity. Act VI shows us the ancestor of all being; he is still under the influence of Confusion, who before dying, despatched to him spirits to confuse him, and his companion, Illusion, favours their efforts. But his friend Reasoning shows him his error, and he drives them away. Peace of heart reunites Theology and Discrimination; she tells of her mishaps with cult and Exegesis, Nyāya and Sāṃkhya, and reveals to Being that he is the Supreme lord. This, however, is also too much for his intellect, but the difficulty is cleared away by Judgement, which is the immediate supernatural child of the reunion of the spouses. The appearance of Trust (*bhakti*) in Viṣṇu to applaud the result terminates the drama. Thus the play presents the conflict of religio-philosophic concepts giving them symbolically the form of actors in the play.

of the Moḍha Bania caste. It was composed during the reign of Abhayapāla, who reigned after Kumārapāla from A.D. 1229-32, and enacted on the occasion of the festival of the idol of Mahāvīra at the Kumāravihāra temple erected by Kumārapāla at Thārāpadra. This play has five Acts, and all the characters, excepting Hemacandra and the Vidūṣaka, are personifications of good and evil qualities. The contents of the play are given by Keith thus : (Sanskrit Drama, p. 253 ff).

“The play begins with an invocation on three stanzas of the Tirthamkaras, Ṛṣabha, Pārsva and Mahāvīra, followed by the usual dialogue of the Sūtradhāra and the actress, his wife. Then are introduced Kumārapāla with the Vidūṣaka, to whom enter Jñānadarpaṇa, the Mirror of knowledge, the spy who has been sent to report on the affairs of king Confusion. He reports the successful seige by confusion of the city of Man’s Mind, whose king, Vivekacandra, the Moon of Discrimination, has been forced to flee accompanied by his bride Calm, and his daughter Kṛpāsundarī, in whom Compassion is incorporated, and of whose escape Kumārapāla learns with joy. The spy further reports a meeting with Kirtimanjarī, the Garland of fame, daughter of Good Conduct by his wife Polity, and herself wife of Kumārapāla. She complains that the king has turned from her and her brother, Pratāpa, Valour, owing to the efforts of a Jain monk. She has, therefore, sought the aid of Confusion and he is prepared to attack Kumārapāla. The spy, however, disappoints her by answering her inquiry as to the victory in the struggle by insisting that it will be Confusion that must fall. The king expresses his determination to overthrow Confusion, and the announcement of the hour of worship by bards terminates the Act.

An entracte then tells us through Puṇyaketu, the Banner of Merit, minister of the king, that Discrimination has arrived at the penance groove of Hemacandra, and has met the king who has looked favourably at his daughter. The Act itself shows us in the accustomed mode the king with the jester spying on Kṛpāsundarī and Somatā, gentleness, her companion, and ultimately speaking to them ; as usual the queen, Rājyasrī, the Royal Fortune, with her companion, Raudratā, Harshness, intervenes, and the king vainly craves pardon. In Act III Puṇyaketu overcomes the obstacle to the match by a clever device ; he stations one of his servants behind the image of the goddess to which the queen goes to seek the boon of the disfigurement of her rival, and thus, through apparent divine intervention, the queen is taught that by

marriage with Kṛpāsundarī alone can the king overcome confusion, and is induced to beg discrimination for the hand of his daughter. Discrimination consents, but insists that to please his daughter the seven vices must be banished, and the practice of confiscating the property of those dying without heirs shall be abolished, terms to which the queen consents. The king also agrees, and the Act ends in his action in foregoing the property of a millionaire believed dead, who, however, opportunely turns up with a new bride in an aerial car.

In Act IV we have the fulfilment of the pledge to banish the seven vices. It first tells us of the meeting of the Fortune of the city with that of the country; the former persuades the latter to accept the tenets of Jainism. Then appears Kṛpāsundarī who is annoyed by the noises of hunting and fishing, but consoled by the appearance of the police officer, who proceeds to the business of banishing vices. Gambling, Flesh-eating, Drinking, Slaughter, Theft and Adultery must depart, despite the plea that the kings predecessors permitted them, and that they bring revenue to the State; Concubinage may remain if she will. In Act V the king, armed by Hemacandra with the *yogaśāstra* which is his armour, and the *vitārāgastuti*, which serves to make him invisible, inspects the strong places of Confusion and finally rendering himself visible does the battle with the adversary and wins a great victory. He restores Discrimination to his capital and pronounces benediction in which the praise of the Jina and Hemacandra blend with the desire of close union with Kṛpā and Discrimination, and the hope that 'my fame, allied with the moon, may prevail to dispel the darkness of confusion.'

The allegorical pattern of plays has been adopted by some later authors as well to serve their sectarian purposes and religious propaganda. The *Saṅkalpasūryodaya* of Venkaṭanātha belongs to the 14th century. This is superior to the *Caitanya-Candrodaya* of Kavikarṇapūra which depicts the success of Caitanya in a prosaic and boring manner. Then there are two Saivite plays *Vidyā-pariṇayana* and *Jinanandana* to be assigned to the close of the 17th and beginning of the 18th century A. D. (Keith; Sanskrit-Drama p. 253 f)

One more allegorical play, which deserves our attention is the *Jñānasūryodaya Nāṭaka* of Vādicandra, a pupil of Trividyā-cakravartī Prabhācandra of the Mūlasaṅgha. It was composed at Meḍhūkanagara in samvat 1648, i. e. 1597 A. D. and enacted at the instance of Brahma.

Kamalasāgara and Brahma Kīrtisāgara who were the disciples of the author. The plot of the play can be summarised as below :

The Sūtradhāra and Naṭi had a conversation that people are by nature pacific ; due to some Karma or the other they are *confused* ; but like Jambūsvāmi, Sudarsana etc, they again try to attain peace. The eternal sentient Ātman had two wives, Sumati, (Good Intent) and Kumati, (Bad intent) from whom started two families : the former gave birth to Viveka, (Discrimination) Prabodha, (Enlightenment) Saṃtoṣa (Contentment) and Śīla (Good conduct) ; while the latter to Moha-Confusion or Infatuation, Māra-Cupidity, Kopa-Anger, Māna-Vanity, and Lobha-Greed. Insisted on by Kumati, Ātman gave his kingdom to Moha and Kāma, just in the wise of Dasaratha who acted on the advice of one of his wives and banished Rāma, giving the kingdom to Bharata. Hearing this conversation, Viveka solemnly declares that as long as he is there and is assisted by his dutiful colleagues Kṣamā-forbearance, Dhyaṇa-Meditation, Bhakti-Devotion, Dayā-Compassion and Indriya-jaya Sense-control, Moha can never get the kingdom. Viveka assures his minister Mati that Kali the minister of Moha can do no harm to them, because they are aided by eight yogas, Yama, Niyama etc. (Which are described in details in the manner of the Jnānārṇava). Further, he clarifies to Mati that Śīla, Kṣamā and Saṃtoṣa are more than a match for Kāma, Krodha, Lobha and Dambha who are fighting for Moha and who will ultimately take him to hell. (Here seven hells are described) ; and that a bad son like Kaṃsa, is a source of misery to the parents. Kāma contradicted him by saying that they were giving pleasure to the king and to the people at large. Viveka and Mati go out, and there follows a conversation between Kāma and Rati. Kama is proud of his influence that even Brahman, Parāsara, Vyāsa etc. were tempted to pleasures by him, and the seven Vyasanās on his side were strong enough to meet Yama, Niyama etc. May be that Prabodha etc. have a legal claim on the throne, but after all it is the rule of the stonger that ultimately prevails and Moha is aided by Māyā who has her influence on Hara, Hari etc. Māyā accepts to help Moha whom Vilāsa informs that she has already won over Brahman etc. Then Ahaṃkāra enters vaunting his power and assuring his aid ; he requests all to go to Vārānasi.

In Act II the spy Upadesa conveys to king Prabodha that gods Hari, Hara etc. have joined Moha. Samyaktva advises him to invoke

the aid of Dayā who is duly called by Satyavati, daughter of Kṣamā, who reported as critical the situation to the Arhat in Ayodhyā who asked them all to go to him for safety. Prabodha and his followers acted accordingly.

Then enters Kāli under whose influence Dharma was being banished, the wicked were growing powerful and all others were getting morally degraded. But as Prabodha had taken shelter of Arhat, Kāli became nervous and realized that Dayā was the strength of the other party. A plot was hatched to kidnap Daya through Himsa, the beloved of Krodha, and it was carried out successfully. Kṣamā started weeping over the loss of her mother and Śānti tried to console her. Then arrived Bauddhāgama who was consulted by Kṣamā and Śānti in the matter. Then came Yājñika, Naiyāyika, Brahmādvaita, Svetāmbara, Kūpālika and Vaishṇava, but they could do nothing for them to trace Dayā.

In Act III Prabodha's sister, Parikṣā, appears on the scene and tells Kṣamā that it was fruitless to search for her mother Dayā among heretics, and that she could be found only in the heart of Digambara monks. Both Kṣamā and Śānti interviewed her there, Dayā reported how Himsā forcibly abducted her and how it is Vāgdevī sent by Arhat that rescued her. As directed by Vāgdevī, Dayā accompanied by Śānti went to king Prabodha who sent back Kṣamā and Parikṣā to Vāgdevī. Prabodha, on the advice of Viveka, sent his messenger Nyāya to Moharāja giving the latter an ultimatum that either he should quit the hearts of greatmen and the kingdom of Vārāṇasi or be ready for a battle. On hearing the message from Nyāya, who was ushered in by the waiter Adharma, Moha got angry, his eyes, Rāga and Dvesa, burnt red and the seven Vyasanas rushed to strike the messenger. Moha stopped them, but being infuriated by Ahankāra, he resolved to be the master of Vārāṇasi by force. Nyāya returned and requested Prabodha to declare his royal emblems; not the paṭṭabandha and Camara which could be the instruments for injury, but 'Salutation to true god' 'Devotion to true scripture' and 'Supporting the dependents' are the true emblems. War drums were beaten. Samyaktva and other soldiers were ready, Kṣamā and other Vidyādharis got into the aerial cars. Samyaktva and others mounted the lion of Syādvāda—with this army Prabodha, ruler of Vārāṇasi, saluted the temple of Jina there from a distance and camped on its frontier. Maitri could not stand the impending calamity and

proceeded to Sammetasikhara. The success on the side of Prabodha was partial; so he fell in a swoon, but Jinabhakti restored him to senses. Lobha, irritated by the loss of his sons, fought a severe battle, but was finally killed by Saṃtosa. Instigated by Moha. when Sapta Vyasanās, Bauddha, Svetāmbaras, Cārvāka etc. began to fight meanly, the Tarkavidyā routed them. Saugatas flow to Simhala, Pārasika and other countries; Svetāmbaras, to Saurāstra, Marusthala, and Gurjara countries, Mimāṃsakas to Gangāpāra, Kuṇḍikaṇa, Tilanga and other Mleccha countries. Under the circumstances Moha ran away with Kali from Vārāṇasi and remained hidden. Manas, the father of all these, fell in a swoon; in order to create renunciation in him, Maitrī was sent to Anupreksā. She gave a letter to him from Vāgdevī. Manas felt sorry on the ruin of the lower instincts and was ready to plunge into the ocean; Just then Anupreksās came and Vairūgya was born. Manas welcomed Vairūgya as the son. Anupreksā asked Manas to treat Nivṛti as his beloved, Prabodha etc. as sons, sama, dama etc. as attendants, as a consequence of which Puruṣa will be Jīvanmukta.

In Act IV Prabodha sends Śraddhā to get the Aṣṭasatī from Vāgdevī and he has become indifferent to his wife Kumati and more attached to Sumati. Puruṣa extols the step of escaping from Saṃsāra and getting Liberation through the favour of Arhadvāṇī. Aṣṭasatī complains how so long she was neglected because of Kumati and Moha. Kṣamā pointed out to Prabodha how Aṣṭasatī was dwelling in the mouth of Pātrakesarī scared by Kutarkavidyā. Aṣṭasatī apologised to Puruṣa for being after heretics for a long time; she clarified how she had stood for Anekānta while Sāṅkhya vidyā, Bauddha-vidyā, Mimāṃsā, Nyāya-vidyā stood only for one form or the other of the Ekānta. She was developed into Aṣṭasahasrī-in the mouth of Pātrakesarī. She explained to Puruṣa who Arhat was and how on the destruction of Various Karmas self-absorption and self-realization became possible. Dhyāna then takes possession of Puruṣa who by the practice of fourfold meditation destroyed the fourfold Karma and attained Kevala jñāna. Vāgdevī inquired what other benefit she could bestow on him. She directed him to practise Sukladhyāna and destroy the rest of Karman with a view to attain liberation, which he accepted.

It will be seen, in this drama, that all the actors are ethical, religious and philosophical concepts of Jainism where in the author shows that Ahimsa is supreme and which, as a religion of Anekānta, is superior

to other systems which stand only for Ekānta. Even texts like the Aṣṭasatī are given role in the play. There is very little of truly dramatic element in this play which consequently has become a religic-ethical treatise carefully and elaborately worked in the back-ground of Jaina doctrines.

3. Allegorical Tales in Jaina Literature

The Ardhamāgadhi canon contains numerous contexts in which we get symbolical episodes which are made to serve the medium of religious preachings. The Uttarādhyayana-sūtra has many such sections. There is the Parable of the Ram. Somebody brings up a young ram, feeding it fat and pulpy. As long as no guest comes, the poor animal lives. But as soon as a guest arrives, its head is cut off and it is eaten. As this ram is well treated for the sake of a guest, even so, an ignorant, great sinner lays as it were for life in hell (VII. 1-4). Then there is the parable of three merchants. Three merchants set out on their travels, each with his capital. One of them gained there much, the second returned with his capital, and the third merchant came home after having lost his capital. When applied to Dharma, the capital is human life, the gain is heaven; through the loss of that capital, man must be born as a denizen of hell or a brute animal (VII. 14-16). Then we have metaphorical contexts where abstract concepts are given the form of concrete objects of every day life; 'Making Faith his fortress, Penance and Self-control, the bolt (of its gate), Patience its strong wall, so that guarded in three ways it is impregnable; making Zeal his bow, its string Carefulness in walking (iriyā) and its top (where the string is fastened) Content, he should bend (this bow) with Truth, piercing with the arrow, Penance, (the foe's) mail, Karman—(in this way) a sage will be the victor in the battle and get rid of the Saṃsāra. (IX. 20-22). 'As when by a conflagration of a forest animals are burned, other beasts greatly rejoice, being under the influence of love and hate (rāga and dveṣa); even so we, fools that we are, being attached to pleasure, do not perceive that the world is consumed by the fire of love and hatred. (XIV-42-43). 'If you take two clods of clay, one wet, the other dry, and fling them against the wall, the wet one will stick to it. Thus, foolish men, who love pleasure, will be fastened to Karman, but the passionless will not, even as the dry clod of clay does not stick to the wall. (XXV. 42-5) These symbolic presentations or metaphors are rather casual, and have not assumed the form of an instructive tale. In the Sūtrakṛtāṅga (II. 1), however, there is a full-blown allegory with an elaborated explanation of it.

There was a lotus pool, full of water, and with delightful white lotuses scattered on all the sides. Right in the middle grew one tall, splendid, white lotus. Men from East, South, West and North were captivated by it; and with a view to fetch it they entered the pool. More they proceed, more seemed the water and mud, and they got stuck in the middle. Then there arrived a meanly fed monk; he saw the lotus and also the plight of those four persons. He observed that these persons were ignorant of the way of getting that lotus and that is why they suffered. He just stood on the bank and raised his voice asking the lotus to fly up, and surprisingly, the lotus actually flew up to him. Then Mahāvira explains the meaning of this episode. The lotus-pool is the world, and Karma, the water. Worldly pleasures and amusements are the mud, and various people, the lotuses. The splendid white lotus is the king. These four men are the heretical teachers who try to convert the king, but fail in their attempt. The meanly fed monk stands for the true Religion, and the bank on which he stands is the Dharmatīrtha. His voice is the Dharma-kathā, and the flying up of the splendid lotus is the Nirvāna. In continuation of this allegory, the various doctrines are explained and criticised by Mahāvira.

The Nāyā-dhammakabāo, the sixth Aṅga of the Canon contains mostly tales of this type which lay more stress on some parable incorporated in them than on the tale itself; some are indeed just parables spun out and enlarged to form narratives. One can be summarised here by way of illustration.

The merchant Dhana and his wife Bhadrā from Rajagrha had four sons, Dhanapāla, Dhanadeva, Dhanagopa and Dhanarakṣita, who had their wives Ujjhitā, Bhogavatī, Raksikā and Rohanikā respectively. In order to put the daughters-in-law to test as to how they can manage the household, Dhana gave each of them five grains of rice with orders to preserve them carefully until he shall ask for them back again. Ujjhikā throws the grains away and thinks to herself "There are plenty of grains of rice in the larder; I shall give him others instead. Bhogvatī also thinks in the same way, and eats the grains. Raksikā preserves them carefully in her jewel-casket, thinking that the father-in-law must be having some remote object in asking her to preserve them. The fourth daughter-in-law Rohanikā thought like Raksikā, but she plants the grains and reaps; she again sows the harvest and reaps again, until at the end of five years she has accumulated a large store of rice. When the merchant asked them to return the five grains, their behaviour was

exposed. He punishes the first two daughters-in-law, assigning them the meanest tasks in the household ; he entrusts the third one with the guarding of the entire property ; but he gives the entire management of the large household into the hands of the fourth daughter-in-law. Sudharma explains to Jambu that these four women represent the monks some of whom do not keep the five great vows at all, others neglect them, the better ones observe them conscientiously, but the best of whom are not content with observing them, but propagate them also.

The style of Symbolic narratives in the Canon has attracted many a subsequent author of note and has become more and more popular in later literature. One comes across many tales of this type in the Vasudevahiṇḍī, an elaborate Kathā in Prakrit (c. 6th century A. D.) of Saṅghadhāsa. Haribhadra's Samarāicakabhā (9th century A. D.) is veritably a symbolic tale in which it is demonstrated how one soul, under the influence of passions, goes down and down to hell and how another, due to auspicious pariṇāma, goes to better and better grades of existence. In both these texts, we get the parable generally known as Madhubindu dṛṣṭānta in Jaina literature and 'Man in the Well' in world literature which is as follows :—

A poor man proceeded in search of fortune to a distant country. He lost his path in a dense forest, and started moving helplessly in search of food and drink. Just then he found himself pursued by a wild elephant and right in front a demoness of fierce appearance. In his attempt to save himself, he saw a lofty Vāṭa tree which he wanted to climb, but the trunk was too big for him. The elephant was on him. Just then he jumped into an old well, wherein he got the support of a clump of reeds to which he kept clinging. As he looked below, he saw four deadly cobras infuriated and about to bite him. In the centre there was a boa-constrictor with its mouth wide open. When he looked up, he saw one white and one black rat gnawing the roots of the clump of reeds. The wild elephant dashed against the Vāṭa tree. The honey-bee which it was disturbed, with the result that the honey-bees began to hover round him. Just then, by chance, fell on his head and trickled down into his mouth a few drops of honey which he licked and desired for more. He felt a little pleased by licking the drops of honey even in the face of many dangers. The parable is intended to remove the affliction of persons destined to be liberated. Its Upaniṣadic or philosophical sense is thus :

The man stands for the soul ; the wandering in the forest for the wandering in the four grades of saṃsāra ; the wild elephant is the death ; and the demoness, the old age. The Vata tree stands for liberation ; the well, the human existence ; the snakes, the four passions. The clump of reeds stands for the period of one's life ; the two rats, the white and dark for nights. The honey-bees are the various diseases ; the boa-constrictor is the hell ; and drops of honey stand for momentary sense-pleasures. (see Samarāicakāhā II Bhava)

This very style is further enriched by *Uddyotanasūri*, *Dākṣiṇya-cikna* who completed his Prakrit Kathā, *Kuvalayamālā* in A.D. 779. He refers to Haribhadra as his *Siddhāntaguru*, and there is no doubt that he has followed the model of his teacher. The *Kuvalayamālā* is a merited composition, and one relished it like the *Kādambari* of Bāṇa ; but its speciality is that it is a dharma-kathā. The hero is *Kuvalayacandra*, who was *Mānabhaṭa* in the past ; and the heroine is *Kuvalayamālā*, who is, *Māyāditya* of past life. Their other Colleagues of the past are *Caṇḍasoma*, *Lobhadeva* and *Mohadatta* who on getting religious enlightenment had agreed to enlighten each other in future births to enable all to attain liberation. It is a magnificent symbolic narrative to illustrate the effects of the four Kaṣāyas and *Moha* and to show how one can avert their consequences.

Perhaps the most superb model of this allegorical exposition is the *Upamiti-bhava-prapañcakathā*, in Sanskrit, of *Siddharṣi* who completed it in 906 A. D. The author mentions in his genealogy of teachers the names of *Suryācārya* of the *Nirvṛtti-kula*, *Dellamahattara* and *Durgasvāmin*, a wealthy Brahmin who had become a Jaina monk, and who died at *Bhillamāla*. He mentions *Ācārya Haribhadra* as his 'dharma-bodha-karo guruḥ' and has further added that *Haribhadra* composed his *Lalita-vistar* on the *Caitya-vandanā* for the benefit of him (u. *Siddharṣi*) who was to come in future. This makes the position clear that *Haribhadra* was not his immediate teacher, but flourished long back earlier than him. He has derived the greatest inspiration from the writings of *Haribhadra*. He refers to the *Samarāditya-kathā* which has served as a model for him. The following summary of this work is adapted, with minor changes, from *the history of literature* by M. Winternitz (II, pp. 528 f).

In the city of *Adrṣṭamūlaparyanta*, there lives an ugly and ailing beggar called *Nishpunyaka* (Virtueless). The wretched food which he got hardly satisfied his hunger and only increased his illness. One day

he could get himself admitted in the palace of king Suthita, where the cook Dharmaprabodhakara and his daughter Taddayā gave him tasty and curative food (Mahākalyāṇaka), treated him with the eye-salve Vimalaloka and the mouth-lotion Tattvapṛītikara. Little by little he is cured, but for a long time he is unwilling to give up his old bad diet. That cook engaged Sadbuddhi (True Insight) as his nurse; gradually he gave up his old habits and Niṣpuṇyaka became Supuṇyaka.

He is now desirous of making this wondrous remedy available to others too; but the people who had previously known him, do not want to listen to him. Sadbuddhi advises him to place the three remedies in a wooden bowl and place it in the courtyard of the royal palace, so that every one may help himself. In conclusion, the key to the allegory is thus supplied. The city is Saṃsāra; the beggar, the poet himself; the king, the Jaina, and his palaces, the Jaina religion; the cook, his teacher, and his daughter is the great pity extended to the poet. Knowledge is the eye-salve, the true faith is the salutary lotion, and the good life is the best diet. It is Sadbuddhi which allows one to find the path of virtue, and the wooden bowl with the food, the lotion and the eye-salve is the following story:—

There is a city 'Way of Man' (Manuja-gati), which has been in existence since all eternity, and in which, as in the narrative of Samarāditya, many events take place. The mighty king Karmaparīṇāma rules there relentlessly. For his own entertainment he has the beings who act the drama of the world-wandering (Bhava-bhramāṇa), wearing the most diverse masks. He makes them scream as denizens of hell, dance before him in agonies of pain, act the parts of various birds and beasts, large and small animals of all kinds; whilst others again are compelled to act human roles, such as hunchbacks and dwarfs, dumb and blind men, old men and invalids, the unfortunate, persons separated from their dear ones, poverty-stricken persons and tormented ones, as faithless women, ignoble men etc. And this drama amuses the mighty king immensely. The king seeks advice of his principal wife Kālaparīṇatī 'Effect of Time' who too takes great delight with her husband in this drama. She wishes for a son and a son is born whom the father names Bhavya-puruṣa and the mother, Sumati. Now in that city of 'Way of Man', there lives a great sage named Sadāgama, the true doctrine. The king is very much afraid of this man, because he spoils the king's drama, as he has already liberated many of the

actors and taken them to a city called Nirvāṇa situated outside the realm, where they live in the greatest happiness. Nevertheless the female attendant 'Rich-in-Insight' (Prajñā-visāla) succeeds in effecting a meeting of the prince with Sadāgama. The parents agree that the boy might be educated by Sadāgama. Once, when Sadāgama is reciting his doctrines on the market place, a great tumult arises. It is seen that the thief Samsāri-Jīva is being led to the judgement seat. 'Rich-in-Insight' takes pity on the thief, and advises him to seek the protection of Sadāgama. The executioners have to release him, and he now relates his experiences for the instruction of 'Rich-in-Insight' and prince Sumati. Now there follows the story of the Samsāri-jīva.

He relates how he was first of all born as a plant among the Sthāvara beings, how he came to the city of Ekendriya and wandered through the lowest organisms, the earth bodies etc. and suffered many sorrows and torments. He was then reborn among the various animals from the very lowest insects, worms etc., up to the elephants. At length he was reborn in the world of human beings as Nandivardhana, a king's son. Though he had an invisible friend Punyodaya to whom he owed many successes in life, yet his most intimate inner friend was Vaisvānara, ie. 'Fire-of-anger'. This friend always supplied him with the pill 'Cruel Thoughts.' For this reason the efforts of excellent teachers and counsellors, such as the sage Vidura, to improve him, were fruitless. The influence of Vaisvānara grew even stronger, when he succeeded in marrying him to Himsā, the daughter of king Duṣṭābhisandhi and the queen Niṣkaruṇā..... Under these environments, he kills innumerable wild animals in the chase, but also wins great fame in fight with robbers and foes. After many adventures, he becomes a king. Under the influence of his evil 'inner' friends, he perpetrates many cruelties, killing his kith and kin. He flees and meets a young man; a quarrel ensues between them, the result of which is that they pierce each other with their swords. Thereupon both of them are reborn in the 'Abode of the worst sinners', and after that, as lions, falcons etc., always as foes. At last Samsārijīva comes into the world as a prince again, prince Ripudāraṇa. Now it is 'Pride' and 'Falsehood' that become his friends, and they exert paramount influence over him, so that Punyodaya does not stand much chance against him. After his father has become a monk, he becomes king, refuses to pay due respect to a ruler of the world, is humiliated by a sorcerer and slain by his servants. In the subsequent rebirths, he pays the penalty of his misdeeds in hell and as

animals, until he is once again reborn among human beings, this time as the merchant prince Vāmadeva. 'Falsehood' 'Deceit' and 'Theft' are now his friends. He robs a merchant, is hanged, and is then again reborn in hell and in the animal world. After a long time he again makes his appearance in the world as the son of a merchant, his inner companions now being Punyodaya and Sāgara. Through the latter he acquires enormous wealth. He makes friends with a prince and goes on a sea-voyage with him. In order to secure the riches of this prince, he wants to kill him. The sea-god, however, rescues the prince, and throws the merchant into the sea. He is cast up on shore, wanders about in a wretched condition, and finally, when he wants to bury a treasure, he is devoured by a Vetāla. More rebirths in hell and in the animal world follow. Reborn as prince Ghanavāhana, he grows up with his cousin Akalaṅka. The latter becomes pious Jaina, and through him Ghanavāhana, too, comes into contact with Sadāgama. But Mahāmoha, 'Great Infatuation', and Parigraha, 'Longing-for-possession' also seek his friendship and finally obtain complete mastery over him. Hence he becomes a violent ruler, is deposed and perishes miserably. After many rebirths in hell and in the animal world, he is at length reborn in Sāketa as Amṛtodara, and now begins Samsāri-jīva's ascent—higher forms of existence. He is converted to the Jaina faith and attains to the world of gods and of man, by turns. Reborn as king Guṇadhāraṇa he is reunited with Sadāgama and Samyagadarsana, (Right Faith); he becomes a pious layman and a good ruler, especially after he has brought home the ten virgins Kṣānti, Mṛdūtā etc. as brides. At the end of his life, he becomes a monk, and is then reborn alternately as god or man. Finally, in his last incarnation Samsāri-jīva is the world ruler Anusundara. Now at length the retinue of the 'Great Infatuation' is powerless, and only the good qualities are his inner companions; he attains to the highest knowledge, and remembers his former existence. Now, in the form of the thief condemned to death, he relates his fortunes in the cycle of rebirths. Then he becomes absorbed in meditation, and rises, as a god to the highest heaven.

This is a bare outline of the narration of the spiritual allegory of Siddharṣi. The original narrative is presented in simple and sweet Sanskrit; and is, further, highly elaborate, interwoven with numerous stories and sermons. It is a remarkably successful effort to harness the entire range of Jaina doctrines in this pattern of the allegory. It is difficult to be appreciated by those who are not conversant with Jaina

concepts ; but after reading this, one is reminded of John Bunyan's *Pilgrim's Progress*. This allegory in English also aims, like Siddharṣi's composition, for the spiritual betterment of the worldly soul.

4. Kāma in Kāvya—tradition

Kāma and Rati have no place in the galaxy of natural forces raised to the status of gods in the Ṛgveda, though in the 10th Mandala there is a casual reference to Kāma as the *seed* or semen of the mind. The arrows of Kama are referred to in the Atharva-veda (III, 25, 2). A lover is seen praying for winning over his beloved ; and in that context he wants the terrific arrows of Kāma to pierce the heart of the beloved in such a way that she should leave her paternal home and come to him. Here he is not represented as a god, nor any special stress is laid on abstention from Kāma as a passion. It is in the Śivapurāṇa etc. that we get details about the origin of Kāma etc.

The Vedic saint was a gṛhastha with a family and household. Śramaṇa was free from the ties of the household and family, in as much as Śramaṇic culture has laid special stress, almost from the beginning, on abstention from sex pleasures and on the practice of the vow of Brahmacharya. A Śramaṇa, obviously, has to struggle internally for a triumph over sex instinct. It is by succeeding in this struggle and against other Karmic forces that a Jaina monk becomes Vitarāga. It is in this context that Buddha came to be Māra-(smāra, from smara-Kāma-deva) Jita. In Buddhist literature, there are many contexts in which Māra presents himself as a man, Yakṣa or Rākṣasa before Buddha and there is a conflict between the two. Buddha always runs down Māra and routs his army with appropriate arguments and rebukes. Māra struggled to win over Buddha for nearly seven years, but without success. In the Jātakatṭha-vaṇṇana (Nidāna-kathā, C. 4th to 5th Century A. D.), there is a detailed graphic description, how Māra is defeated by Buddha aided by Ten Pāramitās (see the Appendix). Asvaghōṣa presents a graphic feature of the defeat of Māra by Buddha in his Sanskrit Kāvya, the *Buddhacarita* (canto XIII). Buddha has resolved to attain Bodhi, and is seated under the Aśvatha tree in meditation. It was a joy for gods and men ; but Māra was afraid of his proposed achievement which would make his kingdom quite desolate. Māra decided to dislodge Buddha from his vow, and approached him with an attack of his flowery bow and arrows, and with his sons and daughters tempting him. His attack had no effect, unlike on Śambhu. He then invoked his army of

Bhūtas, equipped with various weapons, who surrounded Buddha to the consternation of even natural environments. The Bhūtas could not terrorise Buddha. A voice from heaven dissuaded Māra from his violent ways. Mara's followers fled away on hearing this. Buddha came out victorious, and there was a shower of flowers from heaven. (See Appendix).

In the *Lalitavistara*, which is a Mahāyāna text giving a biography of Buddha we get a catching context how Māra tried through his daughters to disturb Buddha. In the tempting atmosphere of the vernal season, these girls tried to allure Buddha in meditation; but he replied to them in an effective manner that enjoyment of pleasures only enhances further thirst for them. They played all womanish tricks, and Kāma too did his best to tempt him; but they could not succeed. Buddha did achieve Bodhi despite all these distractions. (see the Appendix).

Kālidāsa has described in his *Kumārasambhava* how Śiva burnt and reduced Madana to ashes. Being menaced by Tāraka, the gods approached Brahman for a deliverer. But the latter could not afford any aid, for he himself had given him protection; even a poison tree cannot be cut down, if one has reared it oneself. Brahman asked them to go to Śiva, now in meditation, and if Umā could win him, from them will spring a deliverer. The services of Kāma were secured by Indra to win Śiva's heart for Umā. Kāma is ready with spring and his wife Rati as his comrades. New life and love are awakened in nature by the advent of spring with Kāma, but the sight of Śiva, sunk in deep and motionless meditation, makes even Kāma hesitant. But Umā with her friends appears, and Śiva is begged to respond to their devotion. He feels himself strangely moved, and glancing, sees Kāma on the point of discharging at him his deadly arrow. One fiery glance from the God's eye reduces him to ashes. Rati laments pathetically for her dead husband. She will not accept the consolation urged on her by Spring; instead she bids him heap the pyre so that she might follow him in death. A voice from the sky, however, assures her of reunion with her husband when Śiva shall have taken Umā as spouse. In sorrowful hope Rati continues her life.

5. Contents of the *Mayaṇa-parājaya-cariu*

After offering salutations to Paramātman, the author announces his object to present the fight between Madana and Jinendra, then gives

a few details about himself (see elsewhere) and is modest about his literary and poetic abilities.

King Makaradhvaja was ruling at Bhavanagara (Town of worldly existence). His chief minister was Moha ; and his two queens were Rati and Pṛiti. His Durbar was attended by warriors like Śūlya, Gāraṇa etc. Kāma started vaunting whether he had not brought anybody under his control. This was an irritating amusement to Rati and Pṛiti who started looking at each other. Kāma added further that he wondered whether there was any woman outside the three worlds who was not attracted to him. Rati pointed out to him that Siddhi, a maiden dwelling in the eighth Bhūmi, was not attracted to him. Kāma insisted on Rati to bring Siddhi to him, and at last she had to yield to his request. Rati was proceeding on her mission, but Moha, who met her on the way, brought Rati back to Kāma saying how there was every danger for Rati being ruined on the way by Nirveda and how it was settled that Siddhi would be wedded to Jinendra. Kāma was infuriated at this and decided to go personally on this expedition, equipped with his bow and arrows. Moha was helpless at Kāma's obstinacy, and he advised the latter to send a spy to Jinendra and get the requisite information. He also pointed out how Jinendra too was living formerly in the Bhavanagara and was attached to pleasures ; but, lastly, being disgusted with things here, has left for Cāritrapurī, just with three Ratnas ; and there has been a good gathering of Five Mahāvratas, seven Tattvas, Ten Dharmas etc. aiding Jinendra to carry on his Taporājya (kingdom of Austerities). Rāga and Roṣa were sent as messengers to Jinendra with a message that either he should accept his suzerainty or be ready for fight.

On receiving the message, Jinendra definitely refused to be tempted by the advantages under Kāma. He would soon get wedded to Siddhi and enjoy self-dependent happiness, but he would not be a victim to Kāma like other gods. The threats of the messengers had no effect on Jinendra, Nirveda expelled them from there ; and they reported the matter to Kāma.

Seeing no other alternative, Kāma became ready for battle. He collected great warriors like five Indriyas, Seven Vyasanas etc. Moha, who was a terror even to the gods, was appointed the chief commander and necessary attendants were given to him. Mithyātva also said that he would be able to conquer Jinendra, but Moha would not concede any credit to him.

On the other side, Jinendra ordered Samvega (liking for Religion) to prepare for the battle. Five Samitis beat the war drums whereby warriors like Mahāvratas, Dharmas, Tattvas etc. were ready, Samyaktva was appointed the commander-in-chief, Jinendra's paraphernalia was worth seeing. The Labdhis constituted the flags and Syādvāda, the war trumpet. He was driving on the elephant of Kṣāyika-darsana; twelve Anuprekṣas were his armour and Samādhi (meditation) was his mace. Bhavyas greeted him; people offered oblation of *Mithyā-drṣṭi*; Sarasvatī recited maṅgala verses; and Dayā blessed him. Samjvalana thought that he had no scope any more; and he advised Kāma not to fight, but rather get away. But Kāma would not accept his advice. On the other hand, he ordered Moha to give a desperate fight: and in the event of defeat, he would enter fire. Moha praised Kāma's greatness and assured him that Jinendra would be arrested and put into the prison of seven Vyasanas. Kāma instructed Śṛṅgāra to bring Jinendra to him and that he would be duly rewarded. Śṛṅgāra approached Jinendra and tried to induce him to submit to Kāma; but Samyaktva turned him saying that he and his warriors were quite able to meet and defeat Mithyātva and his aides. Nirveda disgraced Śṛṅgāra and drove him out. Śṛṅgāra returned to Kāma, and all the people laughed at his plight. Śṛṅgāra confessed that he had learnt a lesson, and it was for others to decide on their course of action. Kāma was not discouraged and he started for the battle. He faced certain ill omens. The two armies faced each other.

Rati felt nervous and requested Kāma not to take risk of fighting Jinendra and securing Siddhi, but be satisfied with what he had. Kāma said that he was bent on teaching a lesson to Jinendra who had stolen three jewels, illtreated the messenger, and is ready to fight. Just then the Band drew the attention of Kāma to Jinendra, and his companions like Samyaktva, Samyama, five Vratas etc. The battle started in right earnest. Mithyātva discharged his arrows which created great confusion in the army; and this made Brahma, Indra and other gods to start discussing the pros and cons of the struggle. There was a hand-to-hand fight between Samyagdarsana and Mithyātva. They exchanged their various arrows, and finally the arrow of Tattvaruci laid Mithyātva dead on the ground. The death of Mithyātva caused great sorrow. Then Moha faced Jñāna and Darsana. Jinendra got the advice that his army was partly routed because the army was defectively arranged on the Upsama-sreṇī pattern, while as a matter of

strategy it should be on the Kṣāyika pattern. Jinendra did accordingly, and his army now became more firm.

Moha and kevalajñāna had a grim struggle, and the arrows of Pāpaprakṛti showed adverse effect on the latter. But soon by the arrows of Pañca-cāritra not only the table was turned, but Moha was laid prostrate. He mustered strength and used his sword of Anācāra, but Jñāna faced it with anukampā and cut the head of Moha who fell dead on the ground. At this, Kāma was warned by the bard to retreat for his safety, and Rati and Priti endorsed the same, lest they might be widowed. Kāma was vain about his success against various odds so he would not hear their advice. He mounted the elephant, Mada by name, and stood before Jinendra asking him to fight against him before he could wed Siddhi. There was a challenging conversation between the two, each asserting his strength. The duel started. Kāma's elephant Mada marched against Jinendra, but was crushed by the latter with the pestle of Samabhāva. Rati was nervous and requested Kāma to go back, but there was hardly any margin for him to do so. The five Mahāvratas crushed the five Indriyas. The attack of Kevalajñāna simply routed the forces of Kāma. The remnant of the Kṣiṇamoha was to be destroyed after which alone marriage with Siddhi was possible. In the meanwhile Moha asked Kāma to secure the missile of Asani which rushed ruining every thing. But Jinendra over-powered it with various Vratas and Penances. Kāma fled, and Moha was crushed by Dhyāna. Kāma was defeated and Jinendra wore the ornament of Kevalajñāna. So there was no hindrance to Jinendra marrying Siddhi. The gods and nymphs arrived there in festivity, Samavasarana was arranged and various rituals were fulfilled by Sūkladhyanā, Tapassri etc. Thus the marriage of Jinendra with Siddhi was celebrated in great pomp. When Jinendra started to Mokṣa for honeymoon, on Tapassri's request he sent Viṣabhasena for the protection and upkeep of the Cāritranagara against the mischiefs of Kāma.

6. The Author of M.P.C.

The M.P.C. and the Sanskrit MP supplement each other in details about their authors and their family. (1) Caṅgadeva belonged to the Sūrya Vamśa, and he was quite generous; (2) He had five sons: Kimkara, Kṛṣṇa, Harideva (the author of the Apabhraṃśa text, and the name of his mother was Citrā), Dvijapātī and Rāghava. Harideva was an outshining poet; and he had a son (3) Nāgadeva, who was an efficient physician, had two sons Hema and Rāma, both of whom were

good physicians. Rāma had a son Priyaṅkara who was loved by the needy. Priyaṅkara had a son Mallugi who was learned, a pious Jaina and an expert in diagnosis, and he had a son Nāgadeva, the author of the MP, who modestly says that he was not in any way learned, but just composed in Sanskrit for the religious benefit of the pious, what Harideva had already written in Prakrit. Thus we see that both Harideva and Nāgadeva, the authors of the Apabhraṃṣa and Sanskrit works, belonged to the same family, with eminent physicians and poets, and the latter forms the sixth generation from the former.

No clue is available either from the Apabhraṃṣa or the Sanskrit Text for fixing their dates: so some other external evidence has to be sought in this context. As shown elsewhere, Harideva is indebted to the Jñānārṇava, which refers to Samantabhadra, Devanandi, Akalaṅka and Jimasena, a Ms. of which dated Samvat 1248 (—57), A. D. 1191 is available in Pattan, and the author of which is by tradition associated with king Bhoja of Dhāra. So Jñānārṇava is to be assigned between the 9th and the 12th century A. D. The MPC is later than the Jñānārṇava, and its Mss. are dated samvat 1654 and 1660. A Ms. of the Sanskrit M. P. is dated samvat 1573 (—57) A. D. 1516, and Harideva being sixth generation earlier than Nāgadeva, there might be a difference of say 150 years between the two. So the MPC of Harideva might be put between the 12th and 15th century A. D. for the present. The author's apology (1, 3-4) that he is not an expert in grammar, poetics and metrics is only his modesty. His work itself is an evidence that not only he is adept in all these branches of learning but also in the various aspects of Jainism and Jaina learning. He hails from a respectable family, and even as a house-holder he composed this rich allegory. This is a unique achievement for a householder.

7. The *Mayaṇa-parājaya-cariu* and *Madana-parājaya*

Harideva and Nāgadeva, as noted above, hailed from the same family, and the Sanskrit MP of Nāgadeva (already published in this very *Granthamala* in 1944), as revealed by himself, is based on the Prakrit (i. e. Apabhraṃṣa) MPC of Harideva. So it is interesting to compare and contrast the two works. The plot and characters in both the works are the same. The MPC is in Apabhraṃṣa with two sandhis and entirely in verse; while MP is in Sanskrit with five paricchedas and mainly in prose (the concluding section is, however, in verse). Nāgadeva introduces (with *uktaṃca*) a large number of quotations, while Harideva presents only his own composition. Nāgadeva has incorporated certain

Kathās (1.12., 1.20, 1.14, 2.5, 2.6), but for this there is no correspondence in the earlier work of Harideva. Lastly, here and there, one can mark out contexts in which Nāgadeva has expanded, contracted, or slightly altered details of Harideva. It is obvious, therefore, that Nāgadeva has not merely translated Harideva's work, but has composed his work mainly based on that of his revered ancestor, but has taken liberty according to his aptitude with regard to the language, style, details of the plot and situation.

8. Doctrinal setting of the MPC

The struggle of the Jina to attain liberation and the hindrances of Sex-passions therein are symbolised in this work. Jinendra's party is that of piety, of religion, while that of Kāma, of impiety and irreligion. The virtues siding Jinendra are not systematically enumerated, but almost all of them can be grouped under Saṃyagdarsana, jñāna and cāritra as discussed in the Tattvārthasūtra. This is true of the details on the side of Kāma as well. However, they clearly correspond to the subtypes of Mohaniya and other Karmas; and there are the opposite counterparts of the virtues siding with Jinendra. If there is Punya on the one side, there is Pāpa on the other.

Some of the details presented by Harideva need critical scrutiny in the back-ground of the Jaina doctrinal set up. (1) Kāmadeva of Bhavanagara, with his two wives Rati and Priti, with his minister Moha and with his commander-in-chief Mithyātva has no place in the scheme of the Jaina doctrines. According to the Karma-siddhānta elaborated in Jainism, these have no specific mention, but it is Moha, with its varieties, that is important. That way, the titles like Moharāja-parājaya are more significant. Secondly, the idea of Kāmadeva trying to win over Muktiramaṇi sounds as a bit strange. But it is not unlikely that he had in view certain creeds which prescribed eating of flesh, drinking of wine and sexuality for attaining Mukti, as announced in the Karpūramañjarī by Bhairavānanda who claims to be the follower of Kaula religion. Thirdly, in Jainism, Moha and Mithyātva have no conflict; still in this work Moha holds a dispute with Mithyātva when the latter took the responsibility of attacking Jinendra. Fourthly, according to Jaina doctrines, Rāga-bhāva cannot be anything different from the *no-kaṣṭya* Rati; so separate characters for these two lose meaning. Lastly, there are some minor discrepancies as well: Upasama figures as the horse of Jinendra, and a second time is presented as a warrior

along with Nirveda. When Jinendra came to Cāritranagara, he was given the kingdom of Tapas ; but Tapas figures elsewhere as a warrior.

9. Source of the plot

Unlike in Buddhism where Buddha fights against Māra or in Hinduism where Kāma and Śiva are shown in conflict, early Jainism does not give any place to Kāma. In Jainism, it is Moha, with its subvarieties, that comes in the way of the spiritual progress. Naturally, the question arises whether Harideva has borrowed his structure of the plot from outside or whether there are any Jaina sources before him. On a careful search it is seen that in the Jñānārṇava of Śubhacandra there are two contexts, one in the eleventh chapter (verses 11-48) where we get a discussion about Brahmacharya, and the other in the twentyfirst chapter where the topics of Śiva, Garuḍa and Kāma are discussed. By studying the details from the Jñānārṇava, it will be seen that Harideva is indebted to this text for his various ideas about Kāma: Kāma's bow and arrows, his conquest of all the three worlds, his disturbance to various saints practising penance, his power over gods like Brahman etc., his various warriors. In fact, it is the study of these sections in the Jñānārṇava that help one to grasp and interpret the details in the MPC. Thus, Harideva has fully drawn upon the Jñānārṇava ; it must have been a scripture of svādhyāya in their family ; and that explains why Nāgadeva quotes so many verses from it.

10. MPC—a Kāvya.

It is seen in the text that this work gets the designation of Kahā (Sk. Kathā) as well as Kāvya, besides carīu, as mentioned in the printed title. This work in a way distinguishes itself from the known Apabhraṃsa works. Here is no hero as such whose carita is presented: all the events are symbolic and conceptual. Though the division of samdhi is seen, a variety of metrical forms like Vastu, dvipadi etc. are alternately used. The uniformity as in a Kāvya is not present here, but this gives a variety for singing. From this point of view this work should be called a Rāsaka, of which the definition given by Svayambhū Chandas (5. 48) and Vṛttajāti-samuccaya (4. 35) suits this very well. But a Rāsaka was not divided into Samdhis: perhaps, for this very reason, the work came to be called a *Carita*. The structure of Samdhi or Kaḍavaka given by Kavidarpaṇa is quite applicable to MPC.

It is difficult to maintain the flow of sentiment or poetic flavour (rasa) in a work in which all the characters and their activities,

as well as the events are symbolic and imaginary. Still the author has done his best to make his chief characters live. Obviously, Kāma stands before us as the hero : he is active, ambitious and the centre of the plot-structure. He depends on himself and on his own resources. He is out to win Siddhi, the only maiden who is not attracted to him : and this has wounded his vanity out of which the march of the events is well marshalled. The hero's opponent, Jinendra, is noble and patient, and Siddhi for whom this struggle is on is a celestial and graceful maiden. The entire plot centres round these three important characters.

Certain situations, however, inherently awkward, are well depicted. Rati, the very wife of Kāma, plays the role of dūti to win over Siddhi for her husband ; and the way in which she consoles her co-wife Priti is a remarkable achievement for the author. Moha is an embodiment of all that is indiscriminate and pervert, but still, as is expected of a worthy minister, he always tries to put Kāma on the correct track. The character of Jinendra, in all the contexts, is marked by spiritual dignity on account of which one feels respect and devotion for him. It passes one's understanding, however, why Jinendra tries to bail Raṅgabhāva to bring Kāma before him. Siddhi, like an Indian Kula-vadhū, is never to be seen ; though both the hero and his opponent are after her. She does impress the readers more by absence than presence. In fact, Rati has delineated her personality so well that it leaves a permanent impression on the reader's mind.

The composition is interspersed with various conversations which are clear, effective and sharp ; for instance those between Kāma and Rati, Samyaktva and Mithyātva, Brahmā and Indra etc. There are many descriptive passages which are quite poetic and effective ; for instance, Moha praising Kāma, Raṅgabhāva presenting Kāma's picture before Jinendra etc. The author has well brought out that one's object is achieved not so much by aspiration and unworthy means, as by the cultivation of inner purity and worthy conduct. The didactic tone is patent throughout the composition ; and one comes across plenty of sayings, full of worldly wisdom and sound experience (see Hindi Intro.)

11. Figures of speech and metres in MPC

The MPC is an allegoric poem ; naturally, therefore, it is profusely embellished by figures of speech like metaphor, simile, hyperbole, double-meaning etc., for instance, in the description of Siddhi presented by Rati (1. 8-9). The Prakrit dialects have more advantages than Sanskrit

in the use of S'leṣa, for one and the same Prakrit word can stand for more than one Sanskrit word which itself may have more than one meaning. A term like *vittavamtu* stands for *vittavān* as well as *vittavān*, and the required S'leṣa is naturally achieved. There are striking instances of Virodhābhāsa arising out of double meaning or manifold meaning of word; for instance, in the description of Jinesvara (1.25). There are contexts where other poetic embellishments like Nidarsanā (2.22) Samuccaya (2.52) and Dṛṣṭānta (2.63) occur. Like all Apabhraṃsa poems, this MPC is also full of verbal devices like Anuprāsa or alliteration, Yamaka or repetition etc. (see 1.1; 1.11; 2.34; 2.66; etc.)

The development and variety in language, in grammar, poetics and metres seen in Indian literature during the last four thousand years and more are unparalleled in the history of literature anywhere else. Ṛgveda is the earliest specimen of literature for the study of metres. Vedic verse discloses nearly fifteen different metrical forms; but the most important of them are Gāyatrī, Trīṣṭubha and Jagatī; and all these are Varnavṛttas, and their recitation also involves different pitches. There are some hybrid forms called *Pragātha*.

In course of time, somewhere about 500 B.C., the Vedic metres underwent great many changes. An obscure metre Anuṣṭubha took the form of Sloka and was extensively used in great works like the Rāmāyaṇa, Mahābhārata, Purāṇas etc. The idea of pitch disappeared, but the arrangement of short and long in a line became more and more fixed, and their groupings in gaṇa assumed a rigid form. Even at the time of the composition of vedic verses, there must have been popular bards who entertained the masses by their songs, and some such form known as gāthā is preserved in the Brāhmaṇa texts. Like the Sloka in Sanskrit, this gāthā attained great prominence in popular songs and in Prakrit literature; and many of its varieties are described. Later, Mātrā chandas like dvipadī, catuspadī etc. became common in Prakrit; and with the Yamaka they are more current in Apabhraṃsa in the 6th century onwards.

The entire composition of MPC is in verse and divided into two Saṃdhis. In all, there are 118 Stanzas, 37 in the first and 81 in the second Saṃdhī. In the first Saṃdhī, there are 11 Vastu stanzas (a group of lines), then follow Vastu and Kaḍavaka alternatively; the 12th stanza, however, is a gāthā and 28, 29 and 30th stanza are of the Vastu form. Thus, there are 25 vastu, 11 Kaḍavaka and 1 gāthā stanzas

in the 1st Saṃdhi. The material structure of the 2nd Saṃdhi is different. First there is a special stanza, then a Duvai, a Vastu and a Kaḍavaka. This pattern is maintained upto the end, excepting that the stanzas 60-65 are in the Vastu metre. So, in this saṃdhi there are 25 Duvai, 30 Vastu, 25 Kaḍavaka and 1 stray metre. Thus, in the whole work there are 118 stanzas distributed as below : 55 Vastu, 36 Kaḍavaka, 25 Duvai, 1 gatha and 1 stray verse. Vastu and Duvai are marked out on the text itself.

Of all the metrical forms Vastu seems to be the favourite of the author, and its another name is Raḍḍā. It is defined duly in the Prakṛta Paingalam 1-133, also 134, (which notes some alternative opinions as well), Svayambhu-chandas (8.40) and Vṛttajāṭisamuccaya (4.31). The hybrid form of Raḍḍā appears to have taken a definite shape some time between Svayambhū and Virahākṛna, say between 9th and 10th century A. D. The other forms of metre may be listed here along with the sources of their definition : Dohā (Prakṛta-p-1.79) ; adillaha (Ibidem 1.127) ; Pajjhaṭikā (Ibidem 1.125) ; Pādākulaka (Ibid. 1.129). Ghattā (also Chaddanikā, Ibidem 1.89-100) ; Duvai (Ibid 1.152) ; Gāthā (Ibid 1.54-7).

12. The MPC—its Language.

The Apabhraṃsa language used in MPC. is basically of the same literary pattern as is described by Hemendra in his Prakrit Grammar (IV. 328-446) and is employed by Svayambhū, Puṣpadanta, Dhanapāla, Kanakāmara, etc. in their works. The editors of their works have described the language in many cases. This is done in my Intro. (pp. 45-57) to the Nāyakumāra cariu, Sāvayadhammadohā (Intro. pp. 28-36), Pāhuḍa-dohā (Intro. pp. 33-46). A historical review of this language and literature is taken by me elsewhere (Apabhraṃsa bhāṣā aurā Sāhitya; Nāgarī Pracāriṇī Patrika; 50, No. 1-2, 3-4. pp. 1-8, 100-121; see also Dr. Tagare; Historical Grammar of Apabhraṃsa and Dr. H. Kochad: Apabhraṃsa-sāhitya, 1956). Some specialities of the dialect in the MPC may be noted here:—

(1) Some words exhibit striking phonetic changes : Payajja (2, 4, 10) for pratiṇṇā, usually, however, painṇā (Homa. 1. 206), cf. Hindi pāṇa or pāṇa; niyapuṇu (1, 2, 3) for naipuṇya, usually, however, naipuṇṇa. What is called va-sruti is seen in saṃjuvai (1. 54), dūva (1. 19, 3), rayanaṇjuva (1. 20, 5). Intervocalic consonant is preserved in words like mahirāju, bhogu (1. 19, 9). Loss of a syllable is seen in somuttiya (2. 37, 12) for saumya-murti; shortening of vowel in vārai for vārayati

(2. 40, 13), and lengthening of it in *pārāvattiu* (2, 31, 9) and doubling of consonant in *sammānu* for *samānañ* (1. 5. 4).

(2) In the Instr. sing. partiality is shown for *-im* and *ina*; for instance *bhiccim*, *Kāmiṇa* etc.; note also *Kāmiyaṇa* for *Kāmikena*.

(3) There are many instances where case-terminations are absent. Nom. *dūvatta* (1. 13, 5); Acc. *paṇamāmi Visahasena* (1. 3, 2). Hemacandra has a rule for this, but in earlier literature these instances are scarce, but later the tendency is on the increase.

(4) Instr. *dhiṭṭhima kavvu karemi* (1.3.5.); Gen. *Khaṭṭa vuṇijjai eku aṅgu*; Loc. *mahilā je āsatta* (1.9, 4); etc. There are some instances of the exchange of cases; Nom. for Acc.—*sā āneum* (1. 17, 4); Gen. for Acc.—*ja mahu nau icchei* (1,8,4); Nom. for Instr. *sa virahiyaya* (1,21,4); Gen. for Instr.—*mayanarāyassa ṇa jippai* (2.35,2); etc. Some interchange of cases is noted by Hemcandra.

(5) The postpositions *tana*, *kera* and *majjhi* are often used with or without the case termination preceding: *dhammaha taniya* (1.13,2), *jiṇavara-tanai* (1.24,2); *mahu-kerau* (1.31,6) *mayaraddhaya-kerau* (1.23,8), *gharaha majjhi* (2.68,3), *niya-ghara-majjhi* (2.22,7).

(6) Some striking pronominal forms may be noted here. Hemcandra (VIII, IV, 372) notes *majjhu*, but this text has in addition *mujjha* (1.115) which well corresponds with *tujjha* and has its counter part in Hindi. The forms *merau* (2,72,4), *mbārī* (2,43,47), *ambāraiṃ* (1,25,1) may be noted. Hemcandra has *ambārā* and *Mahārā* (VIII, 4,434) but not *merau* for which in Hindi there is *merā*. Then we have *terī* (1.37.10) and *torī* (2.22.7), which are normal in Hindi, *e cayāri* (2.7.7), has become *ye cāra* in Hindi; and *Apabhraṃsa eha, eho, ehū* and *ei* have left only *e* in Hindi: *tehammi* (2.75,6) looks like a combination of *tahim* and *tammi*.

7. It is well known that in Prakrit, the participles have often served the purpose of verbal forms. The *Apabhraṃsa* poems, however, have used both, perhaps an advantage for metrical use; and the MPC is no exception. Here we find both the varieties in plenty: Present-*kahami, marahi, guṇahu, atthi, hoi*, etc. Future-*havesai* etc. imperative; *pusahu, picchasu, hakkari* etc. Passive-*kijjai, bharijjai* etc. causal-*hāsei* etc. Present participle *caḍaṃta, jovaṃta* etc.: Past P. participle-*ghalliu, bulliu* etc. Potential participle-*sāhevvau, mārevvau*. Gerund-*gampi, caḍi, chaṃḍivi, haseviṇu, suṇeppiṇu* etc. Infinitive-*jujjhahum, bamḍhaum* etc. Some of these are in plenty in certain specific contexts.

8. The use of the root *dā* in directive contexts deserves attention : *eu dehi* (1,23,9) which is nearer Hindi *andede-marāthi eu dya* ; but Sanskrit has no counterpart usage. The use of 'de' is striking in this text in many contexts.

9. Some of the roots are repeatedly used by the author, *bolla-bulla*, *lā* in its various forms, *ghalla* and *lagga*. These are known to Hemcandra. But their usages are quite common with the author and very often they have close counterparts in Hindi.

Thus, the Apabharamsa used by Harideva possesses important details which have a special significance for the study of Modern-Indo-Aryan.

आदर्श प्रतियोंका परिचय

मयणपराजयचरित्रका प्रस्तुत संस्करण निम्न तीन प्राचीन प्रतियोंके आधारसे किया गया है और यथाशक्ति उनके समस्त पाठान्तर देनेका भी प्रयत्न किया गया है।

क प्रति

यह कागजकी प्रति १० × ३½ इंच लम्बे चौड़े २१ पत्रों (४२ पृष्ठों)में समाप्त हुई है। दोनों ओर लगभग एक इंचका हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ पंक्तियोंकी संख्या ९, १० या ११ है व प्रति पंक्ति लगभग ५० अक्षर हैं। इस प्रकार इसका कुल श्लोकाग्र $\frac{४२ \times १० \times ५०}{२४} = ८७५$ है।

प्रारम्भ—॥६०॥ उँ सिधि ॥ उँ नमो वीतरागाय नमः ॥

अन्त—इय मयणपराजयचरिए सरयेय कइविरइये मयणराइस्स पराजयं णाम दुज्जेउ परिछेउ समत्तो ॥ इति मदनपराजयाभिधानं कथानकं समाप्तं ॥श्री॥ ॥श्री॥ ॥श्री॥ ॥श्री॥ ॥श्री॥ ॥श्री॥ ॥श्री॥

तत्पश्चात् लेखककी प्रशस्ति इस प्रकार है:—संवत् १६०८ वर्षे साके १४६५ प्रवर्तमाने महामाङ्गल्य वैसाखमासे शुक्लपक्षे अष्टमी अर्कवासरे श्रीमद्वीजपाटके महास्थाने ॥ मयणपराजयनाम ग्रन्थ लिपीकृत मुनि हर्षकीर्त्तन आत्मा अर्थेषु ॥ वा अन्यस्य ॥ वाच्यमान चिरं नद्यात् ॥श्री श्री ॥ यादृसं पुस्तकं दृष्ट्वा । ताद्रसं लिपितं मया । यदि सुद्धमसुद्धं वा मम दोषो म दीयते ॥ श्री श्री श्री (ग्यारह बार)

इस प्रतिके पाठोंमें मात्राओंके ल्हाव, दीर्घ व छूट जाने सम्बन्धी बहुत त्रुटियाँ हैं जैसा कि अङ्कित पाठान्तरोंसे स्पष्ट जाना जा सकता है। यह प्रति सम्पादकके पास है।

ख प्रति

यह कागजकी प्रति ११ × ४½ इंच लम्बे चौड़े २५½ पत्रों (५१ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। हासिया दोनों ओर एक-एक इंच छूटा हुआ है। पंक्तिसंख्या आदिसे अन्त तक एक-सी प्रति पृष्ठ ९ है और अक्षरोंकी संख्या प्रति पंक्ति लगभग ३५ हैं। दण्डक, वस्तु, दुवई, घत्ता आदि छन्द नाम तथा सन्धिके अन्तकी पुष्पिकाएँ लाल स्याहीसे लिखी गयी हैं। स्याही चटकदार और लिपि एक-सी सौन्दर्यपूर्ण है।

प्रारम्भ—॥६०॥ उँ नमः सिद्धेभ्यः ॥ कमल कोमल.....

अन्त—इय मयणपराजयचरिए । हरिएव कइ विरइए । जिणेंद जयवण्णणं णाम वीउँ सन्धि परिच्छेउ समत्तो ॥छ॥

तत्पश्चात् लेखककी प्रशस्ति इस प्रकार है:—संवत् ४१ इलाही मवाफिक संवत् १६५४ श्री अकबर-राज्यप्रवर्तमाने । लाहौरदुर्गस्थाने इदं पुस्तकं लिखापितं पण्डिततुपुरदासपुत्रदमोदरदासेन । आत्मपठनार्थं लि० पं० रामदासु जैसवालु ।

इस प्रकार जैन प्रतियोंकी परम्परामें यह एक असाधारण प्रशस्ति है क्योंकि इसमें मुख्यतः अकबर द्वारा प्रचलित इलाही संवत्का उल्लेख है और साथ ही (विक्रम) संवत्का भी जिससे इलाही संवत्का प्रारम्भ वि० सं० १६१३ सिद्ध होता है। यहाँ फारसी शब्द मवाफिक (तदनुसार) का भी लेखकने प्रयोग किया है। अनुमानतः लेखक रामदास जैसवाल लाहौरके मुसलमानी शासनके सम्पर्कमें थे।

पाठकी दृष्टिसे-यह क प्रतिसे स्वतन्त्र व अधिक शुद्ध है। एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि इसकी दूसरी सन्धिके ७८ वें कडवकमें ९ अडिल्ला छन्दके चरण व घत्ता सर्वथा भिन्न हैं जो टिप्पणमें दिये गये हैं। उन्हींके साथ यह ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। उसमें उक्त कडवकके प्रथम तीन चरणोंको छोड़कर शेष भाग व उसके आगेके दुवई, वस्तु व एक कडवकका अभाव है। वह अपने रूपमें पूर्ण भी है। आश्चर्य नहीं जो

आदिमें यहीं यह काव्य पूर्ण किया गया हो, क्योंकि वहाँ अनि संक्षेपमें जिनेन्द्रके कामको जीतकर मोक्ष जाने और सिद्धि वधुके साथ सुखोंके अनुभवनकी बात भी कह दी गयी है और कवि-द्वारा अपनी लघुता प्रकट कर गुरुमुखसे सुनकर अपनी मति अनुसार ग्रन्थ पूरा करनेका भी उल्लेख कर दिया गया है। हो सकता है कि पश्चात् समोसरणका व विवाहके उत्सव आदिका वर्णन न होनेसे मुननेवालोंकी बात खटकी हो और फिर या तो स्वयं कविने अथवा किसी अन्यने उस कमीको पूरा कर दिया हो। क. ग दोनों प्रतियोंमें यह पदलघित भाग ही है, जिससे उसकी प्राचीनतामें सन्देह नहीं।

ग प्रति

यह कागजकी प्रति १० X ४। इंच लम्बे-चौड़े २५ पत्रोंके ४९॥ पृष्ठोंमें समाप्त हुई है। दोनों ओर पौन इंच हासिया छूटा है। पंक्तियाँ प्रति पृष्ठ नियमित रूपसे १० हैं और अक्षर प्रति पंक्ति लगभग ४०। प्रत्येक पृष्ठके मध्यमें प्राचीन ताडपत्रयी प्रथाके अनुसार, १ इंच लम्बा चौड़ा स्यान कोरा छूटा दृष्य है। स्याही चटकदार और लिपि सुन्दर समाकार है। आदिका एक पत्र अप्राप्त होनेसे प्रारम्भके पाठका पता नहीं।

अन्त—इय मयणपराजयचरिए हरिएवकइविरइए मयणराजपराजयं। णाम दुज्जउं परिच्छेउं समत्तो ॥ इति मदनपराजयाभिधाणकथानकं समाप्तं ॥४॥

इसमें लेखनकाल व लेखक सम्बन्धी कोई प्रयुक्ति नहीं है। तथापि कागजकी अवस्था, ग्रन्थ-पद्धति, लिपि आदिपरसे यह पूर्वोक्त दोनों प्रतियोंसे अधिक प्राचीन, कमसे-कम विक्रमकी १५ वीं शतीकी, प्रतीत होती है। पाठ-भेदोंमें यह क प्रतिसे अधिक व ख से अपेक्षाकृत कम समानता रखती है। किन्तु उसके स्वतन्त्र पाठ भी विशेष हैं।

ये तीनों ही प्रतियाँ पृथक् धाराओंसे आयी हुई प्रतीत होती हैं। उनकी आदर्श प्रति एक सिद्ध नहीं होती। अतएव और भी अधिक प्राचीन प्रतियोंके पाये जानेकी आशा की जा सकती है।

उक्त तीन प्रतियोंके आधारसे जो ग्रन्थका संशोधन किया जा सका है, वह आशा है, असन्तोषप्रद नहीं पाया जायेगा। उसमें कोई अधिक संशोधनका अवकाश भी रहा नहीं दिखायी देता।

प्रतीकात्मक नाटक-परम्परा

विश्वका इन्द्रिय-गोचर स्वरूप और उसका वैचित्र्य मानवीय अनुभवन और चिन्तनका मूलाधार है। इस अनुभवनको व्यक्त करने, दूसरोंपर प्रकट करनेमें मनुष्यको सुख होता है। प्रकृतिके जिस स्वरूपको वह व्यक्त करना चाहता है वह यदि सम्मुख वर्तमान है, तब तो केवल उसको और अपने साथीका ध्यान आकर्षित कर देने मात्रसे उसका काम चल जाता है और उसका वही अनुभवन उसके साथियोंके हृदयमें भी समा जाता है। किन्तु जत्र प्रकृतिका वह दृश्य आँखोंसे ओझल हो गया हो तब उसके व्यक्तीकरणके लिए उस घटनाकी तथ्यात्मकतासे कोई काम नहीं चलता। और तब व्याख्याताको कुछ प्रतीकों (symbols) का सहारा लेना पड़ता है। इन प्रतीकोंको जैन दर्शनमें निक्षेप कहा है। जब हम बोलकर कुछ कहना चाहते हैं तब वस्तुओंके जो ध्वन्यात्मक नाम लेते हैं वह नाम-निक्षेप है। जब चित्र खींचकर या मूर्ति बनाकर उसे प्रकट करते हैं तब हम स्थापना-निक्षेपकी सहायता ले रहे हैं। जब हम उसके बाह्य मूर्त स्वरूपको सम्मुख रखते हैं तब वह द्रव्य-निक्षेप कहलाता है और जब उसके आभ्यन्तर स्वरूपको व्यक्त करने लगते हैं तब वह भाव-निक्षेप कहलाता है। इस प्रकार निक्षेपों-द्वारा हम प्रकृतिके तथ्योंको उनकी अनुपस्थितिमें दूसरोंको उनका अनुभवन करानेका प्रयत्न करते हैं। निक्षेपों-द्वारा प्राप्त हुआ ज्ञान प्रत्यक्षके समान निर्मल और परिपूर्ण तो नहीं होता, किन्तु सादृश्यकी स्मृतियोंके जागरण-द्वारा वह व्यक्तिकी योग्यतानुसार वस्तुके स्वरूपको समझनेमें वहुत सहायक अवश्य होता है।

एक बार जहाँ प्रतीकात्मक व्यक्तीकरणकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, तहाँ क्रमशः उसने नाना रूप-धारण

किये और नाना विधियोंसे मनुष्यके हृदयमें अद्वितीय भावनाएँ जागृत करनेकी प्रणालियाँ आविष्कृत होने लगीं। वैदिक ऋषियोंकी प्रकृतिके नाना तत्त्वों व उनकी शक्तियोंका अनुभव हुआ, जैसे अग्नि, वायु, आकाश, मेघ, सूर्य आदि। इन्हें उन ऋषियोंने देवता व मनुष्यके समान रोष-तोषकी भावनाओंसे प्रेरित होनेवाले मानकर उनकी पूजा व स्तुति करना प्रारम्भ कर दिया। व्यक्तीकरणकी प्रतीकात्मक शैली एक पैर आगे बढ़ी जब उन्होंने आदि पुरुषकी कल्पना की तथा ब्राह्मणको उसका मुख, धत्रियको बाहु, वैश्यको ऊरु तथा शूद्रको पैरसे उत्पन्न होनेकी बात सोची।^१ इससे भी बढ़ी-चढ़ी उनकी वह कल्पना है जिसमें संसारको एक वृक्ष मानकर बहिरात्म और परमात्मको उसपर बैठे दो ऐसे पक्षी माने हैं जिनमें-से एक उसके फल-फूलोंका स्वाद ले रहा है, और दूसरा उन्हें बिना खाये ज्ञानदर्शन रूपसे उनका उपयोग कर रहा है।^२

प्रतीकात्मक व्यञ्जना-प्रणालीने एक नया और विशाल रूप धारण किया जब किन्हीं विशेष पुरातन पुरुष स्त्रियोंके पूरे चरित्रोंका नाटक करके दिखाया जाने लगा, जिसके द्वारा सुदोर्घ अतीतकालकी घटनाएँ दर्शकोंके सम्मुख होती हुई दिखायी देने लगीं। यह विधान आजसे दो हजार वर्षसे भी अधिक पूर्व प्रारम्भ हो गया था, क्योंकि महर्षि पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमें कहा है कि ये शोभनिक (नाटककार) कंसका प्रत्यक्ष घात कराते हैं, प्रत्यक्ष बलिको बाँधकर दिखलाते हैं।^३ यह उदाहरण उन्होंने इसलिए दिया है कि भाषामें सुदूर भूतकालकी घटनाओंके लिए निकट अतीत व वर्तमानकाल-जैसा प्रयोग भी अनुचित नहीं है, क्योंकि वे अतीतकी घटनाएँ भी लोगोंको नाटकों-द्वारा प्रत्यक्षवत् हो जाती हैं।

नाटक चल पड़े, और उनके सहारे प्रतीक शैली भी आगे बढ़ी। पतञ्जलिसे एक दो शतियोंके भीतर ही नाटककार अश्वघोष हुए जिनके तीन नाटकोंके खण्डित अंश मिले हैं। प्रस्तुत विषयकी दृष्टिसे विशेष ध्यान देने योग्य उनका वह नाटक है जिसके पात्र कोई सामान्य व्यक्ति नहीं, किन्तु बुद्धि, कीर्ति, धृति आदि भाव हैं। वे रंगमंचपर आते हैं और वार्तालाप करते हैं। तभी भगवान् बुद्ध भी उनके बीच आ उपस्थित होते हैं। नाटककी त्रुटि अवस्थाके कारण यह पता नहीं चलता कि इन यथार्थ और कल्पित पात्रोंके बीच क्या कैसा वार्तालाप हुआ व नाटकका अवसान क्या रहा। तथापि इतना निश्चित है कि अश्वघोषने भावात्मक गुणोंको मूर्तिमान् स्वरूप देकर उन्हें साक्षात् मनुष्यके रूपमें रंगमंचपर लाकर खड़ा कर दिया।^४

प्रबोध-चन्द्रोदय

अश्वघोषके पश्चात् एक हजार वर्ष तक इस प्रतीक शैलीकी कोई विशेष रचना हमारे सम्मुख नहीं आती, किन्तु शैली प्रचलित अवश्य रही होगी। ग्यारहवीं शतीमें जेजकभुवितके चन्देलवंशी नरेश कीर्तिवर्माके कालमें कृष्णमिश्रने प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक लिखा जिसमें यह भावात्मक गुणोंको नाटकके मूर्तिमान् पात्र बनानेकी शैली अपने पूर्ण विकासको पहुँची हुई पायी जाती है। नाटक पूरे छह-अंकोंका है और उसके समस्त पात्र भावात्मक हैं। आदि महेश्वर और माया इन पति-पत्नियोंके मन नामक-विख्यात पुत्र उत्पन्न हुआ। इसने पुनः दो पुत्रोंको जन्म दिया। निवृत्ति नामक स्त्रीसे विवेक और प्रवृत्तिसे मोह। मोह बड़ा बलशाली निकला, और उसकी सन्तति खूब फली-फूली। किन्तु भय था उस भविष्यवाणीका जिसके अनुसार विवेकके पुत्र प्रबोधोदय की उत्पत्ति होनेवाली थी। विवेकका अपनी पत्नी उपनिपत्से वियोग हो गया था। तथापि उसकी दूसरी पत्नी मति अब उनके मेलसे सहमत है (अंक १)। इस मेलकी आशंकासे मोह भयभीत हुआ और उसने

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरु तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥—ऋग्वेद, १०, ९०, १२।

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्त्यो अभिचाकषीति ॥—ऋग्वेद १, १६४, २०

३. ये तावद् एते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं बलिं बन्धयन्ति।

—(महाभाष्य ३, १, २६)

४. कीथ : संस्कृत डामा, पृ० ८४।

दुर्म को भेजकर बनारसको अपना सुदृढ़ गढ़ बनाया । वहाँ दुर्मका पितामह अकड़ार भी लगने आ गया । भौतिक चार्वाकने भी मोहका समर्थन किया । श्रद्धाकी पुत्री शान्तिका क्रोध-द्वारा नियंत्रण किया गया । और मिथ्यादृष्टिको उपनिषद् और श्रद्धाको पृथक् रखनेका आदेश दिया गया (अंक २) । शान्ति अपनी कर्णों कर्णोंके साथ आती है । उसे अपनी माता श्रद्धाके वियोगका दुःख है जिसे वह आत्मघात करनेका विचार करती है । किन्तु कर्णा उसे ऐसा करनेसे रोकती है । तब वह दिग्भ्रमर जैन धर्ममें, बौद्ध धर्ममें, गौणविधि अर्थात् कापालिक मतमें उसकी खोज करती है । ये प्रत्येक धर्म अपनी पत्नीको श्रद्धा बनाते हैं, किन्तु शान्ति उन विकृतियोंमें अपनी सात्त्विकी माताको नहीं पाती । बौद्ध और जैनधर्म परस्पर कलह करते हैं । कापालिक आकर उन्हें पान-मत्त बना देता है, और उन्हें बतला देता है कि श्रद्धा और धर्म अब विष्णु-भक्तिके साथ महात्माओंके हृदयमें हैं । कापालिक उनके अपहरणके लिए महाभैरवी विद्याको भेजता है और शान्ति व कर्णा उसकी रक्षाके लिए जाती है (अंक ३) । श्रद्धाका एक राक्षसी (महाभैरवी) अपहरण करना चाहती है, किन्तु विष्णु-भक्तिके उसकी रक्षा को । फिर वह विवेकके पास जाती है । विवेक अपने नाथो वस्तु-विचार, धर्मा, सन्तोष आदिसे काम, क्रोध, लोभादि मोहके महाभैरवीको जीतनेके सम्बन्धमें परामर्श करके अपनी सेना सहित बनारस पहुँचता है (अंक ४) । युद्ध हुआ । मोह और उसकी सन्तान पराजित व छिन्न-भिन्न हो गये, जिसे मन बहुत खेद-खिन्न होकर संकल्पको चिता बनानेका आदेश देता है । तब व्यासकी सरस्वतीने आकर उसका सम्बोधन किया । अब उसने अपनी उस उपेक्षिता पत्नी निवृत्ति, धर्म, दमादि पुत्रों, व यम-नियमादि अमात्योंके साथ रहनेका निश्चय किया (अंक ५) । उधर विवेक महामोह-द्वारा छोड़ी हुई मधुमती विद्या व नाना उपसर्गोंके प्रभावसे अब भी मोहग्रस्त है और अपनी पत्नी उपनिषत्की चिन्ता नहीं करता । किन्तु उसका मित्र तर्क उसे अपनी भूलका बोध कराता है और वह उस मोहके अनुयायियोंको मार भगाता है । शान्ति उपनिषत्को लाकर उसका विवेकसे मेल कराती है, उपनिषत्, यजुर्विद्या, मीमांसा, तर्क-विद्या, सांख्य आदिके साथ अपनी दुर्दशाकी कहानी भी सुनाती है और पुरुषको अपने परमात्मत्वका बोध कराती है । विष्णु-भक्तिका उपनिषत्को आदेश मिलता है कि वह अपने गर्भसे प्रबोधदयको जन्म देकर विवेक को समर्पित कर दे और फिर उससे जा मिले । पुरुष और प्रबोधका मेल होता है और पुरुष-द्वारा विश्व-शान्तिकी प्रार्थनाके साथ नाटक समाप्त होता है (अंक ६) ।

इस प्रकार यह नाटक दार्शनिक भावों और विचारोंके संघर्ष व विवेचनको मूर्तिमान् व्यक्तियोंके चरित्र की कथाके समान दृश्यमान रूपमें उपस्थित करता है ।

मोहराज-पराजय

इस शैलीका एक जैन-नाटक मोहराजपराजय मोह वैश्य वंशके धनदेव और रुक्मिणीके पुत्र यशःपाल-द्वारा अभयदेवके राज्य (सन् १२२९-३२ ई०)में लिखा गया, तथा धारापद्धमें कुमारपाल-द्वारा निर्मापित कुमार विहारमें महावीरोत्सवके समय खेला गया था । यह नाटक ५ अंकोंमें समाप्त हुआ है, और नायक कुमारपाल, उनके गुरु हेमचन्द्र तथा विद्वपकको छोड़ उसके समस्त पात्र भावात्मक हैं । तीर्थंकर ऋषभ, पार्श्व और महावीरकी वन्दना रूप नाट्यी तथा सूत्रधार व. नटीके बीच वार्तालापके पश्चात् राजा कुमारपाल और विद्वपक रंग-मंचपर उपस्थित होते हैं । ज्ञानदर्पण गुप्तचर आकर उन्हें सूचित करता है कि मोहराजने मनो-नगरपर आक्रमण करावहकि राजा विवेकचन्द्रको उनकी पत्नी शान्ति तथा पुत्री कृपासुन्दरी सहित वहाँसे मार भगाया है । गुप्तचरने यह भी सूचना दी कि वह सम्यक्चारित्र और नीतिको पुत्री कीर्तिमञ्जरीसे भी मिल चुका है । कीर्तिमञ्जरीका विवाह कुमारपालसे हो चुका है, किन्तु उसकी शिकायत है कि महाराज एक जैन मुनिके प्रभावमें आकर उससे तथा उसके भ्राता प्रतापसे विमुख हो रहे हैं । इस कारण कीर्तिमञ्जरीने मोहकी सहायता माँगी है और वह कुमारपालपर आक्रमणकी तैयारी कर रहा है । गुप्तचरने कीर्तिमञ्जरीको सचेत कर दिया है कि युद्धमें मोहका ही पराजय होगा । इस बातसे कीर्तिमञ्जरीको कुछ निराशा हुई है । कुमारपालने मोहराजको परास्त करनेका निश्चय कर लिया (अंक १) ।

विवेकचन्द्रों राजमन्त्री पुण्यकेतु सूचित करते हैं कि हेमचन्द्र मुनिके तपोवनमें विवेकचन्द्र आया है और वह राजा कुमारपालसे भी मिल चुका है। राजा उसकी कन्या कृपासुन्दरीकी ओर आकर्षित भी हुए हैं। अंकके प्रारम्भमें कुमारपाल और विदूषक कृपासुन्दरी और उसकी सखी सोमताकी ताक-झाँकमें लगे दिखलायी देते हैं। अन्ततः वे उनसे वार्तालाप भी करते हैं। महादेवी राज्यश्री अपनी सखी रौद्रताके साथ प्रकट होती और अपना रोष प्रकट करती है। राजा उनसे क्षमा-याचना करता है (अंक २)।

राज्यश्री रानी देवीके मन्दिरमें जाकर प्रार्थना करती है कि कृपासुन्दरीका वह सौन्दर्य नष्ट हो जाये जिससे उसका पति उससे प्रेम करना छोड़ दे। किन्तु मन्त्री पुण्यकेतुने गुप्तरीतिसे अपना एक अनुचर देवीकी मूर्तिके पीछे छिपा रखा था। उसने रानीपर देवीकी यह इच्छा प्रकट कर दी कि कृपासुन्दरीसे विवाह हो जानेपर ही कुमारपाल मोहराजको जीत सकेगा, अतएव न केवल उसे इसमें कोई बाधा नहीं डालना चाहिए, किन्तु स्वयं विवेकचन्द्रसे अपनी कन्या कुमारपालको विवाह देनेकी प्रार्थना करनी चाहिए। इस दैववाणीके आगे रानीने अपना मस्तक झुका दिया। विवेकचन्द्र अपनी कन्या राजाको देनेके लिए इस शर्तपर तैयार हुए कि राजा सप्तव्यसनोंको अपने राज्यसे निकाल दे तथा पुत्रहोन मरनेवालोंकी सम्पत्तिको जप्त कर लेनेकी चालू प्रथाको छोड़ दे। रानी स्वयं यह अनुबन्ध स्वीकार कर लेती है, राजा भी मान लेते हैं (अंक ३)।

सप्तव्यसनोंके निष्कासनका कार्य सम्पन्न होता है। नगरका भाग्य व देशका भाग्य परस्पर मिलते हैं। नगर-भाग्य देश-भाग्यको जैनधर्मके सिद्धान्त स्वीकार करनेके लिए तैयार कर लेता है। कृपासुन्दरी आती है। वह आखेट व मत्स्यछेदनके कोलाहलसे खिन्न है। किन्तु राजपुरुष आकर उसका सम्बोधन करता तथा व्यसनोंके निष्कासन कार्यमें प्रवृत्त होता है। घूतक्रीड़ा, मांसभक्षण, सुरापान, चोरी; व्यभिचार आदि निकाले जाने लगे, यद्यपि पूर्व राजाओंके कालसे उन्हें वहाँ रहनेका अधिकार प्राप्त था और उनसे राज्यको आय भी अच्छी थी। वैश्यावृत्तिको छूट दी गयी कि वह चाहे तो चुपचाप कहीं रह सकती है (अंक ४)।

कुमारपाल हेमचन्द्राचार्य-द्वारा दिये गये योगशास्त्र शस्त्रको धारण कर तथा वीतराग स्तुति मन्त्ररूप बद्ध होनेकी विद्या प्राप्तकर मोहराजके गढ़ों व दुर्गोंका निरीक्षण करने लगे। तत्पश्चात् प्रकट होकर उन्होंने मोहराजको युद्धमें पराजित कर डाला। इन्होंने विवेकचन्द्रको पुनः मनोनगरका राज्य दे दिया। नाटक कुमारपालके भरत-वाक्यके साथ समाप्त होता है जिसमें जिनभगवान् व हेमचन्द्राचार्यकी स्तुतिके साथ कृपा और विवेकके निकट संयोगकी इच्छा तथा अपनी चन्द्रवत् धवल कीर्तिके प्रकाशसे मोहके अन्धकारके विनाशकी आशा प्रकट की गयी है।

आगे यह रूपकशैली खूब अपनायी गयी और नाना सम्प्रदायोंने अपनी-अपनी दृष्टियोंसे भाव-पात्रोंका संघर्ष और उनका अवसान और उत्थान प्रदर्शित किया। १४वीं शतीमें वेंकटनाथने संकल्पसूर्योदय नाटक लिखा जो बहुत रुखा और कर्कश है। और उससे भी अधिक बोज़ड़ है कविकर्णपूर कृत चैतन्यचन्द्रोदय जिसमें महाप्रभु चैतन्यकी सफलताका प्रदर्शन किया गया है, किन्तु पाठकके हृदयपर उनके अध्यात्मका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार १७वीं शतीमें विद्यापरिणयन तथा १८वीं शतीमें जीवानन्दन नाटक शैव-धर्मकी दृष्टिसे लिखे गये (कोथ : संस्कृत ड्रामा, पृ. २५३ आदि)।

ज्ञानसूर्योदय

इस संस्कृत नाटकके समस्त पात्र भावात्मक हैं। प्रस्तावनामें सूत्रधार-द्वारा प्रकट किया गया है कि यह नाटक मूलसंघीय त्रैविद्यचक्रवर्ती प्रभाचन्द्र सूरिके शिष्य वादिकचन्द्रसूरि कृत है और वह उनके शिष्य ब्रह्मकमलसागर और ब्रह्मकीर्तिसागरकी प्रेरणासे खेला गया था। सूत्रधार और नटीके बीच वार्तालापमें कहा गया है कि लोक स्वभावतः उपशान्त हैं। किसी कर्मके प्रभावसे वे भ्रान्त होते और पुनः शान्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं। राम, जम्बूस्वामि, सुदर्शन, धन्यकुमार आदि इसके उदाहरण हैं। चैतन्य स्वभावी अनादि-अनन्त आत्माकी सुमति और कुमति नामक दो पत्नियोंसे पृथक्-पृथक् दो कुल उत्पन्न हुए। सुमतिके

पुत्र थे विवेक, प्रबोध, सन्तोष और शील । इसी प्रकार कुमतिने मोह, मार, क्रोध, मान और लोभको जन्म दिया । कुमतिकी प्रेरणासे आत्माने अपना राज्य उसीके मोह और काम इन दो पुत्रोंको दे डाला, जिस प्रकार अपनी स्त्रीकी प्रेरणासे राजा दशरथने रामको वनवास और भरतको राज्य दिया । मूत्रधार और नटीके इस वार्तालापको सुनकर विवेक रंग-मंचपर आता है और मूत्रधारको ललकारकर कहता है कि मेरे रहते कहींकी कुमति और कहींका मोह ? जबतक मेरे सहाचारी धमा, ध्यान, भक्ति, दया, इन्द्रियजय आदि अपने-अपने कर्तव्यमें आरूढ़ हैं, तबतक मोहको कदापि राज्य नहीं मिल सकता । विवेककी पत्नी मतिने कहा कि गुना है मोहराजाने कलिकी प्रधानके पदपर आरूढ़ किया है और वह तुम्हारा अहित करेगा । विवेकने कहा यह शंका मिथ्या है क्योंकि जबतक हमारे पक्षमें यम-नियमादि आठ योग विद्यमान हैं तबतक कलिके द्वारा क्या कर सकता है ? यहाँ इन आठ योगोंका जैन मान्यतानुसार विस्तारसे वर्णन है जो जानानार्थके वर्णनमें मिलता है । उसपर मतिने कहा, आर्यपुत्र, यह सब सत्य है, तथापि अशील आदिकी सहायतासे मोह बढ़ा प्रबल है । विवेकने उत्तर दिया कि मेरे सहायक शील, धमा, सन्तोषके आगे काम, क्रोध, लोभ व दम्भ नामक मोहके महान् योद्धा कदापि नहीं टिक सकते । कुमतिसे प्रभावित पुरुष यह भी नहीं जानता कि मोह उसे नरकोंमें लिये जाता है । यहाँ सातों नरकोंका विस्तारसे वर्णन है । मतिके पूछनेपर कि पुत्र ही पिताको दुःखमें क्यों घसीटता है, विवेकने उत्तर दिया कि यह कुपुत्रका स्वभाव है, जैसे कंसने अपने पिताको स्वयं बन्धनमें डाला था । यह सुनकर कामने विवेकको ललकारकर कहा कि हम पिताको व लोकको दुःख नहीं सुख प्रदान करते हैं । और जो हमारे दिये सुखको त्याग देता है वह सरोवरको छोड़ मरीचिकाकी ओर दौड़ता है । कामको आया देख विवेक और मति प्रस्थान कर जाते हैं, तथा काम और रतिके बीच वार्तालाप होता है । काम अपने माहात्म्य का वर्णन करता हुआ बतलाता है कि उसने कैसे ब्रह्माको अपनी ही पुत्री, पराधरको मत्स्यी, तथा व्यासको अपनी बधूटीके प्रति चलायमान-वित्त किया । रतिके यम-नियमादिके चलका उल्लेख करनेपर काम अपने सप्त-व्यसनोंका सामर्थ्य प्रकट करता है । काम उसे यह भी बतलाता है कि यद्यपि पुरुष राजाके प्रबोधादि ज्येष्ठ पुत्र उसके राज्यके भागी हैं, तथापि पृथ्वी तो वीरभोग्या है और इसके लिए मोहको हर, हरि, हिरण्यगर्भको भी प्रसन्न करनेवाली मायाका साहाय्य प्राप्त है । फिर मोह मायासे अपनी कार्यसिद्धिके लिए प्रार्थना करता है जिसे वह स्वीकार करती है । विलास आकर मोहको बतलाता है कि मायाने हरि, हर और ब्रह्माको वशीभूत करके आपके सहायक बना लिया है । विलासके जानेके पश्चात् अहंकारने आकर मोहके सम्मुख अपना सामर्थ्य प्रकट किया और उसे आश्वासन दिया और सबको वाराणसी चलनेका प्रस्ताव किया (अंक १) ।

प्रबोध राजाको सम्बोधित कर उपदेश नामक गुप्तचर खबर देता है कि हरि, हर आदि देव मोहके सहायक हो गये हैं । सम्यक्त्व आकर उन्हें चिन्तामें न पड़कर दयाको बुलवानेकी सलाह देता है । सत्यवती दूती धमाकी पुत्री दयाको बुला लाती है । उसने बतलाया कि मैंने अयोध्या जाकर अर्हन्तको कहा कि राजाने मूख (दया)को तथा शील, विवेक और सन्तोषको अपना बनाकर मुवितनगरका अंगीकार किया है, किन्तु मोह अब हरि, हरादिका बल पाकर प्रबोधके समस्त परिवारका उन्मूलन और जगत्को अपने वशीभूत करना चाहता है । अतएव अब आप जैसा उचित समझें करें । इसपर अर्हन्तने कहा कि मैं प्रबोधादिके उपकारको भूला नहीं हूँ । अतएव अपनी रक्षाके निमित्त उन्हें अविलम्ब यहाँ मेरे पास आ जाना चाहिए । यह सुनकर प्रबोधराज ससैन्य अयोध्याको प्रस्थान कर गये ।

अब कलिने प्रवेश किया जिसके प्रभावसे धर्म प्रव्रजित हो गया, तप चलायमान हुआ, सत्य दूर हट गया, पृथ्वी मन्त्रफल हो गयी, नृप कपटी, ब्राह्मण शस्त्रधारी, लोक स्त्रीरत, स्त्रियाँ चपल, तपस्वी लोलुप, साधु दुखी और दुर्जन प्रभावशाली हो गये । तथापि प्रबोधादिके अर्हन्तका पक्ष ग्रहण कर लेनेसे उसका हृदय काँप उठा । अहंकारने उसे धैर्य दिया । दम्भके पूछनेपर कलिने बतलाया कि उनके शत्रुका अर्हन्तसे मेल दयाके द्वारा हुआ और वही उस पक्षमें बलवती है । अतः क्रोधकी भार्या हिसाके द्वारा उसका अपहरण कराना उचित है । इसीसे शत्रुपक्षका बल टूट जायेगा । उसकी माता क्षमा दुखी हो जायेगी जिससे उसकी लघुपुत्री शान्ति भी ठण्डी पड़ जायेगी । इस प्रकार शत्रुपर विजय पाना सुलभ होगा । यह सुनकर राजाने असत्य-

पतीको आदेश देकर कोपकामिनी हिंसाको बलवाया और उसे दयाका अपहरण करनेकी आज्ञा दी। हिंसाने अपना कर्तव्य-पालन किया। माताके लुप्त हो जानेसे पुत्री क्षमाने विलाप किया। शान्तिने उसे धैर्य बंधानेका प्रयत्न किया। फिर बौद्धागम आया और उसके सिद्धान्त व इतिहासका विचार क्षमा और शान्तिने किया। तत्पश्चात् क्रमशः याज्ञिक, नैयायिक, ब्रह्माद्वैत, श्वेताम्बर, कापालिक और वैष्णव आये, किन्तु उनसे भी क्षमा और शान्तिको दयाका कुछ पता नहीं चला (अंक २)।

अब प्रबोधकी भगिनी परीक्षा प्रकट हुई और उसने क्षमाको कहा कि उक्त मिथ्यादृष्टियोंमें उसकी माता दयाको ढूँढना निष्फल है। वह तो जैन दिग्म्बर साधुओं और यतियोंके हृदयमें मिल सकती है। दयाका पता पाकर शान्ति हर्षसे नृत्य करने लगी। तीनों दयासे मिलीं। दयाने बतलाया कि किस प्रकार उसे विकराल हिंसा व्याघ्री मृगीके समान उठा ले गयी थी, तब भगवान् अर्हन्तने वाग्देवीको भेजा जिसके उपदेश-वाणों से विद्ध तथा गर्जनासे भयभीत हुई हिंसा मुझे छोड़कर भाग गयी। वाग्देवीके आदेशानुसार ही वह शान्ति को साथ ले प्रबोध राजाके पास चली गयी और क्षमा व परीक्षाको उसने वाग्देवीके पास भेज दिया। इधर प्रबोध राजाने विवेककी सलाहसे न्याय नामक दूतके द्वारा मोहराजको यह सन्देश भेजा कि या तो तुम महात्माओंके हृदयों और वाराणसी पुरीका राज्य छोड़कर म्लेच्छ देशोंमें चले जाओ या युद्धके लिए तैयार हो जाओ। अधर्म नामक द्वारपालने न्यायको मोहराजके सम्मुख उपस्थित किया। प्रबोधका सन्देश सुनकर मोह कुपित हुआ, राग-द्वेषकी आँखें लाल हो उठीं और सप्तव्यसन दूतको मारनेके लिए तैयार हो गये। मोहने उन्हें दूतकी हत्या करनेसे रोका, किन्तु अहंकारने मोहको पुनः क्षुब्ध किया। उसने यह कहकर दूतको विदा किया कि पार्श्वनाथकी पावन जन्मनगरी वाराणसीको कभी अर्हन्तने भले ही प्राप्त की हो, किन्तु अब मैं तलवारकी धारसे उसपर अपना राज्य दृढ़ करूँगा। न्यायने वापिस आकर प्रबोधको अपने राज-चिह्न प्रकट करनेकी प्रेरणा की। पट्टवन्ध और चामर सच्चे राज्य-चिह्न नहीं, क्योंकि ये तो व्रण (घाव)के लिए भी किये जाते हैं। सच्चे देवका नमन, सच्चे शास्त्रका अनुशासन तथा आश्रितोंका भरण-पोषण ही यथार्थ राज-चिह्न हैं। संग्राम-भेरी बज उठी। सम्यक्त्व, विवेक, सन्तोष, दशविध धर्म, संयम, संवेग, शील, दम, दान आदि सुभट सपरिवार उठ खड़े हुए। क्षमा, परीक्षा, श्रद्धा, दया, शान्ति, मैत्री, भक्ति आदि विद्याधरियाँ विमानारूढ़ होकर चल पड़ीं। सप्त तत्त्व, षड् द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, नव पदार्थ और प्रमाणद्वयसे युक्त तर्कविद्या स्याद्वाद-सिंहपर आरूढ़ होकर चल पड़ी। ऐसे प्रबल सैन्यसहित प्रबोधराजने वाराणसीके निकट पहुँचकर दूरसे ही वहाँके जिन-मन्दिरका दर्शन व वन्दन किया और सीमापर ही डेरा डाल दिया। मैत्री स्वजनोंके मरणकी आशंकासे घबराकर सम्मेलिशिखरको चली गयी। वाग्देवीने आकर उससे प्रबोधवत्सका कुशल-सम्बन्धी वार्तालाप किया। न्यायने आकर खबर दी कि प्रबोध और मोहके बीच युद्ध प्रारम्भ होनेपर क्रमशः विनयने अहंकारका घात किया तथा शीलने कामका। क्षमा और शान्तिने क्रोध व हिंसाको मार भगाया। लोभने अपनी तृष्णा-नारी और रागद्वेष-पुत्रों सहित आकर अपनी मारसे विवेकको मूर्च्छित कर दिया। यह समाचार जानकर प्रबोध भी मूर्च्छित हो गया। तब उन दोनोंको जिन-भक्तिने हस्तामृतसे सींचकर सचेत किया। पुनः युद्ध होनेपर विवेकने विचार-वाणसे राग-द्वेष दोनोंका उच्छेद कर डाला। पुत्रोंके मरणसे दुखी और क्षुब्ध होकर लोभने घोर संग्राम किया, किन्तु अन्तमें वह भी सन्तोषके निराग-वचन नामक शरोंसे विद्ध होकर मर गया। तब मोहसे प्रेरित होकर सप्तव्यसन एवं बौद्ध, श्वेताम्बर, चार्वाक, नैयायिक, कापिल व मीमांसक आगम क्षत्रयुद्ध छोड़ अक्षत्र युद्ध करने लगे। उन्हें एक तर्कविद्याने ही पराजित कर डाला। तब वे सब नाना दिशाओंमें भाग गये। उनमेंसे सौगतोंने सिंहल और पारसीक आदि देशोंमें प्रतिष्ठा प्राप्त की; सौराष्ट्र, मरुस्थल और गुर्जर देशोंमें श्वेताम्बरोंने, पाञ्चाल और महाराष्ट्रमें चार्वाकों तथा गंगापार, कुंकण, तिलंग आदि म्लेच्छप्राय देशोंमें मीमांसक और शैवोंने। ऐसी अवस्थामें मोह कलियुगके साथ वाराणसीको छोड़ कहीं अन्यत्र जा छिपा। इन सबका पालक पिता मन मूर्च्छित होकर पड़ रहा। यह सुनकर देवीने कहा कि-अब पुरुष अपने शुद्ध रूपमें प्रकट होगा। मनको वैराग्य उत्पन्न करानेके लिए मैत्रीको अनुप्रेक्षाके पास भेजा। उसने जाकर वाग्देवीका पत्र दिया जिसमें मनको ऐसा बोध प्राप्त करानेका उपदेश था जिससे पुनः

भ्रमोत्पत्तिकी सम्भावना न रहे। मनने अपने संकल्प, तृप्ता, रति, द्विष्टा आदि मगस्य परिवारके मरणपर विलाप किया और वह शोकसे विह्वल हो अपनेको समुद्रमें डुबाकर प्राणान्त करनेके लिए तत्पर हुआ। तभी अनुप्रेक्षाने आकर उसे वैराग्य उत्पन्न कराया। वैराग्यके उपस्थित होनेपर मनने उसे पुत्र कहकर सम्बोधित किया और इतने दिनोंतक पिताकी चिन्ता न करनेकी निकायत की। अनुप्रेक्षाने उसे निर्दूत्तिको अपनी गृहिणी, प्रबोध आदिको पुत्र और शम दमादिको अपने परिचारक माननेका उपदेश दिया, जिससे पुरुष स्वयमेव जीवन्मुक्त हो सके (अंक ३)।

अब केवल ज्ञानोदयके लिए पहले श्रद्धाने आकर बतलाया कि उसे प्रबोधने वाग्देवीके नामसे अष्टमती लानेकी भेजा है। इसी समय क्षमाने आकर बतलाया कि उसे पुरुषने प्रबोधको मुलानेके लिए भेजा है क्योंकि वह अब अपनी कुमति महिलाका मुख भी नहीं देखना चाहता। उसका रनेह अब केवल कुमति भाषामें है। फिर श्रद्धा अष्टमती लेने और क्षमा प्रबोधको मुलानेके लिए गयी। पुरुषने आकर अर्द्धद्विणीके प्रभावसे अपने उपद्रवोंकी शान्ति, दुःखसागरसे पार तथा जन्म-मरणके महाबन्धनसे मुक्ति मिल जानेकी प्रशंसा की। इसी बीच अष्टमतीके सहित श्रद्धा लौट आयी। अष्टमती अपने श्वसुर पुरुष तथा पति प्रबोध द्वारा उसका दीर्घ कालतक उपेक्षा किये जानेकी शिकायत करती है और श्रद्धा उसे समझाती है कि यह सब कुमति और उमके पुत्र मोहके प्रभावसे हुआ, उसमें उसके पति और श्वसुरका दोष नहीं। क्षमाने प्रबोधको बतलाया कि कुतर्क विद्याके भयसे अष्टमतीने पात्रकेशरी सूरिके मुखकमलमें प्रवेश कर लिया था। पुरुषने आकर प्रबोधका आलिंगन किया और उसे ही अपना पारमार्थिक पुत्र स्वीकार किया, दूसरोंको भ्रान्ति उत्पादक उपाधिकरूप। अष्टमतीने पुरुषके पैर पड़े और बतलाया कि उसने इतने दिन जटोंके साथ व्यतीत किये। वे मेरे भावकी परिकल्पना न कर सकनेके कारण केवल मेरी निन्दा करते थे। मैंने सांख्यविद्याके स्थानमें निवास करना चाहा। उसके पूछनेपर मैंने अपना अनेकान्त-स्वभाव प्रकट किया। उसने शंका की कि मेरे संगसे उसके दिव्य नित्यकान्त पक्षमें शिथिलादर हो जायेंगे। अतएव उसने मुझे निवास प्रदान नहीं किया। वहाँसे चलनेपर मुझे बौद्ध-विद्या मिली। किन्तु उसने अपने अणिककान्त पक्षमें विक्रिया उत्पन्न होनेके भयसे मुझे स्थान नहीं दिया। इसी प्रकार मीमांसासे भेंट होनेपर उसने अपने एकान्ताद्वैतके आग्रहसे मुझे निवास नहीं दिया। न्यायविद्याने अपने पृथक्त्वकान्त पक्षके आग्रहसे मुझे अपने पास नहीं रखा। अन्ततः मैंने पात्रकेशरीके मुखकमलमें पहुँचकर विश्राम पाया और उन्होंने अष्टसहस्री रूपसे मेरी पुष्टि की। यह सुनकर सबने सहर्ष साधुवाद किया। राजा (प्रबोध) ने कहा तुम्हारे विना भगवान् अर्हन्त स्वेच्छाचारो दुष्टोंको क्षमा नहीं करते। इसपर पुरुषने पूछा हे भगवती, यह अर्हत् है कौन? अष्टमतीने बतलाया कि तुम्हीं तो अर्हत् हो, भेद बुद्धि तो इस मोहने उत्पन्न की है। पुरुषने इस पापी मोहके हनन करनेका उपाय पूछा। अष्टमतीने बतलाया कि समस्त प्रकृतियोंके हनन से आत्मा स्वात्ममें तल्लीन हो जाता है और इसी तल्लीनतासे मोहका समूल क्षय हो जाता है। यह तल्लीनता अध्यात्म ध्यानसे ही प्राप्त होती है? अब ध्यानने प्रवेश किया और कहा कि मुझे वाग्देवीने पुरुषमें निवास करनेका आदेश दिया है। प्रबोधने ध्यानका आलिंगन किया। पुरुषने चार प्रकारके धर्मध्यान-द्वारा दर्शना-वरण, ज्ञानावरण, अन्तराय और मोहका नाश कर केवलज्ञान प्रकाश रूपी महोदय प्राप्त किया। वाग्देवीने प्रकट होकर पुरुषसे पूछा—पुत्र, अब और मैं तेरे लिए कौन-सी प्रिय बात करूँ? पुरुषने कहा अब इससे बड़ा प्रिय वचा ही क्या? वाग्देवीने कहा—इसके ऊपरका कल्याण मुक्ति है। पुरुषके इसकी इच्छा प्रकट करनेपर वाग्देवीने शुक्लव्यानके द्वारा अघाति चतुष्टयका विनाश कर मुक्ति प्राप्त करनेका आदेश दिया जिसे पुरुषने स्वीकार किया (अंक ४)। प्रशस्तिमें कविने अपनी उपर्युक्त गुरु-परम्परा देकर कहा है कि उन्होंने इस नाटककी रचना सं० १६४८ (वसुदेवरसाब्जाङ्के) माघ शुक्ल ८ को मधूक नगरमें की।

प्रतीकात्मक कथाओंकी जैन परम्परा

अर्धमागधी जैन आगमोंमें अनेक ऐसे छोटे बड़े कथानक हैं जिनमें भावात्मक गुणोंकी व्यक्तित्व प्रदान कर उनकी क्रियाओं-द्वारा उपदेश देनेका प्रयत्न किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र इस प्रकारके छोटे-छोटे

रूपकोंसे भरा हुआ है। किसीने एक एणक (बकरा) पोपा और उसे खूब खिलाया-पिलाया। किन्तु उसका धोम तभी तक है जबतक उसका गला काटकर खा लिये जानेका दिन नहीं आया। इसी प्रकारका वह मूर्ख है जो सुख-भोग करता हुआ नरक जानेकी तैयारी कर रहा है (उ० ७, १-४)। तीन व्यापारी अपना-अपना मूल धन लेकर निकले। एक उसमें वृद्धि करके घर लौटा। दूसरा जितनाका-तितना लेकर और तीसरा मूलमें-से भी कुछ गमाकर। मनुष्यत्व मूलधन है। देवगति उससे अधिक लाभ रूप है, व नरक और तिर्यच गतियां हानिरूप हैं (उ० ७, १४-१६)। श्रद्धा नगर है, तप और संयम उसके द्वारकी अर्गला, क्षमा प्राकार, पराक्रम धनुष और धृति है उस नगरकी ध्वजा। मुनिको सत्यके द्वारा परिमन्थन करना चाहिए व तपरूपी वज्रदाणसे कर्म-कंचुकको भेद कर संग्राम जीत, संसार-भ्रमणसे मुक्त होना चाहिए (उ० ९, २०-२२)। वनमें आग लगी है और जीव-जन्तु जलकर भस्म हो रहे हैं। फिर भी दूसरे प्राणी आमोद-प्रमोदमें लवलोल हैं। राग-द्वेष रूपी अग्निसे जगत् जल रहा है और हम काम-भोगोंमें मूर्च्छित हुए कुछ नहीं विचार करते (उ० १४, ४२-४४)। एक गीला और दूसरा सूखा, ऐसे दो मिट्टीके गोले दिवालपर गिरे। गीला गोला वहाँ चिपक रहा। लालची जीव आसक्त होते हैं, विरक्त नहीं (उ० २५, ४२-४३)।

किन्तु ये रूपक दृष्टि-कूटक या पहेलियाँ मात्र हैं। उन्होंने पूर्ण कथाका रूप धारण नहीं किया। परन्तु सूत्र-कृताङ्ग नामक द्वितीय श्रुताङ्ग (सू० २, १) में जो पुण्डरीक अध्ययन है वह कथाके सर्व अङ्गों और गुणोंसे सम्पन्न है। भगवान् महावीरने एक वार कहा—

एक सरोवर था। उसमें खूब जल था और बड़े सुन्दर सुगन्धी कमल भी चारों ओर खिल रहे थे। उनके बीचमें एक कमल तो इतना बड़ा और ऐसा रमणीक और सुगन्धी था कि वह हर-किसीका चित्त आकर्षित कर लेता था। पूर्व दिशासे एक पुरुष आया और उस कमलको तोड़नेकी इच्छासे सरोवरमें प्रविष्ट हुआ। किन्तु वहाँ कीचड़ भी बहुत थी। वह उसीमें फँसकर रह गया। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओंसे भी क्रमशः मनुष्य आये और उस श्रेष्ठ कमलको पानेकी अभिलाषासे सरोवरमें घुसे। किन्तु प्रथम पुरुषके समान वे सभी उस कमलके समीप पहुँचे बिना बीचमें ही कीचड़में फँसकर रह गये। तत्पश्चात् एक जीर्ण-देह भिक्षु वहाँ आया। उसने सरोवरके तीरपर खड़े होकर उस उत्तम कमलको भी देखा और उन कीचड़में फँसे हुए पुरुषोंको भी। वह विचार करने लगा—अरे, इन पुरुषोंने इस क्षेत्रको नहीं जाना। ये न कुशल हैं, न पण्डित, न ज्ञानी, न मेधावी। इन्होंने बालक-जैसा मूढताका कार्य किया है जिसका उन्हें यह फल मिला। उस भिक्षुने तटपर खड़े-खड़े ही आवाज लगायी। आश्चर्य, कि उस शब्दध्वनि-मात्रसे ही वह पुण्डरीक सरोवरसे निकलकर उस भिक्षुके हाथ आ गया।

भगवान् महावीरने अपने श्रोताओंको इस कथाका भावार्थ समझाया। यह लोक ही सरोवर है और कर्म है उसका बहुल जल। यहाँके काम-भोग ही उस सरोवरकी कीचड़ है। जनतामें जो सब प्रकारके छोटे-बड़े व्यक्ति हैं वे ही उस सरोवरके कमल हैं और उनका राजा ही वह महाकमल है जो सबको आकर्षित करता है। नाना मतोंके अल्पज्ञ तीर्थक (उपदेशक) ही वे पुरुष हैं जो राजाको अपना मतानुयायी बनाने के लिए सहसा वहाँ आ फँसते हैं। वह भिक्षु सच्चा धर्म है और जहाँ वह आकर खड़ा होता है वह तट है धर्मतीर्थ। धर्म-कथा ही उसकी वह आवाज है और उस महाकमलकी प्राप्ति ही है उसका निर्वाण-लाभ।

इस रूपकके आधारपर भगवान् महावीरने आगे भौतिकवाद, ईश्वरवाद, नियतिवादादि दार्शनिक मतोंका स्वरूप बतलाया है और उनके गुण-दोषोंपर विचार किया है।

छठा श्रुताङ्ग णाय-धम्म-कहाओमें तो प्रायः सभी आख्यान इसी प्रतीक-प्रणालीके हैं। यहाँ एक-मात्र उदाहरण दिया जाता है—

राजगृह नगरमें धन नामक सेठ अपनी भद्रा भार्या सहित रहता था। उनके चार पुत्र थे—धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित। उनकी चार वधुएँ थीं—उज्झिका, भोगवती, रक्षिका और रोहिणिका। सेठने विचार किया कि इनकी परीक्षा करनी चाहिए कि कौन वधु कैसा घर चला सकती है। उसने चारों वधुओंको बुलाकर उन्हें पाँच-पाँच शालि अक्षत दिये और कहा इनकी भुले प्रकार रक्षा करना, तथा जब मैं

माँगू तब मुझे लौटा देना । उज्जिकाके विचार किया कि हमारे घरमें धानके पत्थेके-पत्थे भरे रहने हैं; उनमें से कभी भी पाँच दाने दबसुरजीको दे दूँगी । अत एव उसने उन्हें एक थोर फेंक दिया । भोगवतीने भी ऐसा ही सोचा, किन्तु उसने अपने हिस्सेके पाँच दानोंको फेंका नहीं, किन्तु लीज-लीजकर गा लिया । रक्षिकाने विचार किया जब घरमें इतना धान्य होनेपर भी दबसुरजीने इन पाँच दानोंकी रक्षा करनेका आदेश दिया है, तो अवश्य इसमें कुछ रहस्य है । अत एव उसने उन्हें एक रत्नमयी लिखीमें रगकर अपने नाकमेंके नीचे रग लिया और दिन-रात उनकी चिन्तामें रहने लगी । रोहिणिकाने भी विचार तो रक्षिकार्थे समान ही किया, किन्तु उसने उनकी उस प्रकार रक्षा न कर कियारीमें बीजारोपण करा दिया और बार-बार फसल लेकर खूब धान्य बढ़ाया । अन्तमें जब सेठने उनसे अपने पाँच धान-बीज वापिस माँगे और उसे पूर्वोक्त वृत्तान्त जान हुआ तब उसने अपनी बधुओंकी प्रकृतिको समझ कर उज्जिकाको घरमें लाउने-पौलनेका काम मीमा । दूसरी भोगवतीको धान्य कूटने-पीसने व भोजनशालाका काम-बन्धा मीमा । रक्षिकाको उसने अपने गोले-चाँदीके भण्डारकी रक्षाका काम मीमा तथा रोहिणिकाको समस्त कुलमूहकी प्रधान मन्त्राणी नियुक्त किया ।

इस दृष्टान्त द्वारा सुधर्म स्वामीने जम्बूको समजाया है कि जो निर्धन्य मुनि अपने पाँच महात्रनोंको छोड़ देता है व खण्डित करता है, वह श्रमणों-द्वारा निन्दनीय है; जो उनकी पूर्णतः रक्षा करता है वह अर्चनीय, तथा जो उन महात्रनोंकी वृद्धि करता है वह समस्त श्रमणों-द्वारा पूजनीय व वन्दनीय होता हुआ संसारसे मुक्त होता है ।

श्रुतान्तोंमें उपर्युक्त यह कथात्मक प्रतीक-प्रणाली आगे लूब बढ़ी । संघदास गणी कृत प्राकृत कथा वसुदेव हिंडी (६ थी शती) में इस प्रकारकी सुन्दर कथाएँ पद-पदपर प्राप्त होती हैं । हरिभद्र मूरि कृत प्राकृत आख्यान समरादित्य कथा (८ वीं शती) यवार्थतः एक प्रतीक आख्यान ही है जिनमें यह दर्शाया गया है कि कपायोंके बशीभूत हुआ मनुष्य किस प्रकार नीचे गिरता है और मधु परिणामोसे कैसे उच्च, उच्चतर और उच्चतम गतिको प्राप्त होता है । वसुदेव हिंडी और समरादित्यमें हमें यह प्रतीक कथा मिलती है जो मधुविन्दु दृष्टान्तके नामसे जैन धार्मिक-साहित्यमें विख्यात है ।

एक दरिद्री पुरुष अपनी दशा सुधारने देश छोड़ परदेशके लिए चला । मार्गमें एक सघन वनमें वह पथभ्रष्ट हो गया । भूख-प्याससे दुखी हुआ आँखें फाड़-फाड़ कर चारों ओर जलकी खोज करता हुआ वह देखता क्या है कि पीछेसे एक मदीमन्त वनहस्ती उसपर आक्रमण कर रहा है और आगे एक महा विकराल राक्षसी आ रही है । वह अत्यन्त भयभीत हो अपनी रक्षाका उपाय खोजने लगा । समीप ही एक बट वृक्ष था । वह उसपर चढ़कर अपने प्राण बचाना चाहता था । किन्तु वृक्षके स्कन्धकी मुटाई और ऊँचाईके कारण वह उसपर चढ़ न सका । इधर वनगज उसके समीप आ पहुँचा । इधर-उधर अकचका कर देखते हुए वह समीपके एक अन्धकूपमें जा कूदा । भाग्यसे उसे बट वृक्षकी एक जड़ पकड़में आ गयी जिससे वह लटक गया । अब नीचेकी देखता है तो वहाँ चारों ओर चार महा विकराल भुजंग अपना फण उठाये उसे इसनेके लिए आवुर हो रहे हैं और उनके बीच एक महाभीमकाय अजगर फुफकार रहा है । ऊपरको देखता है तो दो मूपक एक सफेद और दूसरा काला बटकी उसी जड़को काट रहे हैं जिससे वह लटका था । उधर उस वन-गजने क्रोधसे उस बटवृक्षको झकझोरा जिससे उसके ऊपर लगे हुए मधु-छत्तेसे उड़कर मधुमखियाँ उस पुरुष के समस्त शरीरको डसने लगीं । कुछ मधुविन्दु उस पुरुषके सिरपरसे हलकते हुए उसके मुँहमें जा पहुँचे और वह उन्हें चाटता हुआ हर्षित होने लगा ।

अब इस उदाहरणका उपसंहार सुनिए : इस कथानकका जो पुरुष है वह है जीव और उसका वनमें भटकना है चतुर्गतिका भ्रमण । वनगज है मृत्यु, निशाचरी जरा और बट वृक्ष हैं मरणगतिके भयसे रहित मोक्ष जिसपर विपयातुर मनुष्य चढ़ नहीं सकते । वह जो कूप है वह है मनुष्य गति; उसमें चार भुजङ्ग हैं चार कपाय । जो वह बटवृक्षका तना है जिससे वह पुरुष जाकर लटका था, वह है मनुष्यायु जिसे दो मूपक रूपी शुक्ल और कृष्ण पक्ष क्षीण कर रहे हैं । जो वे मधुमखियाँ उस पुरुषको आकर डसती हैं वे हैं जीवन् की नाना-व्याधियाँ जिनके कारण मनुष्यको क्षणमात्र भी सुख नहीं मिल पाता । धार अजगर नरक गति है

जिसमें पड़कर जीवको सहस्रों दुख भोगना पड़ता है। वे जो मधुके बिन्दु झर रहे हैं वे हैं मनुष्यगतिके तुच्छ विषय-सुख जिनका परिणाम अन्ततः बड़ा दारुण होता है। इस प्रकार यह भव्य जनोंके मोहको छुड़ानेके लिए एक प्रबल दृष्टान्त है। (समरा-भव २)

हरिभद्रके पश्चात् उक्त प्रतीक शैलीको और अधिक पुष्ट करनेका श्रेय उद्योतन सूरि "दाक्षिण्यचिह्न" को है जिन्होंने अपनी प्राकृत रचना कुवलयमाला नामक कथाको शक संवत् ७००के पूरे होनेमें एक दिन शेष रहनेपर सम्पूर्ण किया था। उन्होंने हरिभद्रका उल्लेख सिद्धान्त-गुरुके रूपमें किया है और इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने हरिभद्रकी रचनाओंको अपना आदर्श माना है। कुवलयमाला कथा-गुणोंसे परिपुष्ट बाणकी कादम्बरीके समान एक बड़ा रोचक उपन्यास है। किन्तु कर्ताने उसे एक धर्मकथाकी पृष्ठ-भूमिपर उपस्थित किया है। उसके नायक कुवलयचन्द्र हैं पूर्वजन्मके मानभट्ट, और नायिका कुवलयमाला है पूर्व जन्मका मायादित्य। उनके अन्य साथी और सहायक हैं अपने-अपने पूर्व जन्मके चण्डसोम, लोभदेव और मोहदत्त जिन्होंने सम्बोधित होकर परस्पर यह प्रतिज्ञा की थी कि आगाभी जन्मोंमें वे एक दूसरेको यथाशक्ति बोधिलाभ कराकर सद्गति प्राप्त करनेमें सहायक होंगे। इस प्रकार यह पूरा उपन्यास चारों कपाय और मोहके दुष्परिणाम और उनसे उद्धार पानेके उपायका प्रतिपादक सुन्दर प्रतीकात्मक कथानक है।

इसी परम्परामें प्रतीक शैलीको उसकी चरम सीमापर पहुँचानेका कार्य सिद्धि-द्वारा सम्पन्न हुआ।

सिद्धिपिकृत उपमिति-भवप्रपंचा कथा संस्कृतमें जैन रूपक रचनाका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। कविने स्वयं ग्रन्थकी प्रशस्तिमें अपनी गुर्वाविलो प्रकट की है जिसमें उन्होंने निर्वृत्तिकुलके सूर्याचार्य, देल्लमहत्तर और दुर्गस्वामीके नाम लिये हैं। दुर्गस्वामी एक धनी ब्राह्मण थे जिन्होंने जैन-धर्म ग्रहण किया था। उनकी मृत्यु भिल्लमाल (दक्षिण मारवाड़में स्थित आधुनिक भीनमाल) में हुई थी। उन्होंने आचार्य हरिभद्रको अपना 'धर्मबोधकरः गुरुः' कहा है, और यह भी प्रकट किया है कि 'उन्होंने भविष्यमें आनेवाले मेरे लिए ही अपनी चैत्यवन्दन-संश्रित ललितविस्तरा वृत्ति लिखी थी'। इससे स्पष्ट है कि हरिभद्र सिद्धिपिके साक्षात् गुरु नहीं थे, किन्तु उनसे पूर्व ही हो चुके थे। किन्तु सिद्धिपिने उनके ग्रन्थोंसे बहुत ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने एक स्थानपर समरादित्यकथाका भी उल्लेख किया है। सिद्धिपिने उपमितिभवप्रपंचा कथाका रचनाकाल संवत् ९६२, ज्येष्ठ शुक्ल ५, गुरुवार, प्रकट किया है।

उपमितिभवप्रपंचा कथाका आख्यान इस प्रकार है—अदृष्टमूलपर्यन्त नगरमें एक निष्पुण्यक नामक कुरूप भिक्षुक रहता था। भिक्षामें उसे जो थोड़ा-सा रूखा-सूखा भोजन मिलता था, उससे उसकी तृप्ति नहीं होती थी, किन्तु उसकी क्षुधा-व्याधि बढ़ती ही थी। एक बार वह उस नगरके सुस्थित नामक राजाके प्रासादपर भिक्षाके निमित्त गया। धर्मबोधकर नामक रसोइये व उसकी तद्दया नामक पुत्रीने उसे स्वादिष्ट भोजन कराया, विमलालोक नामक अंजन लगाया, तथा तत्त्वप्रीतिकर जलसे कुल्ला कराया। इससे उसे बड़ी शान्ति मिली और वह धीरे-धीरे नीरोग हो गया। धर्मबोधकर रसोइयेने उसके लिए सद्बुद्धि नामक धात्री नियुक्त कर दी। धीरे-धीरे निष्पुण्यक सुपुण्यक बन गया। अब वह अपनी उस ओषधिका लाभ दूसरोंको देनेका प्रयत्न करने लगा। किन्तु उसके पूर्व जीवनसे परिचित लोग उसकी प्रतीति नहीं करते थे। तब सम्यग्दृष्टिने उसे अपनी तीनों ओषधियोंको एक काष्ठ-पात्रमें रखकर राजप्रासादके प्रांगणमें आरोपित करनेकी सलाह दी जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वयं उनसे लाभ उठा सके। यहाँ कविने अपने रूपकका खुलासा कर दिया है। अदृष्टमूलपर्यन्त नगर यह संसार है और निष्पुण्यक अन्य कोई नहीं स्वयं कवि। राजा सुप्रतिष्ठ जिनराज हैं, और उनका प्रासाद जैन-धर्म। धर्मबोधकर रसोइया गुरु है और उसकी पुत्री उनकी दयादृष्टि। ज्ञान ही अंजन है, सच्चा धर्म मुख-शुद्धिका जल तथा सच्चारित्र ही स्वादिष्ट भोजन है। सम्यग्दृष्टि ही पुण्यका मार्ग है और वह काष्ठपात्र एवं उसमें रखी तीन ओषधियाँ आगे वर्णित कथानकके अनुसार हैं।

मनुजगति नगरका राजा कर्मपरिणाम बढ़ा क्रूर और असीम शक्ति-शाली है। उसने अपने विनोदके लिए भवभ्रमण नाटक कराया है जिसमें नानारूप धारण कर जगत्के प्राणी भाग ले रहे हैं। कोई नारकी बनकर रोते और कराहते हैं, कोई कौवे, विल्ली, चूहे, हाथी, सिंह आदि बन नाना नृत्य कर रहे हैं; कोई

कुवड़े, बीने, गुंगे और अन्धे, दुखी, दरिद्री आदि घनकर नाना रस उत्पन्न कर रहे हैं। राजनतनी काल-परिणति भी अपने पतिके साथ इस नाटकका रस ले रही है। किन्तु उसे पुत्रकी इच्छा है। पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका पिताने भय और माताने सुमति नाम रखा। उसी नगरमें सदागम नामके आचार्य थे। राजा उनसे बहुत आशंकित रहता था, क्योंकि वे उनके उस नाटकका खेल विगाड़ते थे। कितने ही पात्रोंको उन्होंने उम नाटक से छुड़ाकर निर्वृत्ति नगरमें जा बसाया था। तथापि प्रज्ञाविशाला नामक द्वारपालिकाके द्वारा राजकुमार भय-की भेंट सदागम आचार्यसे हो गयी और उनके द्वारा राजकुमारके विधित होनेके लिए राजाभा भी मिल गयी। एक वार जब आचार्य उपदेश दे रहे थे, तब संसारीजीव नामक चोरके पकड़े जाने व न्यायालयकी ले जानेका कोलाहल सुनायी दिया। प्रज्ञाविशालाके प्रयत्नसे वह सदागम आचार्यके पास लाया गया और वहाँ उसने अपना वयान निम्न प्रकार दिया —

मैं बहुत पहले स्थावर लोकमें रहता था; फिर एकन्द्रिय नगरमें रहने आया और वहाँ पृथ्वीकाय, जलकायादि गृहोंमें कभी यहाँ कभी वहाँ रहने लगा। तत्पश्चात् कोट-पतंगादि रूप ब्रह्मलोकमें रूच्य भूमा। बहुत काल तक दुःख भोगकर अन्तमें मनुष्यलोकमें राजपुत्र नन्दिचर्धन बना। इन कार्यमें मेरा सहायक मित्र था पुण्योदय। किन्तु मेरा एक आभ्यन्तर मित्र वैश्वानर भी था जो मुझे क्रूर विचारोंकी गोलियाँ खिलाया करता था। इसी कारण विदुर-जैसे महर्षियों व शिक्षकोंके उपदेशोंका मुझपर कोई असर नहीं पड़ा। इनना ही नहीं, किन्तु मेरे उस मित्रने दुर्बुद्धि राजा और उनको निष्कर्षणा रानीकी पुत्री हिंससे मेरा विवाह करा दिया। इस कुसंगतिसे मैंने खूब आखेट खेला और असंख्य जीवोंका शिकार किया। चोरी, जुआरी आदि व्यसनों में भी कुख्याति प्राप्त की। यथासमय मैं अपने पिताका उत्तराधिकारी राजा बना। उसी उन्मादमें मैंने अनेक घोर कर्म किये। यहाँतक कि एक राजदूतको उसके माता-पिता व भाव्या तथा बन्धु व सहायकों सहित मरवा डाला। एक युवकसे मेरी लड़ाई हो पड़ी और हम दोनोंने एक दूसरेको बेधकर मार डाला। फिर हम दोनों नाना पापयोनियोंमें उत्पन्न हुए और अहि-नकुल, सिंह-मृग आदि रूपसे एक दूसरेके भय-भक्षक बनते रहे। अन्ततः मैं रिपुद्वारण नामक राजकुमार हुआ, तथा शैलराज और मृपावाद मेरे मित्र बने। इनके आगे मेरे पुण्योदय मित्रकी बात नहीं चल पाती थी। पिताकी मृत्युके पश्चात् मैं राजा बना। मैंने पृथ्वीके सम्राटकी अवहेलना की, एक जाड़गरने मुझे नीचा दिखाया और मेरे ही सेवकोंने मेरा घात कर डाला। इस सबका फल मैं नरक-तिर्यक् योनियोंमें भोगता फिरा। मैं पुनः मनुष्य-लोकमें आया और सेठ सोमदेवका पुत्र वामदेव हुआ। मृपावाद, माया और स्तेय मेरे मित्र बने। एक सेठकी चोरी करनेके कारण मुझे फाँसी मिली और मैंने फिर नरक और तिर्यक् लोकोंका चक्कर काटा। मैं एक वार पुनः सेठ-पुत्र हुआ। इस वार पुण्योदय और सागर मेरे आभ्यन्तर मित्र बने। दूसरे मित्रकी सहायतासे मैंने खूब धन कमाया। एक राजकुमार मित्रके साथ मैं समुद्र-यात्रापर गया। लोभवश मैंने उसे मारकर उसका धन हड़पनेका प्रयत्न किया, किन्तु समुद्रदेवने उसे बचा लिया और मुझे जलमें पटक दिया। किसी प्रकार मैं तटपर पहुँचा और दुर्दशामें भ्रमण करने लगा। मैं कुछ द्रव्य गाड़कर रखना चाहता था, किन्तु एक बैताल मुझे खा गया। पुनः नरक और तिर्यक्लोकके चक्कर लगाकर मैं घनवाहन राजकुमार हुआ। मेरा अकलंक नामक चचेरा भाई था जो जैनधर्मी बन गया। उसके द्वारा मैं सदागम आचार्यके सम्पर्कमें आया। किन्तु महामोह और परिग्रह मेरे मित्र बन बैठे, जिन्होंने मुझे पूर्णतः अपने वशीभूत कर लिया। मैं राजा बना, किन्तु अपनी दुर्नीतिके कारण हटा दिया गया और दुःखपूर्वक मरा। मैंने पुनः वही नरक और तिर्यक् लोकका भ्रमण भोगा। तत्पश्चात् मैं साकेत नगरमें अमृतोदय नामक पुरुष हुआ। अब मेरा उत्थान प्रारम्भ हुआ। मैं जैनधर्मी हो गया और उसके प्रभावसे क्रमशः अनेक वार देव और मनुष्य बना। फिर मैं राजा गुणधारण हुआ और सदागम व सम्यग्दर्शन मेरे साथी बने। मैंने शान्ति, मृदुता, ऋजुता आदि दश कुमारियोंसे विवाह किया और न्याय-नीतिसे राज्य किया। आयुके अन्तमें मैंने मुनिव्रत धारण किये, भरकर देव हुआ और फिर मनुष्य। मैं अब वही संसारी जीव अनुसुन्दर नामक सम्राट् हूँ। अब सदागम और सम्यग्दर्शन ही मेरे आभ्यन्तर मन्त्री हैं। महामोहका अब मुझपर कोई वश नहीं चलता। मैं सबके कल्याणार्थ अपना यही अनुभव सुनानेके लिए चोरके रूपमें यहाँ

उपस्थित हुआ है ।

वह संसारी जीव अपना यह वृत्तान्त सुनाकर ध्यानस्थ हो गया और धारीर छोड़ उत्तम स्वर्गमें देव हुआ ।

सिद्धिपिके आध्यात्मिक रूपक उपन्यासका यह अति संधिप्त सार है । मूलमें समस्त वृत्तान्त विस्तारसे सरल, सरस और सुन्दर संस्कृत गद्यमें, व कहीं-कहीं पद्यमें, वर्णित है । उसमें अनेक अवान्तर कथाओंका भी समावेश है । कविने समस्त जैन-सिद्धान्तको उपन्यासके रूपमें ढालनेका अपने युगके अनुसार बड़ा सफल प्रयत्न किया है । कहा नहीं जा सकता कि उसका पाश्चात्य देशोंमें प्रभाव पड़ा या नहीं, किन्तु इसे पढ़कर जान वनवनके अंग्रेजी रूपक आख्यान पिलग्रिम्स प्रांगेसका स्मरण आये बिना नहीं रहता । इस अंग्रेजी रूपक (allegory) का विषय भी संसारी जीवका धर्म-यात्रा-द्वारा उत्थान ही है और अनेक बातोंमें उसका सिद्धिपिकी रचनासे मेल खाता है ।

काम-सम्बन्धी काव्य-परम्परा

ऋग्वेदमें यद्यपि प्रकृतिकी नाना शक्तियोंको देवता रूप माना गया है, तथापि वहाँ कामदेव अथवा उसकी पत्नी रतिका अवतार नहीं हो पाया । केवल ऋग्वेदके दसवें मण्डल (१०, २९, ४) में सबसे प्रथम मनके रेत रूप कामकी उत्पत्तिका उल्लेख आया है । तत्पश्चात् काम और उसकी इषु (वाण) का उल्लेख हमें अथर्व वेद ३, २५ में दिखायी देता है (देखिए परिशिष्ट १) । इस सूक्तमें कोई प्रेमी अपनी प्रियसीको वशमें करनेके लिए उससे कहता है कि “कामकी भयंकर इषु तेरे हृदयको ऐसा वेधे कि जिससे वह (मेरे लिए) वेचैन हो उठे । काम आधि (मानसिक व्यथा) को पर्ण और कामनाको शल्य, तथा संकल्पको कुल्मल रूपसे अपनी इषुमें सुसज्जितकर तेरे हृदयको वेधे । इस इषु वेधनके प्रभावसे मृदु, निर्मन्यु (क्रोधरहित), केवली (शुद्ध-हृदय), प्रियवादिनी और अनुवृत्ता बनकर तू मेरे पास आ जाये, और अपने माता-पिताके कुलसे पृथक् होकर मेरी वशवर्ती बनकर मेरे चित्तमें बस जाये । हे मित्रावरुण, मैं तुमसे भी प्रार्थना करता हूँ कि तुम उसके हृदय को चेतनाको पलटकर उसे मेरे वशमें कर दो ।”

यहाँ काम और उसके वाणकी प्रेम-व्यापारमें कल्पना तो है, किन्तु न तो उसे देवका पद प्राप्त हुआ और न उससे विरक्तिका कोई संकेत या उपदेश पाया जाता । तत्पश्चात् पुराणोंमें और विशेषतः शिव-पुराणमें कामदेवकी उत्पत्ति आदिका कथानक विस्तारसे पाया जाता है । वैदिक ऋषि गृहस्थ थे उनके घर-द्वार, स्त्री-पुत्रादि सब होते थे । किन्तु श्रमण-परम्परामें आदितः कामवासनाको जीतकर पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रतके पालनपर बड़ा जोर दिया गया है । श्रमण मुनि घर-द्वार, स्त्री-पुत्रादि परिग्रहसे विमुक्त होता है । इस कारण उसे अपनी इन्द्रिय-लिप्सा और विशेषतः काम-वासनाके साथ महान् अन्तर्द्वन्द्व करना पड़ता है । इसी अन्तर्युद्धमें विजयी होकर व नाना कर्म-प्रकृतियोंका घात करके जैन मुनि वीतरागकी संज्ञा प्राप्त करते हैं । इसी विजयके द्वारा भगवान् बुद्धने मारजित्की उपाधि प्राप्त की थी । मार स्मार (स्मर-कामदेव) का ही रूपान्तर है । बौद्ध साहित्य बुद्ध और मारके बीच वार्तालाप व महासंग्रामके कथानकोंसे परिपूर्ण है, जिनमें मारको साक्षात् मनुष्य, यक्ष व राक्षसके रूपमें बुद्धके सम्मुख उपस्थित किया गया है । पालि त्रिपिटकके अन्तर्गत सुत्तनिपात (ईस्वी-पूर्व ३सरी शती) के पधान सुत्त (देखिए परिशिष्ट २) में वर्णन है कि बुद्ध घोर तपस्या करते हुए ध्यानमें तल्लीन नरंजरा नदीके तटपर आसीन हैं । मार आकर उनसे कहता है “तुम इतने दुर्बल हो गये हो कि मरण तुम्हारे समीप खड़ा है, तुम्हारा सहस्रभाग मरण रूप है और केवल एक अंश मात्र है जोवित । हे भद्र, जियो; जीना श्रेयस्कर है । जिन्दा रहे तो पुण्य बहुत कर लोगे । ब्रह्मचर्य पालकर अग्निहोम करके बहुत पुण्य कमाया जा सकता है । इस प्रधान तपसे क्या करोगे ?” इसपर बुद्धने मारको फटकारा—“रे प्रमत्त बन्धु, पापी, तू यहाँ मेरे पास आया ही क्यों ? मुझे अणुमात्र भी पुण्य नहीं चाहिए । जिन्हें पुण्यकी अभिलाषा हो, उनसे तू अपनी बात कह । मेरे पास श्रद्धा है, प्रज्ञा है और वीर्य है ।

वे ही मेरे परम हितकारी हैं। जब वातसे नदीकी धारा भी मूग जाती है, तब मेरे द्विगामभनमें यदि हम शरीरका रक्त सूख गया, तो कौन बड़ी बात है। लोह-मूगनेसे पित्त व श्लेष्म भी मूग जाते हैं, और ज्यों-ज्यों मांस क्षीण होता है, त्यों-त्यों चित्तमें प्रसाद उत्पन्न होता है, तथा मेरी स्मृति, प्रज्ञा और मर्माधि दृढ होती है। इस प्रकार चलते व उत्तम वेदन प्राप्त करते हुए मेरा चित्त कामकी अपेक्षा नहीं रखता। मे मार, काम ही तो तेरी प्रथम सेना है, दूसरी सेना है अरति, तीसरी क्षुत्पिपासा और चौथी कृष्णा। तेरी पाँचवीं सेना है स्नानगृद्धि, छठी भीरुत्व, सातवीं विचिक्रिया और आठवीं मृश (माया) और स्तम्भ। तू मिथ्या-लब्ध लाभ, दलोक, सत्कार और यश इन चारकी प्रशंसा करता है और दूसरे गुणोंको अवज्ञा। ते नमुनि, यह तेरी सेना कृष्ण (काले, नीचे प्रकृतिवालों) की ही अभिप्रहारक है। जो धर नहीं है वह तो इसे नहीं जीत पाता, किन्तु जो जीत लेता है वह सुखको पा जाता है। इस जीवन्को धिनकार है और वह तृणवत् त्यागने योग्य है। पराजित होकर जीनेसे मैं संग्राम करना श्रेयस्कर समझता हूँ। कुछ श्रमण ब्राह्मण इसीमें गड़े (फँसे) हुए हैं; वे वह मार्ग ही नहीं जानते जिससे मुक्तती जाते हैं।” ऐसा कहकर बुद्धने जब देगा कि मारने वाहनपर आरूढ हो अपनी सेना सहित उन्हें चारों ओरसे घेर लिया है, तब उन्होंने निश्चय कर लिया कि “मुझे युद्ध करना ही पड़ेगा जिससे वह दुष्ट उन्हें स्थान-च्युत न कर दे। उसको जिस सेनाको मनुष्य व देव सहन नहीं कर पाते, उसे मैं प्रज्ञा-द्वारा ऐसा भन्न कर दूँगा जैसे पत्थरसे कच्चे घड़ेको। और अन्न मैं मन्कल्पको वशमें कर व स्मृतिको सुप्रतिष्ठित करके एक राष्ट्रसे दूसरे राष्ट्रमें श्रावकोंको उससे दूर रखते हुए विचरूँगा। वे मेरे शासनकारी अप्रमत्त व प्रहितात्म होकर उस अकाम अवस्थाको प्राप्त होंगे जहाँ वह पापी न पहुँच सके।” मार कहता है मैंने बुद्धका सात वर्ष तक पद-पदपर पीछा किया किन्तु उस स्मृतिवान् संवृद्धपर उतरने योग्य अवकाश ही मुझे न मिला। जैसे काक भेदवर्ण पापाणके चक्कर मारता है कि यहाँ गायद मुझे कुछ स्वादिष्ट भोजन मिलेगा, किन्तु वहाँ कोई आस्वाद न पाकर वह वहाँसे उड़ जाता है, उसी प्रकार मैंने काक के सदृश पापाणवत् गीतकको भेदनेकी आशा की।” शोकापन्न यक्ष (मार)के कक्षसे वीणा खिसक गयी और वह उदास मन होकर वहाँ अन्तर्धान हो गया।

काम और बुद्धके बीच संग्रामकी कल्पना कुछ और आगे बढ़ी। जातकद्वय-वर्णना (निदानकथा ४-५ वीं शती—द्वैत्रिण परिशिष्ट ३) में ‘मार पराजय’का वर्णन इस प्रकार मिलता है —

देवपुत्र मारने देखा कि सिद्धार्थ कुमार उसके वशसे निकल जाना चाहता है। उसने निश्चय किया कि मैं ऐसा कदापि नहीं होने दूँगा। उसने अपनी सेनाके समीप जाकर घोषणा करायी और उसे लेकर चल पड़ा। उसने परिपदसे कहा—‘तात, शुद्धोदनपुत्र सिद्धार्थके सदृश अन्य पुत्र नहीं है। मैं उसके सम्मुख होकर नहीं लड़ सकता। अतएव हम लोग पीछेसे उसपर आक्रमण करें। महापुरुषने अपने तीन पाशवोंमें देखा कि सब देवता पलायित होकर वहाँ शून्य हैं। उत्तर दिशामें देखनेपर मारकी सेनाकी उत्तरते हुए देखा। तब उन्होंने विचार किया ये इतने जन मुझ अकेलेपर यह महान् पराक्रम कर रहे हैं। इस स्थानपर मेरी माता, पिता, भ्राता व अन्य वन्धु-बान्धव कोई नहीं हैं। किन्तु ये दश पारमिताएँ दीर्घकालसे मेरी पृष्ठ-पोषक परिजन सदृश हैं। इसलिए इन्हें ही ढाल-तलवार बनाकर प्रहार करूँ और इस महासैन्यको वृंस करूँ। ऐसा विचार कर वे दश पारमिताओंको लेकर बैठ गये।

मारने सिद्धार्थको भगानेके लिए वात मण्डल उत्पन्न किया जो क्षणमात्रमें अर्धयोजन, द्वियोजन, त्रियोजन प्रमाण पर्वत-कूटोंको चीरता वन-वृक्षोंको उखाड़ता तथा ग्राम-निगमोंको चूर्ण-विचूर्ण करता हुआ आया। किन्तु वह उन महापुरुषके समीप आकर उनके पुण्यके तेजसे ऐसा हतशक्ति हुआ कि उनके चीवरका एक कोना भी नहीं हिला सका। तब मारने महावृष्टि उत्पन्न की जिसकी धारासे पृथिवी छिन्न-भिन्न हो गयी। किन्तु वह उस महापुरुषके चीवरको पसीनेकी एक बुँदके बराबर भी गीला न कर सकी। फिर मारने क्रमशः पापाण-वृष्टि की, अस्त्र-शस्त्र वर्षाये, अंगार, कुक्कुल, बालुका व कलल वर्षाये; किन्तु वे सब बुद्धको पुष्पमाला-जैसे लगे। अन्ततः मारने घोर अन्धकार उत्पन्न किया, किन्तु वह भी बुद्धके प्रतापसे सूर्यप्रभा-द्वारा जैसा बाह्य हो गया।

अपने इन महान् नौ आयुधोंको निष्फल हुआ देख मारते. अपनी सेनाके योद्धाओंको ललकारा 'क्या देखते हो? पकड़ लो इस कुमारको, मारो या भगाओ, यह आदेश देकर मीर स्वयं गिरिमेखल हाथीपर सवार हुआ और चक्रायुध लेकर, बुद्धके पास आकर बोला, 'सिद्धार्थ! उठ इस आसनसे। यह आसन तेरे योग्य नहीं है यह मेरे योग्य है।' बुद्धने उत्तर दिया, 'मार, तूने न तो दश पारमिताएँ पूरी, कीं, न उपपारमिताएँ, न ज्ञान, लोक, व बुद्ध चर्याएँ पूरी कीं। अतएव यह आसन तुझे प्राप्त नहीं हो सकता; यह तो मुझे ही प्राप्त है।' यह सुन मार अपने क्रोधावेगको नहीं सम्हाल सका। उसने बुद्धपर चक्रायुध छोड़ा। किन्तु वह बुद्धको दश पारमिताओंके प्रभावसे उनके ऊपर मालावितान बनकर रह गया। पहले जब कभी उसने उस तीक्ष्ण धार चक्रायुधको छोड़ा था तब वह सघन पापाण-स्तम्भोंको बाँसके भिरे जैसा काटकर निकल गया था। किन्तु आज वही बुद्धपर मालावितान बनकर रह गया है, यह देख मारकी परिषद्ने उनपर महामहान् शैलकूट वरसाना प्रारम्भ किया जिससे वे आसन छोड़ भाग जायें। किन्तु वे सब भी मालाएँ बनकर भूमिपर आ गिरे। देवता चारों ओर खड़े होकर गरदन पसार, सिर उठा देख रहे थे कि सिद्धार्थ कुमारका उत्कर्षको पहुँचा हुआ आत्म-भाव अब नष्ट हुआ, अब वे क्या करते हैं ?

तब पारमिताओंको पूरी करनेवाले बोधिसत्त्वोंके बोधि प्राप्त करनेके दिन वह महापुरुष आसनपर बैठा हुआ उपस्थित हुए मारसे बोला, 'मार, तुम्हारे दिये दानका साक्षी कौन है?' मारने अपने सैन्यकी ओर हाथ पसारकर कहा, 'ये सभी तो साक्षी हैं।' उसी क्षण मारकी परिषद्में 'मैं साक्षी हूँ, मैं साक्षी हूँ' ऐसा पृथ्वी फटने जैसा महान् शब्द उत्पन्न हुआ। फिर मारने महापुरुषसे कहा, 'सिद्धार्थ, तुम्हारे दिये दानका कौन साक्षी है?' महापुरुषने कहा, 'तेरे दिये दानके साक्षी सचेतन हैं; किन्तु मेरे इस स्थानपर कोई सचेतन साक्षी नहीं है। तथापि, ठहर! मेरे समस्त आत्मभावोंमें दानभावकी साक्षी यह अचेतन सघन महापृथिवी ही है।' ऐसा कहते हुए उन्होंने चीवरके भीतरसे अपना दाहिना हाथ निकालकर महापृथिवीकी ओर पसार दिया। तभी महापृथिवी 'मैं साक्षी हूँ' ऐसा शतध्वनिसे, सहस्रध्वनिसे, शतसहस्रध्वनिसे निनाद कर उठी; मानो मारके बलको खदेड़ रही हो। मारकी परिषद् दिशा-विदिशाओंमें भाग उठी। दो एक मार्गसे चलनेवाले नहीं थे। वे अपने सिरोंके आभरण व वस्त्र विवस्त्र छोड़-छोड़कर जिस दिशाकी ओर मुख था उसी तरफ पलायमान हुए। तब देव-संधोंने मार-बलको भागते देख, जाना कि मारकी पराजय और सिद्धार्थ कुमारकी विजय हुई। उन्होंने विचारा, विजय-पूजा करनी चाहिए। तब नागों, सुपर्णों, देवताओं व ब्रह्माओंने अपने-अपने प्रतिनिधि भेजे जो हाथोंमें गन्ध-मालादि लेकर महापुरुषके आसनके समीप पहुँचे और प्रत्येकने प्रमुदित होकर 'श्रीमान् बुद्धकी जय; पापी मारकी पराजय'के नारे लगाये। शेष देवता दश सहस्र चक्रवालोंमें नाना गन्धविलेपनों द्वारा पूजा व नाना प्रकारकी स्तुतियाँ करते हुए खड़े हो गये।

अश्वघोषने अपने संस्कृत काव्य बुद्धचरित (सर्ग १३) में बुद्ध-द्वारा मारके पराजयका सुन्दर वर्णन किया है (देखिए परिशिष्ट-४)। जब बोधि प्राप्त करके उठनेकी प्रतिज्ञा कर गौतम महावृक्षके नीचे आसन मारकर बैठ गये, तब देवों और मनुष्योंको बड़ा हर्ष हुआ, किन्तु कामदेव मारको भय उत्पन्न हुआ। उसने अपनी रति, प्रीति और तृषा नामक कन्याओं एवं विभ्रम, हर्ष और दर्प नामक पुत्रोंको अपने विपादका यह कारण बतलाया कि वह मुनि निश्चयका कवच पहन, बुद्धिका तीर व सत्त्व रूप धनुष लेकर मेरे विषयोंको जीतना चाहता है। यदि वह जीत गया और लोकोंको अपवर्गका मार्ग बतला सका, तो मेरा यह राज्य उसी प्रकार सूना हो जायेगा जैसा विदेहराजके धर्मच्युत होनेपर हुआ। अतएव उसके ज्ञानचक्षु प्राप्त करने व मेरे क्षेत्रसे बाहर जानेके पूर्व ही उसका व्रत भंग करना आवश्यक है। यह कहकर वह अपना पुष्पमय धनुष व जगत्को मोह उत्पन्न करनेवाले पाँच बाण ले, अपने पुत्र-पुत्रियों सहित उस अश्वत्थ वृक्षके समीप बाया और बोला, 'हे मृत्युसे भयभीत क्षत्रिय, उठो, अपना धर्म पालो और इस मोक्ष धर्मको छोड़ो। बाणों और यज्ञोंसे लोकको जीतकर इन्द्रपद प्राप्त करो। यही यशस्कर मार्ग है जिसपर पूर्व नरेन्द्र चलते बाये हैं।' इत्यादि। किन्तु जब शाक्य मुनि विचलित नहीं हुए, तब मारने अपने पुत्रों व कन्याओंको उनके सम्मुख कर अपना बाण छोड़ा। उस बाणको भी निष्फल देख काम चिन्तित हो धीरे-से बोला, अरे, जिस बाणसे विद्ध होकर

शम्भु भी शैलेन्द्रपुत्रीकी ओर चलायमान हो गया था उस बाणकी यह कोई परवाह ही नहीं करता। तो क्या यह अचेतन है या यह वह बाण ही नहीं है? यह पुरुष पुष्प-बाण, हर्षण व रतिके नियोगसे नहीं मानेगा। यह तो भूतों-द्वारा वास, तर्जन व ताड़नके योग्य है। फिर उराने अपने योग्यका स्मरण किया जिससे उसके अनुचर त्रिशूल, वृक्ष, भाले, गदा, अशिरादि लेकर आ गये। किसीका मुग्न गूजर-जैसा था, किसीका मीन, अश्व, खर, ऊँट, बाघ, रीछ, सिंह आदि सदृश। किसीके एक ही आँसु थे। कोई तीन सिर रखते थे। इत्यादि नाना प्रकारसे विकराल और भयंकर नाचते-गूदते, भाले घुमाते, ये कामके अनुचर बोधिवृक्षको घेरकर अपने स्वामीकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें खड़े हो गये। प्राणपशुपत्तकाल देव पृथ्वी काँप उठी और दिशाएँ प्रज्वलित हुईं, अन्धकार फैला और समुद्र धुँध हो उठे। पृथ्वीका भार सहने-वाले नागोंने महामुनिके विघ्नको न सहकर मारके प्रति क्रोधसे आँसु फाड़कर देखा तथा श्वाँस और जेंभाई ली। धर्मात्मा अन्तरिक्षमें हाहाकार करने लगे। तथापि उन महामुनिका धैर्य चलायमान नहीं हुआ, जैसे गीबों के बीच सिंह बैठा ही। मारने भूतोंको भय उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी, किन्तु उनके विकराल टपों व शस्त्रोंके प्रदर्शन व अभिनवर्षा आदिका भी मुनिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इससे मार शोक और रोपसे तिर्र होने लगा। तभी आकाशवाणी हुई “रे मार, छोड़ अपने हिंसाभावको। तू उसे चलायमान नहीं कर सकता, जैसे कोई पवन महागिरि मेरुको नहीं हिला सकता। यह मुनि रागादि रोगोंसे ग्रस्त जगत्को ज्ञानरूप ओषधि देनेका प्रयत्न कर रहा है, कुमागोंसे निकालकर सन्मार्गपर लोगोंको लगाना चाहता है; अतः वह विघ्न करने योग्य नहीं है”। इत्यादि। इस आकाशवाणीको सुनकर व महामुनिकी स्थिरता देखकर मार निरस्ताह हो वहाँ से हट गया, और उसकी वह समस्त सेना भी चारों ओर भाग गयी। इधर वह महर्षि अज्ञानको जीतकर विजयी हुआ। आकाश प्रसन्न हो गया और पुष्पवृष्टि होने लगी।

बौद्धधर्मके महायान सम्प्रदायमें बुद्ध-जीवनविषयक 'ललितविस्तर' नामक ग्रन्थमें मारकी ओरसे उसकी सुन्दरी कन्याओं-द्वारा बुद्धको विचलित करनेका भी वर्णन किया गया है (देखिए परिशिष्ट-५)। उन्होंने वसन्त ऋतुके आगमन होनेपर ध्यानस्थ बुद्धको आ घेरा और नाना प्रकारके शृंगार-रतिक वर्णनों तथा अपने हाव, भाव, विलासों-द्वारा बुद्धके मनको आकर्षित करनेका प्रयत्न किया। वे कहती हैं, “कीन होगा जो प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली निधिको छोड़ देगा? हाँ, कोई धनके सुखको न जाननेवाला ऐसा भी मूर्ख होता है जो उन्हें छोड़ देता है। तू भी वैसा ही है, जो रागका अज्ञानी हुआ स्वयं आकर उपस्थित हुई कामिनीयोंका उपभोग नहीं करता।” इसके उत्तरमें बुद्ध कहते हैं, “ये काम बहुत दुःखोंके संचय रूप, और दुःखमूलक है। वे अवृद्ध मनुष्योंको ध्यान, अध्ययन और तपसे भ्रष्ट कर देते हैं। विद्वानोंने स्त्रीके कामगुणों से तृप्ति होना नहीं बतलाया। काम-सेवनसे पुनः तृष्णा बढ़ती है; जैसे लवणोदक पीकर प्यास। अतएव मैं तो अवोध लोगोंको प्रज्ञा-द्वारा तृप्त कराऊँगा; मैं तो अपना और पराया कल्याण करनेके लिए उत्सुक हूँ।” इत्यादि। किन्तु मारकी पुत्रियाँ कच्ची धातुकी नहीं हैं, वे इतने मानसे नहीं हारतीं। वे सुशिक्षित हैं और स्त्री-मायामें खूब प्रवीण। अतएव वे नाना काम-चेष्टाओं और सौन्दर्य-प्रदर्शन तथा रागीदीपक आलापों-द्वारा बुद्धको मोहित करनेका प्रयत्न करती ही जाती हैं; और बुद्ध भी अपनी ज्ञान-ध्यानकी वातें करना नहीं छोड़ते। अन्तमें कुछ क्षुब्ध होकर वे कहते हैं, “अरे, यह पापी मार यहाँसे हटता नहीं है? जो भी हो; भले ही पर्वतराज मेरु चलायमान हो जाये, सर्व जगत् नष्ट हो जाये, समस्त ताराओंका समूह ज्योतिषेन्द्रों सहित नभसे भूमिपर आ गिरे, महासागर सूख जायँ, तथा समस्त प्राणी मेरे विरुद्ध एकमत हो जायँ, किन्तु मेरे जैसा वृद्धमूल द्रुमराज कभी चलायमान न होगा।” फिर भी मार बोला, “अरे मैं कामेश्वर हूँ। समस्त लोकके देव, दानव व मनुजोंको मैंने व्याप्त कर लिया है और वे मेरे वशमें चलते हैं। उठ, विषय भोग! मेरी बात मान।” और बोधिसत्त्व कहते हैं “यदि तू कामेश्वर है, तो भी अनीश्वर है, यह सुस्पष्ट है। मैं धर्मेश्वर हूँ, और तू मुझे साक्षात् देख ही रहा है। यदि तू कामेश्वर है तो दुर्गतिको मत जा। मैं तेरे देखते-देखते बोधि प्राप्त करूँगा।” इस प्रकार मार और उसकी पुत्रियाँ बुद्धसे हार गयीं। प्रतीत होता है रम्भा-शुक संवाद आदि रचनाएँ इसी की प्रतिव्वनि मात्र हैं।

कालिदासने अपने महाकाव्य कुमारसंभवके सर्ग २-३ में शिव-द्वारा मदनको जलाकर भस्म करनेका वर्णन किया है जो इस प्रकार है (देखिए परिशिष्ट-६) —

ब्रह्माजीका वरदान पाकर तारकासुरने देवलोकमें बड़ा उपद्रव करना प्रारम्भ किया । त्रस्त होकर वे सब देव इन्द्रके नायकत्वमें ब्रह्माजीके पास आये और उनसे अपने लिए किसी योग्य सेनापतिको उत्पन्न करने की प्रार्थना की । ब्रह्माजीने कहा, मैं स्वयं तारकासुरको वरदान दे चुका हूँ; अत एव मेरे-द्वारा ही उसके विनाशका उपाय उत्पन्न करना उचित नहीं, क्योंकि स्वयं विषवृक्ष लगाकर भी अपने ही हाथों उसे काटना अन्याय है । अत एव तुम शिवको उत्तेजित कर पार्वतीसे उनका विवाह करानेका उपाय सोचो । उनसे जो पुत्र उत्पन्न होगा उसीमें तुम्हारे नायकत्वकी योग्यता होगी ।

इस कार्यके लिए इन्द्रने कामदेवका स्मरण किया । वे कन्धेपर धनुष धारण किये हुए आये । उनके साथ वसन्त भी था जो आमकी मंजरीका बाण हाथमें लिये था । इन्द्रने उसका बहुत सम्मान किया और अपना कार्य समझाया । उन्होंने कहा, शिवजी ब्रह्माके ध्यानमें तल्लीन हैं और उधर पार्वतीजी उनका प्रेम प्राप्त करनेके लिए तपस्या कर रही हैं । अतएव तुम ऐसा प्रयत्न करो कि शिवजीकी समाधि टूट जाये और वे पार्वतीसे प्रेम करने लगे । कामने इन्द्रका आदेश स्वीकार कर लिया और वे शिवकी तपोभूमिमें पहुँचे । वसन्तके प्रभावसे असमयमें ही सूर्य दक्षिणायनसे उत्तरायण हो गये, सब वनस्पति फूल उठे और पशु-पक्षियों एवं तपस्वियोंके मनमें भी काम-वासना जागृत हो उठी । शिवजी नमैरु वृक्षोंकी कुञ्जमें देवदासके नीचे पद्मासन बैठकर ध्यान कर रहे थे । उनकी दोनों हथेलियाँ गोदमें थीं और दृष्टि नासाग्र । सर्पोंका जटाबन्ध, कानमें रुद्राक्षमाला व शरीरपर मृगछाला थी । श्वास निरोध-द्वारा वे ऐसे निश्चल थे जैसे वातरहित स्थानमें निष्कम्प दीपक । उन्हें इस प्रकार ध्यानस्थ देख कामका साहस भंग होने लगा । किन्तु उसी समय उसकी दृष्टि पार्वतीके मनोहर रूपपर पड़ी जो अपने सौन्दर्यसे रतिको भी लज्जित करती थी । वे अपनी मालिनी और विजया नामक सखियोंके साथ सेवानिमित्त शिवजीके द्वारपर आयीं और उसी समय शिवने परमात्मज्योतिके दर्शनकर अपनी समाधि उतारी । नन्दीने पार्वतीकी उपस्थितिकी उन्हें सूचना दी । अनुमति मिलनेपर पार्वतीने आकर उन्हें प्रणाम किया । तब शिवने उन्हें आशीर्वाद दिया कि तुम्हें ऐसा पति मिले जैसा किसी अन्यको न मिला हो । कामने देखा उसके लिए यही ठीक अवसर है । वस, शिवजीको लक्ष्यकर वह शरसन्धान करने लगा । उधर पार्वतीने मन्दाकिनीके कमल-बीजोंकी माला उनके गलेमें पहनायी और इधर कामने सम्मोहन बाण धनुषपर चढ़ाया । शिवजीका मन विचलित हुआ और वे पार्वतीपर अपनी दृष्टि फेंकने लगे । किन्तु तत्काल ही वे सँभले और चारों ओर दृष्टि डालकर पता लगाने लगे कि उनके मनमें विकार उत्पन्न होनेका कारण क्या है । उन्होंने देखा कि बाँयें पैरको सिकोड़े, धनुषकी डोरीको दाहिनी आँख तक ताने व चापको गोल किये हुए कामदेव उनपर बाण छोड़ने ही वाला है । क्रुद्ध होकर उन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोला जिससे अग्निकी ज्वालाएँ निकलने लगीं । देव चिल्लाये— हे प्रभो, क्रोधको रोकिए, रोकिए । किन्तु इतनेमें ही उनके नेत्रकी ज्वालाने कामको भस्मावशेष कर डाला । रति, जो आदिसे ही आशंकाके कारण उनके पीछे लगी हुई थी, मूर्च्छित हो गयी और चेतना आनेपर कर्ण विलाप करने लगी । शिवने देखा यहाँ स्त्रियोंके वीच रहना ठीक नहीं; अतः वे अपने भूतांसहित वहाँसे अन्तर्धान हो गये । पार्वती लज्जित हुई अपनी सखियों सहित घर लौट आयी । रति विलाप करते-करते चित्ता तैयारकर सती होनेका यत्न करने लगी; तभी भविष्यवाणी हुई कि 'कामदेवने ब्रह्माजीके मनको अपनी ही पुत्री सरस्वतीकी ओर विकृत किया था, इसीसे ब्रह्माने उन्हें यह शाप दिया था । किन्तु धर्मके समझानेपर उन्होंने शापकी अवधि बाँध दी है कि जब शिवजी पार्वतीकी तपस्यासे प्रसन्न होकर उनसे विवाह कर लेंगे तब काम पुनः जीवित हो उठेगा । वस, उस अवधिकी प्रतीक्षामें रति जीने लगी ।

मयणपराजय-कथासार

१

मयणपराजयका कथानक संक्षेपमें इस प्रकार है—आदिमें कविने परमात्माके चरण-कमलोंमें नमस्कार

करके मदन और जिनेंद्रके बीच हुए युद्धका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की है (१,१) और फिर अपना परिचय दिया कि वे चंगदेव और चित्राके पुत्र हरिदेव हैं, उनके दो बड़े भाई निकर और कृष्ण नामक थे और दो छोटे भाई द्विजवर और राघव (१,२) । और यह कहकर अपनी विनय प्रकट की है कि उन्हें व्याकरण, छन्द व अलंकार शास्त्रोंका ज्ञान नहीं है, तथापि वे धृष्टता वश इस काव्यरचनामें प्रयुक्त हुए हैं । (१,३-४) ।

मवनगर नामक पट्टनके राजा मकरध्वज अपने महामंत्री मोह और रति-प्रीति नामक दोनों परिचयों सहित सभा-भवनमें बैठे थे । वहाँ शल्य, गारव, कर्म, मिथ्यात्व आदि योद्धा भी उपस्थित थे । कामने गर्भके साथ प्रश्न उठाया कि त्रैलोक्यमें क्या कोई ऐसा है जिसे उन्होंने अपना चमकती न बनाया हो (१,५-७) । इसपर रति और प्रीति मुसकराकर एक दूसरीकी ओर देखने लगीं । कामने फिर पूछा, 'नया विभूवनके बाहर कोई ऐसी स्त्री है जो उसे न चाहती हो ?' तब रतिने उन्हें बताया कि अष्टमभूमिपर रहनेवाली एक सिद्धि नामकी रमणी है जो उनकी इच्छुक नहीं है (१,८-१०) । इसपर कामने रतिसे ही उसे लाकर मिलानेका आग्रह किया और उसके अस्वीकार करनेसे उन्होंने उसे बहुत फटकारा । अन्ततः रतिको उसे लानेका प्रयत्न करना स्वीकार करना पड़ा (१,११-१६) । रति अपने दूतीकर्मपर चली ही थी कि मोह मिल गया जो उसे कामके पास लौटा लाया । मोहने कामको एकान्तमें समझाया कि रतिको भेजना गंकरने ग्याली नहीं है । वह निर्वेद द्वारा मार्गमें ही मारी जा सकती है । तथा सिद्धिका जिनेंद्रसे विवाह होना निश्चित है; अतः उन और उनका प्रयास ही निष्फल है । इसपर क्रुद्ध हो, कामने अपना धनुष-बाण उठाया और स्वयं अपने कार्यकी सिद्धिके लिए जानेका निश्चय किया (१,१७) ।

कामके इस दुराग्रहसे विवश हो मोहने उन्हें जिनेंद्रके पास दूत भेजकर वहाँका सब हाल-चाल व शत्रुका बल जान लेनेकी सलाह दी । उन्होंने यह भी बतलाया कि वह जिनेंद्र भी पहले भोगामयत था और इसी भवनगरमें रहता था । किन्तु वह यहाँकी दुर्गतिसे संवस्त होकर समस्त घर-द्वार छोड़ व केवल (तीन) रत्न लेकर चारित्रपुरीमें रहने लगा है । वहाँ पाँच महाव्रत, सात तत्त्व, दशविध धर्म, आदि उसके सहायक भट भी एकत्र हो गये हैं जिनके बलसे वह निर्वाध तपोराज्य कर रहा है । तब कामदेवने राग और रोपको दूत बनाकर जिनेंद्रके पास यह सन्देश भिजवाया कि या तो आकर हमारी सेवा करो या युद्धके लिए तैयार हो जाओ (१,१८-२२) ।

दूत चारित्रपुर पहुँचे । संज्वलन दूतने आज्ञा लेकर उन्हें जिनेंद्रके सम्मुख उपस्थित किया । दूतोंने नाना प्रकारसे जिनेंद्रको समझाया कि कामकी सेवा स्वीकार करनेमें उन्हें सब प्रकार सुख और आनन्द मिलेगा । उन्होंने अपने स्वामीकी महान् शक्तियोंका भी संकेत किया (१,२३-३०) । वह सब सुनकर जिनेंद्र ने उन्हें स्पष्ट बतला दिया कि काम-सुखोंकी उन्हें कोई इच्छा नहीं है । वे उन्हें सदाके लिए छोड़ चुके हैं । वे तो अब अपना विवाह सिद्धि वरांगनासे करेंगे और स्वाधीनता सुखका आनन्द लूटेंगे । कामदेवने हरि, हर, ब्रह्मादि देवताओंपर विजय भले ही पा ली हो, किन्तु यदि वह उनके आड़े आया तो वे उसे धमके घाट उतारे बिना न छोड़ेंगे । जिनेंद्रकी इस बातसे दूत भड़के और बोल उठे कि जब आपको मदनके बाण लगेंगे तब आप यह सिद्धिके सुखकी बात भूल जायेंगे । इसपर जिनेंद्रने पुनः न केवल मदनका किन्तु उसके साथ उन दोनों दूतोंका भी घात कर डालनेकी बात फही और निर्वेदने उन्हें गला पकड़कर बाहर निकाल दिया । उन्होंने जाकर मदनको समाचार दे दिया कि जिनेंद्र आपकी बात माननेके लिए तैयार नहीं हैं (१,३१-३२) ।

अब मदनने कोई दूसरा उपाय न देख युद्धकी तैयारी की । रणभेरी बजी और बड़े-बड़े बलशाली योद्धा-जैसे पाँचों इन्द्रियाँ, आर्त-रोध दोनों ध्यान, तीनों शल्य, अठारह दोष, सात व्यसन, पुण्य-पाप, दर्शन-मोह, पाँचों आश्रव, इत्यादि । जिससे स्वर्गमें इन्द्र, गोविन्द, त्रिनेत्र, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रादि देव तथा मर्त्यलोकमें चक्रवर्ती भी शंकित होते हैं वह मोह मल्ल भी आया । उसे कामदेवने प्रधान सेनापतिका पट्ट बांधा और उसकी खूब प्रशंसा की । उसके उपसहायक बने चारों आयु कर्म, तैरानवे नामकर्म इत्यादि । लेश्याओंकी ध्वजा-पताकाएँ फहरायीं, विकथा, कुदर्शन व पंचाश्रवोंकी भेरियाँ बजीं । इस प्रकार मदनका सैन्य युगक्षयके समय समुद्रके समान क्षुब्ध होकर गरजता हुआ चल पड़ा । तभी दशकामावस्था व शंका; कांक्षा आदिके

दलबल सहित प्रचण्ड मिथ्यात्व आकर बोला, हे देव, आप कहीं किसपर आक्रमण कर रहे हैं ? मुझे आज्ञा दीजिए तो जिनेश्वरको जाकर परास्त कर आऊँ। इसपर मोहने कहा, रे मिथ्यात्व, क्यों झूठे गाल बजाता है ? कल ही सम्यक्त्वके सम्मुख आनेपर मैं तेरी बहादुरी देख लूँगा। मिथ्यात्वने कहा, विवाद करनेसे क्या लाभ ? कल मैं जिनेन्द्रको सिंह-द्वारा गजेन्द्रके समान जीत कर दिखा दूँगा (१,३३-३७)।

२

जब इधर मदनराज मद-हस्तीपर आरूढ हो धनुष-बाण और सेना सहित युद्धको निकला, तब उधर राग-द्वेष दूतोंके लौट जानेपर जिननाथने संवेगको आज्ञा दी कि रणभेरी बजवाओ। पंच-समितियोंकी रण-भेरियां बजीं जिनका शब्द सुनकर रणदक्ष पंच महाव्रत, दशधर्म, सप्त तत्त्व, वारह तप, पंचाचार, धर्म शुक्ल ध्यान, निर्वेद, उपशम, ब्रह्मचर्य, आदि महाबलवान् योद्धा एकत्र हुए। सम्यक्त्व सेनापति बनाया गया। जिनेन्द्र का ठाट देखने योग्य था। उनके समीप लब्धियोंकी ध्वजाएँ फहरायीं और स्याद्वाद भेरीकी ध्वनि गूँजी। वे स्वयं क्षायिक-दर्शन हाथीपर सवार थे, अनुप्रेक्षाका कवच पहने, समाधिकी गदाको प्रहरण रूप धारण किये थे, और ललकार रहे थे—कहाँ है स्मर, कहाँ है स्मर ? भव्योंने नमस्कार किया, लोगोंने मिथ्यादृष्टिका वलिदान दिया, सरस्वतीने मंगल गाया, दयाने आशीर्वाद दिया। इसी समय संज्वलनने विचार किया मेरा अब यहाँ रहना उचित नहीं। अतएव उसने जाकर मकरध्वजको बतलाया कि जिनेन्द्र कितना बलशाली है और सलाह दी कि उसकी वहाँसे भाग जानेमें ही बुद्धिमानी है (२,१-१०)।

किन्तु मदनने संज्वलनकी बात नहीं मानी। उलटा उसे फटकारा—चूहोंकी सेना कहीं विल्लीके ऊपर चढ़ी है ? फिर उसने मोह सेनापतिको बुलाकर अपनी प्रतिज्ञा सुनायी कि यदि आज ही जिनेन्द्रको परास्त न किया तो मैं अग्निमें प्रवेश कर लूँगा। इसपर मोहने उसे आश्वासन दिया—नाथ ! समरमें आपसे कौन भिड़ सकता है। आकाशमें इन्द्र आपसे थर्राता है और पातालमें धरणेन्द्र शंक्ति और कम्पित होता है। जिननाथ चाहे पातालमें, सुरलोकमें, गिरि, दुर्ग आदिमें छिपे, आज वह बच नहीं सकता। हाँ, आपकी सेवा करना स्वीकार कर ले तो अवश्य छूट सकता है। यदि वह संग्राममें आया तो अपनेको और कुछ नहीं करना; केवल बाँधकर सप्तव्यसन कारागृहमें डाल देना है (२,११-१३)।

अब मदनने शृङ्गार भाटको बुलाकर कहा कि यदि तू आज किसी प्रकार जिनेन्द्रको समरमें खींच लाये और मुझे दिखला दे, तो मैं तुझे खूब पारितोषिक दूँगा। भाटने जिनेन्द्रके पास पहुँचकर मदनके बलका व्याख्यान किया और सलाह दी कि यदि उसके उन असंख्य योद्धाओंसे लड़नेकी शक्ति हो तो मुकाबला कीजिए, नहीं तो उन्हें नमस्कारकर सुखसे अपने घर बैठिए (२,१४-१६)। इसपर सम्यक्त्वने उसे ललकारकर कहा, मैं मिथ्यात्वका मुकाबला करनेको तैयार हूँ, पञ्च महाव्रत पाँच इन्द्रियोंके निवारणके लिए पर्याप्त हूँ, ज्ञान मोहको जीत सकता हूँ, शुक्ल ध्यान अठारह दोषोंको, सात तत्त्व सातों भयोंको, ध्रुतज्ञान अज्ञानको, इत्यादि-इत्यादि। जिनेन्द्रने भी उससे कहा कि यदि तू आज मुझे समरमें मदनको दिखला दे तो मैं तुझे बहुत से भूमि-मण्डलका दान दूँगा। भाटने कहा, अभी देख लेना जब मोह महाभटके साथ मकरध्वज आपपर ऐसा क्रुद्ध हुआ आक्रमण करेगा, जैसा सिंह सारंगपर। इस बातसे निर्वेद उत्तेजित हो उठा और उसने उसकी नाक काट, सीस मुड़ा, थप्पड़ मार, गला पकड़कर वहाँसे निकाल भगाया। भाट यह कहता हुआ वहाँसे चल दिया कि रे निर्वेद, आज तुम्हें इसका फल दिखला दूँगा और अपने राजाके हाथ तुझे यमराजके पथपर लगा दूँगा। जब भाट मदनके पास लौटा, तब उसकी दशा देख सामन्तगण हँस पड़े। भाटने कहा, क्या हँसते हो ? मुझे तो सीख मिल चुकी, अब तुम लोग जूझो या यहाँसे भागो। मदनराजके पूछनेपर उसने बतलाया कि मेरी दशा ही आपको वहाँका सब हाल प्रत्यक्ष दिखला रही है। वज्राघातको कौन सिरपर ले, कौन खाण्डेकी धारपर चले, यमके दूतका कौन सामना करे और कौन भुजादण्डोंसे समुद्रको लाँघे, इत्यादि। उसकी बात सुनकर मदनराज ताल ठोककर युद्धके लिए चल पड़े (२,१७-२२)।

जब मदनराज युद्धके लिए चले तब सर्पकी फुफकार सुनायी दी, कौवा काँव-काँव कर उठा, गीध ऊपर

मँडराये, घड़ा फूट गया, पवन प्रतिकूल चल पड़ा, छोक लुट्टे धीर गधा रेंगा। इन अपयकुनोंको देग मदन कुछ देरके लिए स्तब्ध रह गया। इसी बीच उधरसे जिनेन्द्रकी सेनाके ध्वज फहराते हुए दिखायी दिये। उनका सैन्य चला, लोक खलबला उठा, गिरिराज टलटलाया, समुद्र झलझलाया, घोपनाग गन्गलाया और इन्द्र चलचलाया इत्यादि। दोनों सेनाओंकी भिड़न्त हो गयी (२, २३-२६)।

युद्धका कोलाहल सुनकर रति मनमें धरती उठी और मकरध्वजके सम्मूग आकर बोली, हे देव, जिनराज समरमें दुर्धर है। सिद्धिको बरकर आप क्या करेंगे? आप कुशलसे रहें तो बहुत-सी वधुओंको बर लेंगे। जीवित रहिए और ठंडा पानी पीजिए। किन्तु मकरध्वजने उसकी बातको रोक कर कहा, मलयका चाला चलते मुझे जीवित रहना पसन्द नहीं। यह जिनेन्द्र पहले रत्न चुरा ले गया, फिर उसने मेरे दूनोंको गन्ध पकड़ कर निकाला, मेरे भाटको मूँडा और अब ऊपर चढ़कर आया है। उसके इनने छलको महते मुझे लगता नहीं आती? और देख अब तो संग्राम छिड़ ही गया जिसे देखने मुरगण भी आ जुट्टे हैं। आज उनके देवते में उसपर अपनी वाणवृष्टि कहेंगा। बहुत दिनोंसे गरजता था; आज वह मेरे पंजमें आया है। इतनेमें ही उस बन्दीने मदनकी वृष्टि जिनेन्द्रकी ओर खींची और बतलाया, देखो यह सम्भवत्व है, यह संगम और ये पाँच महाव्रत, इत्यादि (२, २७-३०)।

भाट द्वारा दिखलाये जानेपर मकरध्वजका सैन्य जिनेन्द्रके सैन्यपर दृष्ट पड़ा। मुभट हाकें और ललकारें छोड़ने और परस्पर प्रहार करने लगे। मिथ्यात्व द्वारा अग्निवाण छोड़े जानेपर जिनेन्द्रकी सेना व्रस्त होकर भाग उठी। तभी आकाशमें ब्रह्मा और सुरेन्द्रके बीच वार्तालाप होने लगा—

ब्रह्मा—देख लो, सुरेन्द्र ! तुम्हारे नाथकी सेना भाग रही है।

सुरेन्द्र—जहाँ मिथ्यात्व आया, वहाँ जिनेन्द्रका बल भग्न होगा ही। किन्तु, ब्रह्माजी, अब देखिए एक क्षणमें क्या होता है, जब सम्भवत्व, निर्वेद व निश्चंकादि सहित यहाँ आवेगा।

ब्रह्मा—हे इन्द्र, यदि किसी प्रकार मिथ्यात्व भग्न भी हो गया, तो भी मोहको कौन जीत पावेगा जिसकी त्रैलोक्यमें इतनी धाक है।

इन्द्रने हँसकर कहा—ब्रह्माजी, देखिए तो सही जिनेन्द्रके एक केवलज्ञान वाणसे वह क्षण-भरमें विनष्ट हो जायेगा।

ब्रह्मा—अच्छा, माना कि ज्ञान मोहको जीत लेगा। किन्तु मदनराजका चित्त-हाथी तो अजेय है। इन्द्र, अब मैं तुम्हें एक गुप्त बात बतलाता हूँ। एक बार विष्णु, महेश और मैं तीनों मदनसे युद्ध करने चले। मदनके एक वाणसे वक्षस्थलमें विद्ध होकर हर धराशायी हो गये। तब गौरीने आकर हवा की व घर ले जाकर गंगा-जल सौंचकर उनके प्राण बचाये। विष्णुकी रक्षा लक्ष्मीजीने कामको मनाकर किसी प्रकार की। मेरे हृदयमें उसके दो वाण आ चुभे। तब एक ऋक्षीने आकर मेरी रक्षा की और इसीलिए वह उस दिनसे मुझे प्रिय हो गयी है। इस प्रकार हम तीनोंको शिक्षा मिल चुकी। अब तुम्हें दिखाता हूँ कि मदनकी मारसे जिनेश्वर कैसे भागते हैं।

इन्द्र—यदि आज जिननाथ मदनको रणमें न मार सका तो मैं मान लूँगा कि वह त्रैलोक्यमें और त्रिकालमें अजेय है (२, ३१-३८)।

इधर यह वार्तालाप हो ही रहा था, कि सम्भवदर्शनने आकर मिथ्यात्वको ललकारा। उनकी परस्पर डोंग-डांगकी बातें हुईं। मिथ्यात्वने कुपित हो मूढव्रज वाणावलि छोड़ी जिसे दर्शनने पडायतन वाण छोड़कर विनष्ट किया। फिर उधरसे शंका-शक्ति छूटी जिसे निश्चंका-द्वारा भस्म किया गया, इत्यादि। अन्तमें दर्शनने मिथ्यात्वको तत्त्वहचि वाणसे आहत कर धराशायी कर दिया। यह देख इन्द्रने ब्रह्मासे कहा—देखिए, सम्भवत्वने मदनकी सेनाको कैसा परास्त किया है। जिनेन्द्रके सैन्यमें जयध्वनि हो उठी (२, ३९-४२)।

मिथ्यात्वके मरणकी बात सुन नरकगति रुदन और विलाप करने लगी—हाय प्रभु ! तुम्हारे विना मेरा घर सूना हो गया। हाय दर्शन, तुम तो दयावान् हो; फिर भी तुमने मेरे नाथकी रक्षा न की। इत्यादि। तब मोहने उसका संबोधन किया कि नरकगति ! तेरा नाथ मरा नहीं है; वह दर्शनके घातसे भागकर कुपन्धों-

में प्रवेश कर जी रहा है। इससे नरकगतिको ढाढ़स हुआ (२, ४३)।

अब रणमें स्वयं मोह ज्ञान और दर्शनके सम्मुख आया। उसके अन्य योद्धा पञ्चेन्द्रिय आदि जिनेन्द्रके महाव्रतों आदिसे भिड़ गये। उधर जिनेन्द्रने सिद्धिरूप स्वरोदय ज्ञानीसे पूछा कि मदनसे संव्रस्त होकर हमारा सैन्य क्यों भागा? तब उन्होंने बतलाया कि तुम्हारी व्यूह-रचना ठीक नहीं हुई थी। तुमने अपने सैन्यको उपशम श्रेणीपर चढ़ाया था, इसीसे वह टिक नहीं सका। अब उसे क्षायिक भूमिपर चढ़ाइए। तब उन्होंने वैसा ही किया जिससे उनका सैन्य अधिक स्थिर होकर युद्ध करने लगा (२, ४४-४६)।

मोहने केवलज्ञानको ललकारा और वे दोनों परस्पर बाणवृष्टि करने लगे। मोहके तीन गारव बाणोंको ज्ञानने रत्नत्रय बाणोंसे विध्वस्त कर समाधिस्थानसे उपशम बाण छोड़ा जिससे उरस्थलमें विद्ध होकर मोह एक क्षणके लिए मूर्च्छित हो गया। किन्तु तुरन्त सचेत होकर उसने पन्द्रह प्रमाद रूप महाबाण छोड़े जिन्हें ज्ञानने पडावश्यकों-द्वारा नष्ट किया। इस प्रकार प्रहार और निवारण होते-होते जब मोहने पाप प्रकृतियोंको छोड़ा तब जिनेन्द्रके सैन्यमें बड़ी विडम्बना उत्पन्न हुई। कोई हँसने, कोई डरने व कोई कामासवत होने लगा। तब केवलज्ञानने पञ्चचारित्र्य बाण छोड़कर उन प्रकृतियोंको चूर-चूर किया और मोहके हृदयको वेधकर उसे भी भूतलपर गिरा दिया। तथापि शीघ्र सचेत हो वह पुनः युद्ध करने लगा। उसने अनाचार खड्गका प्रहार किया, जिसे ज्ञानने अनुकम्पा वसुनन्दकसे काट डाला और फिर निर्ममत्व मुद्गरसे ऐसा प्रहार किया कि जिससे मोहका सिर जर्जरित हो गया और वह कराहता हुआ भूमिपर गिर पड़ा (२, ४७-५४)।

यह देख बन्दीने जाकर कामको खबर दी और यह भी सलाह दी कि अब उन्हें अपना आग्रह छोड़कर आत्मरक्षा करनी चाहिए। रतिने भी बन्दीकी बातका समर्थन किया और लघु गृहिणी प्रीतिने भी जोर लगाया कि आप अपने मरण और हमारे रंडापेके लिए उतारू मत होइए।

किन्तु मदन कब माननेवाला था? उसे हरि, हर आदिपर विजय पानेका उन्माद भी था। वह मोहन वशीकरण आदि बाण ले, मद-हाथीपर सवार हो रणमें आ उतरा। मदन और जिनेन्द्रके बीच उत्तेजनापूर्ण वार्तालाप हुआ—

मदन—अब अपना सामर्थ्य दिखला, जिनेन्द्र! तू पीछे सिद्धिसे विवाह करना, पहले मुझे संग्राम दे।

जिनेन्द्र—रे मदन, जा युवतियोंके बीच सुखसे रह। क्यों मेरे सम्मुख आकर मरता है।

मदन—तुमने मेरे दूतोंको गला पकड़कर निकलवाया और भाटका मुण्डन कर उसे भगाया। अब मेरे ऊपर चढ़कर आते हो और सिद्धिसे विवाह करना चाहते हो? क्या तुमने मेरा त्रिभुवनमल्ल नाम नहीं सुना? अरे, मेरी मारसे विष्णु जलमें जाकर रहे हैं, शंकर गंगा पार कर गये, ब्रह्मा कहने लगे मैं बूढ़ा हूँ (मुझे छोड़ो), सूर्य मेरुपर्वतके चक्कर काटने लगे, सुरेन्द्र स्वर्गकी चोटीपर जा बैठे और धरणेन्द्र पृथ्वी फाड़कर भीतर घुस गये। मेरे आगे भला कौन बलवान् है?

जिनेन्द्र—रे मकरध्वज! यह सब ठीक है, किन्तु जिनेन्द्रकी चक्कीमें पड़कर तू तेलीके बैल-जैसा मरेगा। तेरी प्रचण्डता स्थविरों, गोपालों और गोपतियों तक ही है। मेरा तू एक बाल भी बाँका नहीं कर सकता। अन्धकार तभी तक भुवन-तलको आच्छादित कर सकता है, जबतक कि वह भानुको नहीं देखता। (२, ५५-६३)।

इन उत्तर-प्रत्युत्तरोंसे दोनों उत्तेजित हो उठे। कामने अपना मन-हाथी जिनेन्द्रके आगेको बढ़ाया और उन्होंने समभाव रूप मुद्गरके घातसे उसे चूर-चूर कर दिया। यह देख रतिके हृदयमें शूल चुभा और उसने एक बार पुनः अपने पतिसे करुण भावसे रोते हुए भाग चलनेकी प्रार्थना की। किन्तु अब इसके लिए कोई अवसर नहीं रहा था। जैसे-जैसे शिव भेरी बजती, तैसे-तैसे पाँच-कुदर्शन नष्ट होते। जैसे-जैसे पञ्च महाव्रत बढ़ते, तैसे-तैसे पञ्चेन्द्रिय शक्ति होते। इत्यादि। केवलज्ञानके प्रहारोसे कामका बल क्षीण होने लगा। तब उसने मोहके उपदेशसे वाईस परीपहोंको छोड़ा। उनके अनर्थोंका निवारण जिनेन्द्रने निर्जरा विद्या-द्वारा किया। तभी मनःपर्ययने आकर बतलाया कि हे देव! विवाहका समय आ गया है। किन्तु जबतक आप इन क्षीणांग मोहका हनन न कर देंगे, तबतक सिद्धि वरांगना विवाहके लिए राजी नहीं होगी। तब जिनेन्द्रने उनके

नाश करनेका निश्चय किया। इधर मोहने मदनको अज्ञान विद्याका स्मरण करनेकी सलाह दी। (२, ६४-७१)।

यह विद्या भक्ष्याभक्ष्य निगलती व सागर और नदियोंको मुखाती हुई आयी। उसपर जिनेन्द्रने आधा-कर्म तथा ज्ञानने अवमोदर्य, चान्द्रायण आदि व्रतरूप वाण छोड़े। इनको जीवकर जब वह जिननाथकी ओर बढ़ा तब उन्होंने अष्ट-दिवस-उपवास आदि वाण छोड़े जिससे उसका कथन टूट गया। यह देग मोहने मदन-को वहाँसे भाग निकलनेकी सलाह दी और स्वयं जिनेन्द्रकी सेनाके रगलनके लिए उठ गया। मदनको भागते देख जिनसेना उसके पीछे दीड़ी और इधर मोहको ध्यानने अपने चतुर्भेद वाणोंसे सी टुकड़े करने फेंक दिया। उधर मकरध्वजके पीछे पड़ी जिनसेनाको स्तलित करनेके लिए उसकी वधुओंने नाम, धाम्य, गोत्र और वेदतोय कर्मसे प्रार्थना की। इतने समयमें मकरध्वज भागकर कुपन्धोंमें जा चुपा। देवराजने ब्रह्माकी बुलाकर कहा, अब देख लीजिए, मदनराज हार गया। उसी समय जिनेन्द्रने केवलज्ञान आभूषण धारण किया और मुनिगणोंने उन्हें प्रणाम किया (२, ७२-७५)।

अब जिनेन्द्र और सिद्धिके विवाह होनेमें कोई बाधा नहीं रही। शेषनाग अपनी सद्मन रसनाओंसे उनकी स्तुति करता हुआ आया। हंसगामिनी, हंसवाहिनी मृगनयनी नामकन्याएँ भी आयीं और चक्रवर्ती, इन्द्र आदि अपने परिवार सहित वाहनारूढ़ होकर आये। फिर समयधारण बनाया गया, युगलध्यानने घट-स्थापना की, तपश्रीने सिरपर कलश रखा, सरस्वतीने मधुर गीत गाये, रत्नोंकी रत्नावली की गर्बी, धामाने दीपक पंक्ति प्रज्वलित की, लक्ष्मीने आशीर्वाद दिया, तुम्बर और नारदने वीणा बजाये और किन्नरियोंने सप्त-स्वरोसे मङ्गल गीत गाये। असुर व नरेन्द्र भी ताल दे-देकर नाचने लगे। पटह, मार्दल, गङ्गा-काहल, डबका आदि वादित्र बजे, यक्षोंने चँवर ढोरे, भामण्डल चमके और पुष्पवृष्टिसे मही महीक उठी। चार-द्वारोंके चार तोरणों व तीन छत्रोंसे शोभायमान जिनेन्द्र सिंहासनपर बैठे और मागधोने स्तुति की। इस प्रकार ठाठसे जिनेन्द्र और सिद्धिका विवाह सम्पन्न हुआ (२, ६४-८०)।

विवाह करके जब जिनेन्द्र क्रीड़ानिमित्त मोक्षको गमन करने लगे, तब तपश्रीने प्रार्थना की कि आपके चले जानेपर मकरध्वज विजयका ढोंग करेगा और चारित्रनगरका विध्वंस कर डालेगा। यह मुनकर जिनेन्द्र ने श्रुत लेख देकर वृषभसेन गणोंको भेजा कि तुम तपश्रीका तथा चारित्रनगरका भले प्रकार रक्षण और पालन करना (२, ८१)।

मयण-पराजय-चरिउकी संस्कृत मदनपराजयसे तुलना

नागदेव कृत संस्कृत मदनपराजयके आदिमें कहा गया है कि शुद्ध सोम^१ कुलरूपी पद्मको विकसित करनेवाले, याचकोंके कल्पवृक्ष चङ्गदेव हुए। उनके पुत्र हरि हुए जो असत्कविरूपी नागोंके सिंह थे। उनके पुत्र भिषग्वनपति नागदेव हुए। इनके दोनों पुत्र हेम और राम भी अच्छे वैद्य थे। रामके पुत्र हुए प्रियङ्कर जो याचकोंको प्रियदान करनेवाले थे। इनके पुत्र हुए चिकित्सारूपी महासमुद्रके पारगामी श्रीमल्लुगि जो जिनेन्द्र के चरणकमलोंके मत्त भूङ्ग थे। उनका पुत्र मैं नागदेव नामक अल्पज्ञानी हुआ। मैं छन्द, अलङ्कार, काव्य व कोपका जानकार नहीं हूँ। केवल हरिदेवने जो कथा प्राकृत बन्धमें की थी उसे ही मैं भव्योंकी धर्मवृद्धिके लिए संस्कृतबन्धमें कहता हूँ।

संस्कृत मदनपराजयके कर्ताके इस वृत्तान्तसे स्पष्ट है कि उनकी रचना उन्हींके एक पूवज हरिदेवकी प्राकृत रचनाका अनुवाद है। इस प्रशस्तिकी प्रस्तुत अपभ्रंश रचनाके आदिकी प्रशस्तिसे तुलना करनेपर इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता कि नागदेव कृत संस्कृत कथाका मूलाधार यही अपभ्रंश रचना है जिसे

१. यह पाठ उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियोंमें सबसे प्राचीन विक्रम सं० १५७३ की प्रतिका है। विद्वान् सम्पादकने इसे छोड़कर नितान्त अर्वाचीन—गत सौ वर्षके भीतरकी—कुछ प्रतियोंके आधारपर उसके स्थानपर 'राम' पाठ क्यों स्वीकार किया यह समझमें नहीं आता। (देखिए—मदनपराजय) भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४ मूल पाठ पृ० १-२; प्रस्ता० पृ० १९।

उन्होंने उसके साधारण नाम प्राकृतसे इङ्गित किया है। चूँकि यह संस्कृत रचना हिन्दी अनुवाद व विस्तृत प्रस्तावना, टिप्पण आदि सहित आजसे सत्तरह वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हो चुकी है, अतः उसके सम्बन्धमें यहाँ विशेष परिचय देनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। दोनों ग्रन्थोंके अवलोकनसे उनका परस्पर साम्य व वैषम्य सहज ही जाना जा सकता है। तथापि सुविधाके लिए यहाँ केवल कुछ बातोंका उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है जिससे इन दोनों रचनाओंके अपने-अपने साहित्यिक गुण व महत्त्व स्पष्ट हो जायें।

दोनों ग्रन्थोंमें मूल कथानक एक ही है और उनके पात्र भी सब समान ही हैं। उनमें जो वैशिष्ट्य है वह निम्न प्रकार है—

१. भाषा भेदके अतिरिक्त दोनोंमें यह अन्तर भी है कि अपभ्रंश रचना पूर्णतः पद्यात्मक है जबकि संस्कृतका कथाभाग प्रायः गद्यमें है, यद्यपि अन्तिम परिच्छेद पूरा पद्यात्मक है।

२. नागदेवने अपभ्रंश कृतिकी दो सन्धियोंको अपनी रचनामें पाँच परिच्छेदोंमें विभाजित किया है जिनके नाम पुष्पिकाओंमें क्रमशः श्रुतावस्था, दूतविधिसंवाद, कन्दर्पसेनावर्णन, स्मरपराजये अतङ्ग-भङ्ग और मुक्तिस्वयंवर दिये गये हैं। इस प्रकार प्रस्तुत काव्यकी प्रथम सन्धिका विषय प्रथम तीन व दूसरी सन्धिका शेष दो परिच्छेदोंमें बाँटा गया है।

३. नागदेवने कथाके पद-पदपर 'उक्तं च' कहकर नाना सुभाषितोंको उद्धृत किया है जिनकी संख्या, सम्पादकके गणनाङ्कानुसार ३७ + ७९ + ९ + २२ = १४७ है। पाँचवें परिच्छेदमें उद्धृत पद्य नहीं हैं। जो पद्य 'उक्तं च' कहकर उपस्थित नहीं किये गये उनकी संख्या लगभग ढाई-सौ है। किन्तु सम्पादकके मतानुसार उनमें भी अनेक पद्य जैसे-जैसे, अथवा कुछ परिवर्तन सहित, अन्यत्रसे लिये गये प्रतीत होते हैं (प्रस्तावना पृ० २४-२५ तथा ७९)। प्रस्तुत रचनामें ऐसी कोई बात नहीं है। उसकी समस्त रचना आदि से अन्ततक ग्रन्थकारकृत ही है।

४. नागदेवने उदाहरण स्वरूप ककुद्दुम राजाकी कथाका संकेत किया है (१, १२) तथा हेमसेन मुनि (१, २०) जिनदत्तसेठ (१, १४), सिंहकार (२, ५) व यद्भविष्य (२, ६) की कथाओंका वर्णन भी किया है। ऐसी कोई अवान्तर कथाएँ हरिदेवकी रचनामें नहीं पायी जातीं।

५. नागदेवने हरिदेवके कथानकमें भी कहीं संकोच, कहीं संवर्धन और कहीं परिवर्तन भी किया है। जैसे—

(क) हरिदेवके अनुसार कामने गर्वसे कहा कि लोकमें कौन ऐसी महिला है जो मेरे वशावर्ती न हो। इसपर रतिने हँसकर कहा, 'ब्या वापने सुना नहीं है कि सिद्धिरमणी आपको नहीं चाहती? पद्मात् मोहने उसे बतलाया कि सिद्धिका जिनेंद्रसे विवाह निश्चित हो गया है। किन्तु नागदेवके अनुसार मदनने मोहसे पूछा, 'ब्या तुमने लोकत्रयमें कोई अपूर्व बात सुनी? इसपर मोहने संज्वजन-द्वारा भेजी विज्ञप्ति उपस्थित की जिसमें जिन राजाका संवाद था। उसे बाँचकर मदन धुव्य हुआ। उसे चिन्तातुर देख रतिने कारण जाननेका आग्रह किया, तब मदनने उसे वृत्तान्त बतलाया।

(ख) कामने दूसरी बार दौत्य कर्मके लिए हरिदेवके अनुसार, रागभाव बन्दीको भेजा था (२, १४) किन्तु नागदेवने बन्दीका नाम वहिरात्मा कहा है (४, ३)।

(ग) हरिदेवके अनुसार जब भागते हुए मदनका जिनेंद्रने पीछा किया तब उसकी बधूजनों (रति-प्रीति) ने कामसे प्रार्थना की कि नाम, गोत्र और वेदनीय (अघातिया कर्म) जिनेंद्रके सैन्यका प्रतिस्खलन करें। इसी बीच, हे देव, आप भाग जाएँ (२, ७५, ६)। किन्तु नागदेवने यहाँ विस्तारसे यह वर्णन किया है कि इस अवसरपर रति-प्रीतिने जिनेंद्रसे बड़ी दीनता-पूर्वक अपने पतिकी रक्षा व उनके वैभवसे बचावकी प्रार्थना की। जिनेंद्रने इसे स्वीकार किया और एक सीमापत्र लिखाकर उन्हें दिया एवं मुकुलध्यान वीरकी संरक्षकतामें उन्हें उनकी नयी सीमापर पहुँचा दिया। किन्तु इस वीरके अविस्वान्तके कारण मदन अपने सप्त अङ्गोंका परित्याग करके अतङ्ग बन गया और सुवतियोंके हृदयहृषी गिरिगुफामें प्रविष्ट हो गया।

(घ) मदनके पराजयके पदचात् हरिदेवके अनुगार फणोन्द्रने जिनेन्द्रको आकर स्तुति की, नक्षत्रनी, सुरपति, इन्द्राणी आदि देव-देवी आये, समवधारण रचा गया, मूत्र नाच-गान हुआ और विवाह सम्पन्न हो गया (२, ७६-८०) किन्तु नागदेवका प्रायः समस्त पञ्चम परिच्छेद इस विषयपर रचतम्य है। यहाँ इन्द्रने दयाको मोक्षपुर भेजा और सिद्धसेनको सन्देश दिया कि वे अपनी कन्याको लेकर शीघ्र विवाहके लिए आये। दयाको वहाँ जाकर अपना व वरका पूरा परिचय देना पड़ा। तदपश्चात् मित्रमेन यमराजके मन्दिरेमें रमा हुआ कर्मधनुष लेकर आये। उस धनुषको तोड़नेकी विधि हुई। जिनेन्द्रने उस नोड़ा, उनके गलेमें वरमाया डाली गयी और वे मुक्ति-श्री के साथ मनोरथ-हाथीपर आसढ़ हो मोक्षपुरको रवाना हुए। यह सब वर्णन नागदेवका अपना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नागदेवकी कृति प्रस्तुत ग्रन्थका उग अर्थमें अनुवाद नहीं है जिस अर्थमें हम अब अनुवादको समझते हैं। उन्होंने हरिदेवके कथानकको आधार लेकर अपनी रचित अनुगार भाषा, शैली, विषय-वर्णन व प्रसंग-प्रयोजनमें उसे एक नया रूप दिया है।

कवि-परिचय

मदनपराजयचरितके कर्तानि अपना कुछ परिचय ग्रन्थके आदिमें (१, २-३) दिया है। इससे हमें कविके कुटुम्बके सम्बन्धमें इतना पता चलता है कि उनका नाम हरि (हरिदेव) था। उनके पिता चङ्गदेव और माता चित्रा थीं। उनके दो जेठे भाई थे किकर और कृष्ण। किकर महागुणवान् नया कृष्ण स्वभावतः निपुण थे। दो छोटे भ्राताओंके नाम थे टिजवर और राघव। वे दोनों ही वट्ट धर्मवान् थे।

इस कुटुम्बका कुछ और परिचय हमें नागदेव कृत संस्कृत मदनपराजयमें मल्लना है। उस ग्रन्थकी उत्पत्तिकामें कहा गया है कि—

यः शुद्धसोमकुलपद्मविकासनार्को जातोऽर्थिनां सुरतरुर्भुवि चङ्गदेवः ।
तन्नन्दनो हरिरसत्कविनागखिहः तस्माद् भिपगजनपतिर्भुवि नागदेवः ॥२॥
तज्जातुर्भौ सुभियजाविह हेम-रामौ रामात्प्रियङ्कर इति प्रियदोऽर्थिनां यः ।
तज्जश्रिकित्सितमहाम्बुधिपारमासः श्रीमल्लुगिजिनपदाम्बुजमत्तभृङ्गः ॥३॥

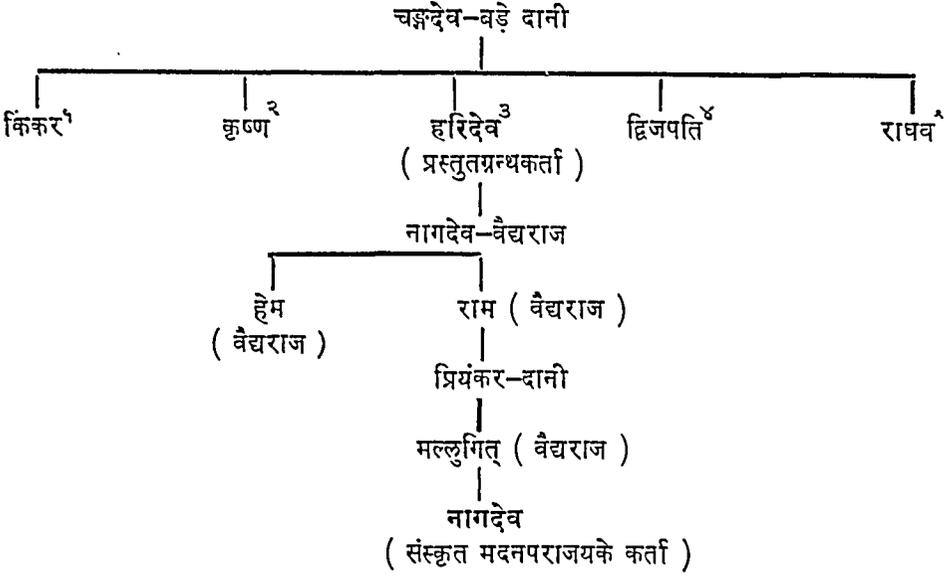
तज्जोऽहं नागदेवाख्यः स्तोत्रज्ञानेन संयुतः । छन्दोऽल्लङ्कारकाव्यानि नामिधानानि वेद्म्यहम् ॥४॥

कथा प्राकृतबन्धेन हरिदेवेन या कृता । वक्ष्ये संस्कृतबन्धेन मय्यानां धर्मवृद्धये ॥५॥

अर्थात् पृथ्वीपर शुद्ध सोमकुल रूपी कमलको विकसित करनेके लिए मूर्धरूप व याचकोंके कल्पवृक्ष चङ्गदेव हुए। उनके पुत्र हुए हरि जो असत्कवि रूपी हस्तियोंके सिंह थे। उनके पुत्र हुए वैद्यराज नागदेव। नागदेवके हेम और राम नामके दो पुत्र हुए जो दोनों ही अच्छे वैद्य थे। रामके पुत्र हुए प्रियंकर जो याचकोंके प्रिय (दानी) थे। प्रियंकरके पुत्र हुए मल्लुगि जो चिकित्सामहोदधिके पारगामो विद्वान् तथा जिनेन्द्रके चरण-कमलोंके मत्तभ्रमर थे। उनका पुत्र हुआ मैं नागदेव नामक, जो अल्पज्ञानी हूँ व छन्द, अलंकार, काव्य व शब्दकोपका ज्ञानी नहीं हूँ। हरिदेवने जिस कथाको प्राकृत बन्धमें रचा था उसे ही मैं भव्योंकी धर्मवृद्धिके हेतु संस्कृतमें रचकर कहता हूँ।

यहाँ हमें हरिदेवके सोमवंशी होनेका भी पता चलता है, तथा यह महत्त्वपूर्ण समाचार भी मिलता है कि उनसे छठी पीढ़ीमें हुए नागदेवने उनकी प्राकृत रचनाको संस्कृतमें रूपान्तरित किया। दोनों रचनाओं को देखनेसे इसमें सन्देह नहीं रहता कि नागदेवने जिस प्राकृत बन्धका उल्लेख किया है व उसको संस्कृतमें अनूदित किया वह रचना यही प्रस्तुत अपभ्रंश काव्य मयणपराजयचरित ही है जो उसकी छठी पीढ़ीके पुत्रके प्रकाशमें आनेके कई वर्ष पश्चात् अब प्रथम बार प्रकाशमें आ रहा है।

उक्त प्रमाणोंसे इस यशस्वी सोम वंशकी वंशावली इस प्रकार प्राप्त होती है—



किन्तु इस वंशावलीसे इन दोनों ही ग्रन्थकारोंमें-से किसीके भी काल-निर्णयमें सहायता नहीं मिलती । अतः इसके लिए हमें अन्य प्रमाणोंकी सहायता लेना आवश्यक है ।

हम इसी प्रस्तावनाके 'मयण-पराजयकी कथावस्तु' शीर्षक प्रकरणमें बतला रहे हैं कि हरिदेवने अपनी रचना शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णवके आधारपर की है । दुर्भाग्यतः इस ग्रन्थका रचना-काल भी सुनिश्चित नहीं है । तथापि उसमें समन्तभद्र, देवनन्द, अकलंक और जिनसेनका उल्लेख पाया जाता है, और उसकी एक प्राचीन प्रति पाटनके शास्त्रभण्डारसे वि० सं० १२४८ की लिखी प्राप्त हुई है । एक श्रुति परम्परानुसार शुभचन्द्र भोज-देवके समकालीन थे । इनपर-से ज्ञानार्णवका रचना-काल ६वींसे १२वीं शतीके बीच सिद्ध होता है और यही मयणपराजय रचनाकी पूर्वाविधि मानना चाहिए । इस रचनाकी उत्तरावधिका निश्चित प्रमाण तो अभी तक केवल यही है कि इसकी दो प्राचीन प्रतियोंका लेखनकाल क्रमशः वि० सं० १६५४ व १६०८ अंकित है । संस्कृत मदनपराजयकी एक प्रतिमें उसका लेखनकाल वि० सं० १५७३ अंकित है (सं० म० प० प्रस्ता० पृ० १९) जब इसके लेखक हरिदेवसे छठी पीढ़ीमें हुए तो हरिदेव उनसे लगभग १५० वर्ष पूर्व अवश्य हुए होंगे । अतएव प्रस्तुत मयणपराजयका रचना-काल १२वींसे १५वीं शतीके बीच मानना चाहिए ।

ग्रन्थकारने ग्रन्थके आदिमें और फिर अन्तमें भी अपने नामोल्लेखके साथ विनयपूर्वक अपने ज्ञानकी लघुता प्रकट की है । आदिमें (१,३-४) वे कहते हैं "शुद्ध और अशुद्ध शब्दोंमें भेद बतलानेवाला व्याकरण शास्त्र मैं जानता नहीं हूँ, न छन्द और न अलंकार । केवल धृष्टतावश काव्य करने चला हूँ । व्याकरण, छन्द तर्क व अन्य सब शास्त्रोंको तो विद्वान् जानते हैं । मैंने तो विग्रहका अर्थ (समास व उसका पदच्छेद) नहीं, किन्तु कामके साथ जिनवरका वर ही जाना है और उन दोनोंके बीच ही परभाव (पररूपादेश आदि नहीं) माना है । इस प्रकार छन्द, अलङ्कार व श्रुतका ज्ञान न होनेपर भी मेरे मनमें काव्य-रचना का उन्माद उत्पन्न हुआ है ।" अन्तमें पुनः कवि कहते हैं "मुझ अज्ञानीने यहाँ जो कुछ भी ऊनाधिक कहा है, उसे मुनिवर क्षमा करें । जिनेन्द्रके चरण-कमलोंके भ्रमर नर, विद्याधर और गणधरोंकी कुशलताके अभिलाषी हरिदेवने बुधजनोंके मनोरंजनार्थ यह मदनपराजय नामक उत्तम कथा रची है । मैंने गुण-दोषों से उत्पन्न अपना भाव व्यक्त किया है और अपनी योग्यतानुसार इस कथाको रचा है । वह भव्यजनोंको प्यारी, चतुर्विध संघको हर्षोत्पादक व आनन्दकारी होवे ।"

यह कविकी विनयोक्ति है । किन्तु उनकी रचना व इस प्रस्तावनामें उसके नाना दृष्टियोंसे किये गये विवेचनसे सुस्पष्ट है कि उन्होंने जिनका अज्ञान कहा है उन सब बातों व शास्त्रोंका उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था ।

कविने अपना जो परिचय दिया है उससे स्पष्ट है कि वे एक प्रतिष्ठित घरानेमें उत्पन्न हुए थे और गृहस्थ रहते हुए ही उन्होंने यह जानमय काव्य लिखा है। प्राचीन जैन-साहित्यमें ऐसी रचनाएँ बहुत थोड़ी हैं जो गृहस्थों-द्वारा रची गयी हों।

मयण-पराजयकी सैद्धान्तिक समीक्षा

इस रचनानामें प्रतीक रूपसे जीवके मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न और उस प्रयत्नमें कामादि विकारों-द्वारा बाधा डाले जानेका वृत्तान्त है। इस प्रकार जिनेन्द्रका धार्मिक पक्ष है और उनके विरोधी कामका अधार्मिक। जिनेन्द्रके सहायक गुणोंका नामोल्लेख मुख्यतः दो स्थानोंपर पाया जाता है (१, २०-२१; २, ३-१०)। यहाँ सद्गुणोंको बिना किसी विशेष क्रमके गिनाया गया है। कहीं नामोंमें अव्यवस्था, पुनरुक्ति आदि भी पायी जाती है, किन्तु उन्हें व्यवस्थासे रखनेपर ज्ञात होता है कि वे प्रायः सभी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रिके उन भेद-प्रभेदोंमें आ जाते हैं जो तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय १ व ९ में विशेष रूपसे वर्णित हैं। सम्यग्दर्शनके निदर्शङ्गानादि अंग, ज्ञानके मतिश्रुतादि पाँच भेद और उनके उपभेद, तथा चारित्रिके गुप्ति, समिति, धर्म, अनूप्रेक्षा, चारित्र्य व तप उनके भेद-प्रभेदों सहित उल्लिखित किये गये हैं।

कामके सैन्यका विवरण भी विस्तारसे दो स्थानोंपर आया है (१, ५-६; १, ३३-३७)। इनमें भी कोई क्रम व व्यवस्था नहीं है। हाँ, उनमें मोह व उसकी अट्टाईस प्रकृतियों व आठों कर्मोंकी एक-सी अड़ता-कौस उत्तर प्रकृतियोंका स्पष्ट उल्लेख है। शेष पूर्वोक्त धार्मिक गुणोंके विरोधी दुर्गुण हैं जैसे, सम्यक्त्वके विपरीत मिथ्यात्व, निशङ्कादि गुणोंके स्थानपर शंका, कांक्षा आदि, अशुभ लेश्याएँ, आर्तरोद्र-ध्यान इत्यादि। इन प्रकार यहाँ पुण्य और पाप रूप प्रवृत्तियों व भावोंका स्पष्ट वैंटवारा कर दिया गया है।

ग्रन्थकारकी उक्त व्यवस्थामें कुछ बातें जैन सिद्धान्तकी दृष्टिसे विचारणीय हैं। जैसे—

१. यहाँ (१, ५) जो कामदेवको भवनगरका राजा कहा है, रति और प्रीति उसकी स्त्रियाँ, मोहको मन्त्रो व मिथ्यात्वकी सेनापति, यह बात जैन सिद्धान्तसे मेल नहीं खाती। जैनकर्म सिद्धान्तमें कामका उल्लेख भी नहीं पाया जाता, एवं रति और प्रीतिका कोई पृथक् नाम निर्देश नहीं आता। सिद्धान्तमें तो मोहकी प्रधानता है। उसके मुख्य दर्शनमोहके तीन और चारित्र्य मोहके सोलह भेदोंमें भी कामका नाम नहीं है। नव नोकपायोंमें एक रतिका नाम आता है तथा पुंवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद ये तीन पृथक् प्रकृतियों भी गिनायी गयी हैं। इन्हींमें काम व रति-प्रीति गभित हैं। मिथ्यात्व दर्शनमोहकी एक प्रकृति है। इस प्रकार जैन सिद्धान्तमें कामकी नहीं, किन्तु मोहकी प्रधानता है। इसीलिए मोहराजपराजय आदि ग्रन्थ नाम इसके अनुकूल पड़ने हैं।

२. दूसरी बात विचारणीय यह है कि कविने जो कामदेवको मुक्ति-रमणीपर आसक्त होने व उसे राजी करनेके लिए अपनी स्त्री रतिको दूती बनाकर भेजनेकी कल्पना की है उसकी सैद्धान्तिक सार्थकता क्या है। और तो कुछ दिखायी नहीं देती, किन्तु सम्भव है यहाँ कवि यह संकेत करना चाहता हो कि एक धर्म ऐसा भी है जिसमें मद्य, मांस, मैथुन आदि-द्वारा ही मुक्तिकी साधना की जाती है। इस वाममार्गी कौल धर्मका कुछ विग्रह राजशेखरने अपने कर्पूरमंजरी नामक सट्टकमें इस प्रकार किया है—

मंताण तंताण ण किं पि जाणे ज्ञाणं च णो किं चि गुरु-प्पसादा ।

मज्जं पिचामो महिलं रमामो मोक्खं च जामो कुल-मग्ग-लग्गा ॥

रण्ठा चण्ठा दिक्खिदा धम्मदारा । मज्जं मंसं पिज्जणं खज्जणं अ ।

निशग्गा मोज्जं चम्म-अयं च सत्ता कोलो धम्मो कम्म णो मादि रम्मो ॥

सुत्तिं मर्णनि हरि-अम्हमुहा वि देवा ज्ञाणेण वेद-पदणेण कट्टुक्कियाहिं ।

पञ्चेण केवलसुमादइएण दिट्ठो भोक्खो समं सुरद-केलि-सुरारसेहिं ॥

“हम मन्त्र-तन्त्र कुछ नहीं जानते और न कुछ ध्यान ही करते । हम तो गुरुके प्रसादसे मद्य पीते हैं, स्त्री-रमण करते हैं और इस प्रकार कौल मार्गका अनुसरण करते हुए मोक्ष जाते हैं?”

किसी रण्डी-चण्डीको अपनी धर्मदारा बना ली । मद्य-मांस खाया पिया । भिक्षासे भोजन मिलाया और चर्मखण्डपर सोये । यह कौल धर्म किसे प्रिय नहीं लगेगा ?

विष्णु और ब्रह्मा आदि देवोंने बतलाया है कि मुक्तिकी प्राप्ति ध्यानसे, वेद-पाठसे व यज्ञ-क्रियाओंसे होती है । किन्तु केवल उमापति ही एक ऐसा देव है जिसने निर्देश दिया है कि सुरत-क्रीडा और सुरारसके साथ भी मोक्ष मिल सकता है ।”

आश्चर्य नहीं जो मदनपराजय-कारने कामदेवके रति-द्वारा सिद्धि प्राप्तिके प्रयासमें इसी परम्पराकी ओर संकेत किगा हो और दिखलाया हो कि मुक्तिकी प्राप्ति कदापि इस प्रकारके दुराचरणसे नहीं हो सकती । किन्तु रतिको उक्त व्यापारसे रोकनेका कार्य मोहने किया, यह फिर भी समझमें नहीं आता । और मोहने ही कामको यह बतलाया कि सिद्धिका विवाह जिनेन्द्रसे होने वाला है, अतः उसके लिए कामका प्रयास निष्फल है । यह भी कुछ युक्तिसंगत नहीं जँचता (१, ११-१७) ।

३. कामकी सेना जब जिनेन्द्रपर आक्रमण करने चली तब मिथ्यात्वने जिनेन्द्रको जीतनेका भार स्वयं अपने ऊपर लेनेकी बात कही । इसपर मोहने जो उससे वाद-विवाद किया, उसकी सार्थकता क्या है ? मिथ्यात्व और मोहके बीच कोई विरोध तो है नहीं । सिद्धान्ततः तो उनमें अंगांगीभाव है (१, ३-७) ।

४. रणके उपस्थित होनेपर एक बार पुनः कामने जिनेन्द्रके पास दूत भेजा (२, १४) । यह रंग भाव अर्थात् शृंगार रस था । जैन सिद्धान्तकी दृष्टिसे रति नोकपायके अतिरिक्त यह रंग भाव क्या हो सकता है ?

५. जब यह रंगभाव रूपी दूत जिनेन्द्रके पास पहुँचा, तब जिनेन्द्रने उससे कहा, “हे भाट ! यदि आज दुर्धर संग्राममें तुम मुझे मदनका दर्शन करा दो तो मैं तुम्हें बहुत-सा देश, विषय व मंडलका पारितोषिक दूँ ।” (२, १९) क्षायिक सम्यक्त्व रूपी हाथीपर चढ़े हुए जिनेन्द्र-द्वारा शृंगार रसको इस प्रकार प्रलोभन देनेकी सार्थकता क्या है ?

६. और भी कुछ छोटी-मोटी विसंगतियाँ इधर-उधर पायी जाती हैं । उदाहरणार्थ—उपशमको जिनेन्द्रका घोड़ा कहा है जिसपर आरूढ हो वे भवनगरसे निकलकर चारित्रपुरमें गये थे (१, २०, ३); किन्तु पश्चात् सैन्यमें वह निर्वेदके साथ योद्धाके रूपमें उपस्थित होता है (२, ४, ५) । जिनेन्द्रके चारित्र नगरमें आनेपर पंचोंने उसे तपरूप राज्य दिया था (१, २०, ५); किन्तु सैन्य संघटनमें तप अपने वारहों भेदों सहित योद्धाके रूपमें उपस्थित होता है (२, ४, ३) ।

मयण-पराजयकी कथावस्तुका आधार

बौद्ध-साहित्य परम्परामें मार और बुद्धका संग्राम एवं वैदिक हिन्दू परम्परामें काम और शिवका संग्राम सुप्रसिद्ध है; किन्तु प्राचीन जैन सिद्धान्त व साहित्यकी परम्परामें कामका वैसा कोई स्थान नहीं पाया जाता । यहाँ अध्यात्म विकासमें बाधक शक्ति है मोह, जिसके अनेक भेद-प्रभेद हैं और उनमें रति तथा पुरुष, स्त्री, नपुंसक वेद भी हैं । कामका यहाँ भी कोई उल्लेख नहीं । तब स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ताने अपने प्रधान पात्रकी कल्पना सर्वथा बाहरसे ली या उसे जैन साहित्यमें भी उसके लिए कोई आधार मिला । खोज करनेपर शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णवमें हमें कामका विस्तारसे वर्णन दो प्रसंगोंमें मिलता है—एक तो ग्यारहवें प्रकरणके श्लोक ११ से ४८ तक ब्रह्मचर्य व्रतके प्रसंगमें; और दूसरा इक्कीसवें प्रकरणमें आत्माके शिव, गरुड़ और काम, इन तीन तत्त्वोंके वर्णनके प्रसंगमें । ये दोनों प्रसंग प्रस्तुत काव्यके आलोचनात्मक अध्ययनके लिए इतने उपयोगी हैं कि हम उन्हें पूर्णतया परिशिष्टमें उद्धृत कर रहे हैं ।

ज्ञानार्णवके ग्यारहवें प्रकरणमें कहा गया है कि जो योगी ब्रह्मकी उपासना करते हैं उन्हें काम-भोगोंसे विरक्त होकर पूर्वोक्त दश प्रकारके मैथुनका परित्याग करना चाहिए । स्मरणके प्रकोपसे, स्त्रियोंके

संनगं, मैथुनसे उत्पन्न दोषोंको जानकर स्त्रियोंसे भी विरक्ति रखना चाहिए। कामाग्निका ताप प्रज्वलित होनेपर मैथुनकी वृष्टि व सागरके जलकी राशिसे शान्त नहीं होता। ज्येष्ठ-मासके मध्याह्नका सूर्य भी लोकको उतना दाह नहीं पहुँचाता जितना स्मरानल। कामाग्नि पहले हृदयमें जलती है और पश्चात् समस्त अंगोंवालोंको निर्दयतासे जला डालती है। कामरूपी सर्पके अचिन्त्य विपप्रसारसे मूर्च्छित हुए विद्वको देख योगी विवेक रूपी विनतानुत्त (गहड़) की शरणमें पहुँचे। स्मर वीर हो एक ऐसा अचिन्त्य पराक्रमा है जिसने जगत्को अवज्ञापूर्वक अपना पादपीठ बनाया है। यह मनोभव अकेला ही चराचर जगत्को अपनी शक्ति-द्वारा अव्याहत क्रमसे भंग करके अपना अनुचर बनाता है। मनोभू निःशंक रूपसे भुवनत्रयको पीड़ित करता है। नैकड़ों उपायोंसे भी भूतलपर उसका निवारण नहीं किया जा सकता। स्मरको मैं कालकूटसे भी बड़ा विप मानता हूँ; क्योंकि विपका उपाय है, किन्तु स्मरका उपाय नहीं। जीवमात्र स्मरकी अग्निसे प्रदीप्त होकर स्त्री कामरूपी अगाध कीचड़में जा डूबते हैं। देहधारी जीव अनन्त व्यसनात्मक भवरूपी मरुस्थलमें स्मर रूपी ज्वरकी प्याससे पीड़ित हुए मरते हैं। स्मररूपी शार्दूलसे चवाया हुआ यह लोक घृणास्पद, अतिक्रूर, पापप्रचुर व योगियों-द्वारा दूषित कर्म करता है। यह स्मररूपी वीर उद्दीपित होकर लोकको दिग्मूढ़, विभ्रान्त, उन्मत्त, धंकायुक्त और व्याकुल बना डालता है। मनोभवके वाणोंसे विद्ध होकर लोगोंका चित्त स्वप्नमें भी एक क्षणमात्रको चैन नहीं पाता। कामानलकी ज्वालाओंकी लपेटमें आया हुआ लोक जानते हुए भी नहीं जानता, देखते हुए भी नहीं देखता। सर्पसे उसे जानेपर तो देहीके सात प्रकारके वेग उत्पन्न होते हैं, किन्तु स्मर रूपी सर्प-द्वारा उसे लोगोंकी दश भयंकर दशाएँ होती हैं—चिन्ता, दिदृक्षा, दीर्घनिःश्वास, ज्वर, दाह, अरुचि, मूर्च्छा, उन्माद, प्राणसन्देह और प्राणनाश। काम ज्वरके प्रकोपसे उत्पन्न ये दशों वेग संकल्पानुसार तीव्र, मन्द या मध्यम प्रकारके होते हैं। जो मानरूपी बड़े ऊँचे पर्वत-शिखरपर विराजते हैं उनके मानका स्पन्दन यह स्मर वीर क्षणार्धमें कर डालता है। स्मरकी आज्ञासे बुद्धिमान् भी अपने शीलरूपी दुर्गका उल्लंघन कर नीच स्त्रियोंकी भी दासता स्वीकार कर लेते हैं। मदनकी व्यथा लोगोंके बड़े हुए चारित्रिका भी विध्वंस कर डालती है, और उसके श्रुत, सत्य व धैर्यको भी कुण्ठित कर देती है। स्मरके वाणने प्राणी वासन, दायन, गान, स्वजन व भोजनमें क्षणमात्र भी सुख नहीं पाता। स्मर-द्वारा पीड़ित व्यक्ति श्रपने धन, शील, बलके विनाश, कुलके कलङ्क तथा समीप स्थित मरणको भी नहीं देखता। पिशाच, उरग, रोग, दैत्य, ग्रह, राक्षस, कोई भी लोकको उतना पीड़ित नहीं करते जितना मदनका ज्वर। यदि कामकी उमकी हृदयप्रिय कामिनी नहीं मिलती तो वह विप, शस्त्र व अग्नि आदि उपायोंसे आत्मघातकी इच्छा करने लगता है। स्मरसे टगा जाकर दक्ष मूढ़ हो जाता है, क्षमाशील क्षुद्र, शूर भीरु, बड़ा छोटा, तीक्ष्ण गुण्ड और बगी भ्रष्ट। कामके हठात्कारसे दिह्ल मन होकर नर स्त्रीके लिए अचिन्त्य साहस करने लगने है। यह मनोभव रूपी महागज निरंकुश होकर मनुष्योंके पूज्य धर्म-वृद्धको निरन्तर उन्मूलित करता है। कामी नर ब्रह्मचारीपर उर्मी प्रकार अति क्रोध करता है जैसे चोर रात्रिमें जागकर विचरण करते हुए मनुष्यपर। कामान् नर अपनी स्तुपा, साम, मुता, घात्री, गुन्पत्नी, तपस्विनी अथवा पशु स्त्रीसे भी काम सेवनकी इच्छा करने लगता है। कामके वाण-समूहसे जर्जरित हुए मनमें विवेक रूपी सुधारस पल-भर भी नहीं टहरता। हरि, हर, पिनामह (ब्रह्मा) आदि बलशाली देव भी स्मर-द्वारा ऐसे विध्वस्त हुए हैं कि वे निर्दय होकर स्त्रीको अपनी गोदने अलग नहीं करते। इसलिए रे मूढ़ जीव, यदि तूने जन्म-जन्मान्तरमें मनुष्यकी देह पायी है तो ऐसा कर जिससे यह कामकी ज्वाला शान्त हो जाये।

कामरूपी अग्निके मुनीन्द्र मरुतासे पीड़ित समस्त भुवनको देखकर बड़े योगी विपयोंकी आसवितको छोड़ कर मंदम दती उद्यानसे रसगीय प्रथम रूपी जलधिके तीरका आश्रय लेते हैं।

शान्तानन्दने २१ वें प्रकरणमें कहा गया है कि विद्वानोंने आत्माको ही शिव, चैतन्य और स्मर कहा है 'दिवोऽयं चैतन्येव च स्मरश्चात्मैव कीर्तिनः' (२०, १)। इनमेंसे प्रथम दो स्वरूपोंका गद्यमें वर्णन करके तीसरे कामरूपी स्वप्न इन प्रकार प्रकट किया गया है —

काम समस्त जगत्का चमत्कारी धनुष-स्थानीय मण्डलाकार सरस इक्षुकाण्डको पुष्प वाणों सहित धारण किये हुए है, और विधिवत् दुर्लभ मोक्षलक्ष्मीके समागमके लिए उत्कण्ठित अति कठोर मुनियोंके मनको शपना लक्ष्य बनाये हुए है। स्फुरायमान मकर उसका केतु (ध्वज) है। वह समस्त कमनीय ललनावृन्द द्वारा वन्दित सौन्दर्यशालिनी रतिके साथ नाना क्रोडाओंमें आसक्तचित्त है। चतुर है। अपनी चेष्टाओं व भ्रूमंग मात्रसे त्रैलोक्यको वशमें करनेवाला स्त्री-समूह उसका साधन है। उसने सुर, असुर, नर, भुजग, यक्ष, सिद्ध, गन्धर्व और विद्याधरादि गणोंको रागरूपी दुष्गार अगाध गहन सागरमें डुबा दिया है। स्त्री और पुरुष के भेदसे भिन्न समस्त प्राणियोंके मनको परस्पर जोड़नेवाला सूत्रधार है। आम्र-मंजरी-द्वारा जिसके आगमन को सूचना मिलती है, मधुकरोंकी गुंजार और कोकिलोंके आलापका संगीत जिसे प्रिय है, और जिसका सौभाग्य मलयानिल-द्वारा उल्लासको प्राप्त हुआ है, ऐसा वसन्त उसके प्रतापको बढ़ानेवाला मित्र है। वह श्रेष्ठ तपस्वी मुनियों-द्वारा प्रार्थित स्वर्ग और अपवर्गके द्वारको बन्द करनेवाला वज्र अर्गल है। उसने चतुर कामिनियोंके भाँहोंकी मटकनको अपनी सकल जगत्के विजयकी वैजयन्ती बनाया है। क्षोभण आदि मुद्राएँ उसकी अपनी विशेषताएँ हैं। वह समस्त जगत्को वशमें करनेका सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार कामके स्वरूपका चिन्तन करनेसे यही आत्मा - 'काम' इस नामसे सूचित विषयका अनुभवन करने लगता है, यही कामतत्त्व है।”

ज्ञानार्णवके इन दो प्रकरणोंमें जो कामका स्वरूप प्रकट किया गया है, उसमें मयण-पराजयमें वर्णित कामदेवके समस्त गुण-धर्म दिखायी देते हैं। कामका इक्षु-धनुष, पंच सायक, मकर-ध्वज, रति स्त्री, महिलाओं की अधीनता और उनके द्वारा त्रैलोक्यका वशीकरण, तपस्वियों और मुनियोंके मनको चलायमान करनेकी शक्ति, देवों-दानवों आदि द्वारा भी उसकी दुर्निवारता, ब्रह्मा, विष्णु और महेशपर भी उसका शासन तथा मुक्तिका द्वार खोलनेके लिए प्रयत्नशील तपस्वियोंके प्रयत्नोंमें बाधक होना, आदि सभी बातें दोनोंमें समान रीतिसे पायी जाती हैं। जिन दश कामावस्थाओंका मयण-पराजयकारने संकेत मात्र किया है (१, ३८, १) उनका ज्ञानार्णवमें पूरा-पूरा निर्देश किया गया है (११, २९-३१)।

इसी प्रकार कामकी सेनाके जो योद्धा हैं, और जिनका प्रायः नाममात्र म० प० में उल्लिखित है जैसे, रोप, मद, कषाय, इन्द्रिय, आर्तरीद्र ध्यान आदि, उनका विवरण उनके भेदोपभेदों सहित ज्ञानार्णवमें उपलब्ध है। यही नहीं, किन्तु जिन तत्त्वोंको यहाँ कामकी सहायतामें प्रधानता दी गयी है वे सभी कहीं-कहीं ज्ञानार्णवमें भी कामके साथ एकत्र ला जुटाये गये हैं, जैसे—

कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्चविपयाः

प्रमादा मिथ्यात्वं वचन-मनसी काय इति च ।

दुरन्ते दुर्ध्यानि विरति-विरहश्चेति नियतं

स्रवन्त्येते पुंसां दुरित-पटलं जन्मभयदम् ॥ (ज्ञा. ७, ९)

कामका प्रधान जो मोहमहल्ल या मोहनूप है उसका जो स्वरूप म० प० में दिखायी देता है, प्रायः वही ज्ञानार्णवमें भी व्यक्त हुआ है। वह समस्त दोषोंकी सेनाका नरेश्वर है—

राग-द्वेष-विषोद्यानं, मोह-बीजं जिनैर्मतम् । अतः स एव निश्शेषदोषसेनानरेश्वरः ॥ (ज्ञा. २३, ३०)

अतः स एव पापात्मा मोह-महो, निवार्यताम् (२३, ३५)

यथार्थतः समस्त २३वाँ प्रकरण रागादि सेनाके नायक मोह वीरका ही चरित्र है—

‘इति मोह-वीर-वृत्तं रागादिवरूथिनी-समाकीर्णम्’

काम और मोहकी इस प्रबल सेनासे संग्राम किये बिना योगी मुक्ति-महिलाको नहीं पा सकता, इसका भी ज्ञानार्णवमें वार-वार उल्लेख आया है। जैसे—

चित्त-प्रपञ्चजानेक-विकार-प्रतिबन्धकाः । प्राप्नुवन्ति नरा नृनं मुक्ति-कान्ता-करग्रहन् ॥ (२२, ८)

महाप्रशम-संग्रामे शिव-श्री-संगमोत्सुकैः । योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण राग-महो निपातितः (२३, १२)

मुक्तिस्त्रीवक्त्रशीतांशुं द्रष्टुमुत्कण्ठवाशयैः । मुनिभिर्मध्यते साक्षाद्विज्ञान-मकरालयः ॥ (१, ४२)

कोनसे गुणसे किस दोषको जीता जा सकता है इसका भी युद्धकी भाषामें निरूपण ज्ञानार्णवमें स्थान-स्थान पर पाया जाता है। जैसे—

असंयममयैर्वाणैः संवृतात्मा न भिद्यते । यमी यथा सुसन्नद्धो वीरः स्मरसंकटे ॥ (८,४)
 क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दवं त्वार्जवं पुनः । मायायाः सङ्गसंन्यासो लोभस्यैते द्विपः क्रमात् ॥ (८,६)
 राग-द्वेषौ समत्वेन निर्ममत्वेन वानिशम् । मिथ्यात्वं दृष्टियोगेन निराकुर्वन्ति योगिनः ॥ (८,७)
 अविद्या-प्रसरोद्भूतं तमस्तत्त्वावरोधकम् । ज्ञानसूर्यांशुभिर्वाहं स्फोटयन्त्यात्मदर्शिनः ॥ (८,८)
 असंयम-गरोद्गारं सत्संयमसुधाम्बुभिः । निराकरोति निःशङ्कं संयमी संवरोद्यतः ॥ (८,९)
 निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा । यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा तथा ॥ (९,७)
 इत्यादि

अन्यत्र सर्वत्र ही ज्ञानार्णवमें दोनों पक्षोंके गुणों-दुर्गुणोंका वर्णन आया है।

मयणपराजयके अनुसार जिस भव्यजीवने मुक्ति स्त्रीके संवरणका यत्न किया वह आदिमें श्रुत-शास्त्र में प्रवेश कर वहाँसे रत्न लेकर भागा था। (म० प० १,१९) वह कल्पना समूची ज्ञानार्णवमें इस प्रकार वर्णित है—

निर्मथ्य श्रुतसिन्धुमुन्नतधियः श्रीवीरचन्द्रोदये

तत्त्वान्येव समुद्धरन्ति मुनयो यत्नेन रत्नान्यतः ।

तान्येतानि हृदि स्फुरन्ति सुभगन्यासानि मव्यात्मनां

ये वाञ्छन्त्यनिशं विमुक्ति-ललना-संभोग-सम्भावनाम् (ज्ञा. ३२, ११५)

यथार्थतः मयणपराजयके उक्त प्रसंगको मैं उसके अनुवाद करते समय पूर्ण रीतिसे नहीं समझ सका था और इसीलिए मुद्रित अनुवादमें 'सुवसत्थहि' का अर्थ 'सुप्रशस्त भाव' छपा है। ज्ञानार्णवका यह पद्य सम्मुख बानेपर ही मैं उसका ठीक अर्थ 'श्रुत-शास्त्र' समझ पाया। यही एक बड़ा प्रमाण है कि एक रचना की दूसरी पर कितनी गहरी छाप पड़ी है।

यों तो और भी मदन पराजयके अनेक प्रसंग ज्ञानार्णवके अवलोकनसे सुस्पष्ट हुए हैं, किन्तु उनमें-से एक विशेष उल्लेखनीय है; क्योंकि वहाँ भी मैंने अनुवाद करते समय अर्थमें धोखा खाया है। जिनेन्द्रके क्षायिक दर्शनरूप हाथीपर सवार हो, अनुप्रेक्षाका कवच पहिन, और समाधिरूप महागदाको लेकर युद्धके लिए प्रस्थान करते समय 'सरवदउ'का भी उल्लेख किया गया है—'सिद्धभूव सरवदउ गणेषिणु' (२,१०,२) सरवदउका ठीक अर्थ मैं नहीं समझ सका था, और उसका 'शर-वन्ध' जैसा कुछ रूप कल्पित करके उक्त चरणका अनुवाद किया गया 'सिद्धभूमिको लक्ष्य बनाकर'। आगे एक वार पुनः 'सरवदउ' सामने आया—

तहिं श्रवसरि पुच्छिउ आणिदें । सिद्धिरूव सरवदउ जिणिदें ॥ (२,४६,५)

यहाँ प्रसंग ही ऐसा था कि 'सरवदउ'के मेरे पूर्व कल्पित अर्थसे काम न चल सका, और प्रायः उसका यथार्थ अर्थ सूझ गया 'स्वरोदय'। इसका पूरा स्पष्टीकरण तो ज्ञानार्णवके सूक्ष्म अवगाहनसे हुआ; क्योंकि यहाँ २९वें प्रकरणमें प्राणायामका वर्णन करते हुए नासिकाके वायें और दायें छिद्रोंसे निकलनेवाली श्वास के आधारपर शुभ और अशुभ फलका निरूपण विस्तारसे किया गया है। यहाँ संग्राममें जाते समय (श्लो० ४५) संग्राममें जय-पराजय सम्बन्धी प्रश्नका उत्तर देते समय (श्लो० ५६-५७) युद्ध करते समय (श्लो० ६३,७४,७५,७७) स्वरके विचारका विधान किया गया है।

इस प्रसंगसे तथा उपर्युक्त बहुविध मार्मिक समानताओंके आधारपर-से इसमें सन्देह नहीं रहता कि मयण-पराजयकी रचनाके लिए हरिदेवने शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णवका अवगाहन कर उसे ही अपना मुख्य आधार बनाया है। इसका एक प्रकारसे समर्थन इस बातसे भी होता है कि इसी कविके कुलकी छठवीं पीढ़ीमें हुए नागदेवने जो इस प्राकृत काव्यका संस्कृत रूपान्तर किया उसमें उन्होंने प्रसंगोंके स्पष्टीकरणार्थ अनेक श्लोक ज्ञानार्णवसे उद्धृत किये हैं। (देखिए मदनपराजय-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रस्ता० पृ० ७९-८०)। अनुमानतः ज्ञानार्णवका स्वाव्याय हरिदेवके कुलमें परम्परानुक्रमसे होता चला गया था।

मयण-पराजय काव्यका स्वरूप, शैली व काव्यगुण

प्रस्तुत काव्यको उसकी संबन्धित दोनों पुष्पिकाओंमें 'मयणपराजयचरित' कहा गया है, और तदनुसार उसका यही नाम इस संस्करणमें स्वीकार किया गया है। किन्तु ग्रन्थके मूल भागमें जहाँ उसके उल्लेखका प्रसंग आया है वहाँ उसे वत्त (वृत्त-वार्ता-वात), कहा (कथा) या कव्वु (काव्य) कहा है। जैसे—

(१) मयण-जिणेंदहें जेम रणु

पयडमि सा जय-वत्त । (१, १)

(२) कह कहमि भवियण-जणहें ।

रइमि कव्वु जिणवयण-सारिण ॥ (१, ३)

(३) धिट्टिम कव्वु करेमि (१, ३)

(४) कव्वह कउ उम्भाहु (१, ४)

(५) मई छलेण विरइय कह (२, ८१)

इस प्रकार कविने अपनी रचनाका नाम मयणपराजय वत्त, कहा या कव्वु भी सूचित किया है।

यथार्थतः यह रचना अपने स्वरूपमें अन्य सुजात अपभ्रंश चरितोंसे विषय व शैलीमें कुछ भिन्न है। इसमें उस प्रकार नायकका चरित्र-वर्णन नहीं पाया जाता जैसा अन्य चरित्रोंमें। यहाँका समस्त घटनाचक्र भावात्मक और कल्पित है। यद्यपि परिच्छेद-विभाग चरित ग्रन्थोंके सदृश सन्धियोंमें किया गया है, तथापि उनमें वस्तु, द्विपदी, अडिल्लह और छड्डणिका छन्दोंका प्रायः बराबरका प्रयोग बदल-बदल कर किया गया है। इससे काव्यमें एकतानकी ऊब नहीं आने पायी, तथा उसकी गेयात्मकता स्पष्ट हो गयी है। इस दृष्टिसे यदि इस रचनाको रासक कहा जाये तो अनुचित न होगा।

रासककी सबसे प्राचीन परिभाषा हमें 'स्वयंभूछन्दस्' (८, ४९) में मिलती है जिसके अनुसार—

घत्ता-छड्डणिआहिं पद्धडियाहिं सुअण्णरूवेहिं ।

रासा-वन्धो कव्वे जण-मण-अहिरामओ होइ ॥

अर्थात् घत्ता, छड्डणिका, पद्धडिया तथा अन्य सुन्दर छन्दोंके रूपमें रचा गया रासा-वन्धकाव्य लोगोंके मनको प्रसन्न करनेवाला होता है।

उसी प्रकारकी एक और परिभाषा विरहाङ्कृत वृत्तजातिसमुच्चय (४, ३८) में भी उपलब्ध होती है :—

अडिल्लाहिं दुवइएहिं व मत्ता-रड्डाहिं तह अ दोसाहिं ।

वहुएहिं जो रड्डाह सो मण्णइ रासओ णाम ॥

अर्थात् अडिल्ला, द्विपदी, मात्रा, रड्डा व दोसा आदि बहुविध छन्दोंसे जो रचा जाये वह रासक कहलाता है।

ये लक्षण मयण-पराजय काव्यमें पूर्णतः घटित होते हैं। यहाँ अडिल्ला, द्विपदी और मात्रा व रड्डा छन्दोंका ही प्राधान्य है। दोसा गाथाका ही नामान्तर है, और प्रस्तुत काव्यमें एक गाथा भी विद्यमान है। इस प्रकार उसमें रासकके उक्त समस्त लक्षण हैं। किन्तु उपलब्ध उदाहरणोंपर-से अनुमान होता है कि रासकमें सन्धियों-द्वारा परिच्छेद व विभाग नहीं किये जाते थे। सन्धि-विभाजन चरित रचनाओंका वैशिष्ट्य है और सम्भवतः इसी कारण इसे रास न कहकर चरित कहा गया है।

कविदर्पण (उ० गा० ३७) में कहा गया है—पज्जडियाइ-चउक्कं कडवं ताणं गणो सन्धी । तथा कविदर्पणके वृत्तिकारने छन्दःकन्दली नामक अपनी रचनासे निम्न दो गाथाएँ उद्धृत की हैं जिनसे कडवक व सन्धिकी रचनापर प्रकाश पड़ता है—

कडवय-निवहो सन्धी पद्धडियाईहिं चउहिं पुण कडवं ।

सन्धिमुहे कडवन्ते धुवां च धुवर्थं च घत्ता वा ॥१॥

...ता तिविहा छपई चउपई य दुपई य तासु पुण दुण्णि ।

छ-चउप्पईउ कडवय-निहणे छड्डणिय गामा वि ॥२॥ (क० द० २, ३२ वृत्ति)

अर्थात् अपभ्रंश काव्यमें कडवकोंके समूहसे सन्धिकी रचना होती है, और प्रत्येक कडवक पदडिया आदि चार प्रकारके छन्दोंसे रचा जाता है । प्रत्येक सन्धिके प्रारम्भमें तथा कडवकके अन्तमें ध्रुवा, ध्रुवक या घत्ता छन्द रखना चाहिए ।

यह ध्रुवा तीन प्रकारकी होती है—पट्पदी, चतुष्पदी और द्विपदी । इनमेंसे पट्पदी व चतुष्पदी कडवकके अन्तमें रखना चाहिए, विशेषतः छड्डणिका नामकी पट्पदी । रचनाके ये लक्षण पूर्ण रूपसे प्रस्तुत काव्यमें पाये जाते हैं । यहाँ दो सन्धियाँ हैं और प्रत्येक सन्धिमें अनेक कडवकोंका समावेश है । द्वितीय सन्धिके आदिमें छड्डणिका नामक पट्पदी ध्रुवा बनायी गयी है और वही प्रत्येक कडवकके अन्तमें घत्ता रूपसे भी आती है । द्विपदी छन्दोंका भी अच्छा समावेश है । इन छन्दोंके लक्षण आदि इसी प्रस्तावनामें अन्यत्र वर्णित हैं ।

जिस रचनाके समस्त पात्र और उनकी क्रियाएँ व घटनाएँ भी भावात्मक और कल्पित हों उसमें काव्यका रस लाना बड़ा कठिन कार्य है । किन्तु प्रस्तुत काव्यके कर्ताने अपने मुख्य पात्रोंको सजीव बनानेका पूरा प्रयत्न किया है । इस काव्यका नायक कौन है इस बातपर यदि शुद्ध रचनाशास्त्रकी दृष्टिसे विचार किया जाये तो मदन ही हमारे सम्मुख प्रधानतासे आता है । वही उत्कट अभिलाषी और महत्त्वाकांक्षी है, क्रियाशील है और घटनाचक्रके केन्द्रमें है । उसे न केवल अपनी शक्तिपर पूरा भरोसा है, क्योंकि संसार-भरमें महिला जन ही तो सबसे अधिक बलशाली है जो अच्छे तपस्वियोंका तप छुड़ा देती है और वड़े-वड़े शूर-वीरोंको अपने चरणोंमें लिटाती है, उन्हें भी जब उसने वश कर लिया तब शैलीक्यमें रहा ही कौन जो उसका वश-वर्ती न हो ? आश्चर्य, स्वयं एक स्त्री और वह भी उसकी पत्नी रति ही, उसकी इस गर्वोक्तिपर हँसकर एक ऐसी स्त्रीकी ओर संकेत करती है जो उसके कावूमें नहीं, जो किसी औरको, उससे कहीं अच्छा समझकर, अपना पति बनाने जा रही है । वस, कामकी कामुकता जागृत हो उठी, उसके अहङ्कारको धक्का लगा, उसके पौरुषको चुनौती मिली, उसे अपना लक्ष्य और अपना वीरौ मिल गया । यह प्रसंग इतनी सजीवता और नाटकीय चतुराईसे उपस्थित किया गया है कि पाठकका हृदय कथावस्तुकी ओर एकदम रस-विभोर हो जाता है । इस घटना-विन्दुके द्वारा ही इस धीरोद्धत नायकके अतिरिक्त उसके प्रतिपक्षी धीर-प्रशान्त नायक जिनेन्द्र और दिव्य, धीर-ललिता नायिका सिद्धिकी उपस्थापना की गयी है । कविने इन तीनों मुख्य पात्रोंको भावात्मक कठोर सीमाके होते हुए भी प्राकृतिक गुणोंसे सुसज्जित कर रोचक बनानेका सफल प्रयत्न किया है ।

कथावस्तुके चुनावमें ही कुछ ऐसी अटपटी परिस्थितियाँ हैं जिनके कारण उलझने उत्पन्न हुई हैं । किन्तु कविने उनको भी अपने ढङ्गसे अच्छा निवाहा है । उदाहरणार्थ, कामको जब सिद्धि अङ्गनाकी प्रापतिकी कामना हुई तब यह कार्य कराया किसके द्वारा जाय ? भला प्रेमके क्षेत्रमें दूतीकर्म स्वयं रतिसे अच्छा और कौन व्यक्ति कर सकता है ? किन्तु रति तो उसका धर्मपत्नी ही है । तो वह उसीको यह कार्य सौंपता है बड़े आग्रह और पतिके अधिकारपूर्वक । बेचारी पत्नीकी अवस्था उस समय देखने योग्य है । “हाय माँ ? कहीं गृहिणीसे भी ऐसा दूती-कर्म कराया जाता है ?” वह अपने पतिको बहुत समझाती है—इस कार्यको वालूमें-से तेल निकलने, बीने द्वारा चन्द्र तोड़ने, इत्यादिके समान असाध्य बतलाती है और यह भी प्रस्ताव करती है कि आप कृपाकर इस कार्यके लिए किसी अन्यको भेजिए । किन्तु काम कहीं माननेवाला है ? क्रोधके आवेगमें वह कह बैठता है—वस, समझ गया । इस उपायसे तू मेरा प्राणान्त कराकर दूसरा घर बसाना चाहती है ? इसपर उसकी सपत्नी प्रीति उसे सलाह देती है कि बहन, व्याधि निरूपचार है । माने बिना गति नहीं । अन्ततः रति एक सद्गृहिणीके लिए लज्जास्पद इस अत्यन्त हेय व्यापारमें प्रवृत्त होती है । यह प्रसङ्ग बड़ा अपूर्व है । किन्तु उसके द्वारा कविने कामकी कामान्विता और अविवेक तथा रतिके एक ओर पतिव्रता गृहिणी और दूसरी ओर उसके सहज धर्मका जो मिश्र चित्र उपस्थित किया है वह बड़ा सुन्दर है ।

कामका मन्त्री मोह है । मोह तो स्वयं अविवेक और विपरीत आचरणका प्रेरक होता है । किन्तु

अमात्यका धर्म तो अपने राजाको समुचित उपदेश और सम्मति देना है। यह कार्य मोह आदिसे अन्ततक बराबर करता रहता है। उसके विचारों और सद्बुद्धिकी देखते हुए लगता है कवि उसके स्वाभाविक स्वरूपको भूल गया और उसके अमात्यत्वका ही प्रकेप दिखलानेमें लग गया। वह कामको असद्वृत्तिमें प्रेरणा देता हुआ कहीं नहीं देखा जाता; सदा उससे रोकता ही पाया जाता है।

जिनेन्द्र भी थे तो किसी समय कामकी ही पराधीन प्रजा, किन्तु वे सोच-समझकर वहाँसे निकल भागे हैं और अपना स्वतन्त्र साम्राज्य स्थापित करनेमें सफल होकर अब ठाठसे अपना विवाह उस अनुपम सुन्दरी सिद्धि वरांगनासे करनेकी तैयारीमें लगे हुए हैं। वे पहली बार हमारे सम्मुख तब आते हैं जब राग-द्वेष दूत कामका सन्देश लेकर उनकी सभामें पहुँचते हैं। कामका गुप्तचर संज्वलन द्वारपालके रूपमें उनके आनेकी सूचना देता है। सम्यक्त्व उनके सभामें आने देनेके पक्षमें नहीं है; किन्तु जिनेन्द्र अपने धीरो-दात्त स्वभावसे उन दोनोंके विवादको इतना मात्र कहकर समाप्त कर देते हैं कि आने दो उन्हें; मैं उन्हें तथा उनके स्वामी मारको साधनेमें समर्थ हूँ। वस इतने ही से उनके धैर्य, शान्ति, स्थिरता, दृढ़ता, आत्म-विश्वास आदि गुणोंका मार्मिक परिचय मिल जाता है। दूत अपना कार्य बड़ी कुशलतासे करते हैं। वे नाना प्रलोभन दिखाते हैं जो हमें बुद्धके मार तथा ईसाके शैतानका स्मरण कराते हैं। किन्तु उन्हें जिनेन्द्रका उत्तर पुनः उसी धीरता, दृढ़ता और संयमको लिये हुए है। “भाई, मैंने इन सब भोगोंका स्वरूप देख लिया। मुझे उनका अब कोई आकर्षण नहीं है। वस, यही एक साध है कि सिद्धिका परिणय कर उसके साथ अक्षय सुख और शान्तिसे रहूँ। तुमने जो काम-द्वारा हरि, हर, ब्रह्माको जीते जानेकी बात कहकर मुझे धमकानेका प्रयत्न किया है, सो तुम्हें इसकी लज्जा आनी चाहिए। और यदि स्मरसे समरांगणमें सामना करना पड़ा तो मैं सावधान किये देता हूँ, उसे यमके घाट उतारे बिना न छोड़ूँगा।” (१, ३१) आगे जहाँ-जहाँ भी जिनेन्द्रको देखने-सुननेका अवसर मिलता है, वहाँ उनकी इसी धीर-वीरताकी छाप हमारे हृदयपर अंकित होती है। हाँ, एक प्रसंग कुछ खटकनेवाला है जहाँ वे युद्धसे पूर्व आये हुए दूत रंगभावको प्रलोभन देते हैं कि “यदि आज तू मुझे संग्राममें स्मरको दिखला दे तो मैं तुझे बहुत देश, विषय और मण्डल (पारितोपिक) दूँगा।” (२, १९, ३) इसका जिनेन्द्रके स्वभावसे क्या मेल है, और उसकी सार्थकता भी क्या है यह समझमें नहीं आता।

नायिका सिद्धि ललना उसके भावात्मक स्वभाव व सच्ची कुलवधूके अनुरूप कहीं भी हमारी दृष्टिमें नहीं आती—विवाहके समय भी नहीं। किन्तु सारा जगत् और सारा काव्य उसकी ख्यातिसे व्याप्त है और उसके गुणोंसे जगमगा रहा है। उसकी मनोवृत्ति मात्रका परिचय हमें केवल एक बार आदिमें ही (१, ९-१०) रतिके मुखसे सुननेको मिलता है। “क्या तुम उसके सौभाग्यको नहीं जानते? जो लोग जरा-ग्रस्त हैं, काले हैं, मलिन हैं, इन्द्रिय-लम्पट, भिखारी व दम्भी हैं, जो अपनेको सजाते हैं और स्त्रियोंमें आसक्ति रखते हैं, ऐसे लोगोंको वह नहीं चाहती, यह उसके स्वभावका सार है।” इसके पश्चात् मुक्तिका जो श्लेषात्मक विशेषणों-द्वारा वर्णन दिया गया है वह बड़ा मार्मिक और कविकी काव्य-प्रतिभाका द्योतक है—“मुक्ति कामिनी अति गोल, चमकदार, सूत्रमें पिरोये मोतियोंकी हारलताओंसे भूषित है, सुन्दर वर्णसे अलंकृत और रत्नमयी दो कुण्डलोंसे विस्फुरायमान है। वह आठवें मंजिलपर अपने घरमें निश्चल रूपसे रहती है और इन्द्रकी भी इच्छा नहीं करती।” कहना न होगा कि अति सुवृत्त, तेजस्वी, गुणवान् भवतात्माएँ ही उसकी हारलताएँ हैं, आत्म-स्वभाव ही उसका सुन्दर वर्ण है, दर्शन और ज्ञान ये दो उसके रत्नकुण्डल हैं और अष्टम भूमि (सिद्धलोक) ही उसका अपना घर है। यहाँ कविने अपने चन्द्रोंकी व्यंजना-शक्ति-द्वारा कुत्सित मनुष्य व सिद्धिके प्रतिकूल दुर्गुणोंका तथा मुक्ति और स्त्रीके अलंकारोंका एक साथ अच्छा ज्ञान कराया है।

वार्तालाप जहाँ कहीं भी आये हैं—और वे अनेक हैं—वे बड़े स्पष्ट, पने और तीखे हैं। काम और रति तथा राग-द्वेष और जिनेन्द्र व उनके सभासदोंके परस्परालापका कुछ चित्र ऊपर दिया जा चुका है। संज्वलन जब जिनेन्द्रके पाससे भागकर कामके पास पहुँचता है और उसे प्रतिपक्षी सेनाका बल वर्णन कर डराना चाहता है तब मदन उसको डाँट-फटकार कर कहता है, “अरे, कहीं चूहोंकी सेना बिल्लीपर आक्रमण करती देखी गयी है?” (२, ११) समरभूमिमें जब सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका सामना होता है तब उनके परस्पर

वाण-प्रहारसे पूर्व वाक्प्रहार सुनने लायक हैं। मिथ्यात्व ललकारता है—रे सम्यक्त्व, या तो अपना प्रताप दिखला या भागकर अपने प्राण बचा। इसपर सम्यक्त्व कहता है, जो मनमें भावे सो कह डाल। मुँह बड़बड़ाता है, और दुख उठाना पड़ता है शरीरको। इत्यादि (२,४०)। केवलज्ञानसे सामना होनेपर मोह कहता है—‘मेरी मारके भीतर तू मत ठहर और व्यर्थकी गर्जना मत कर। मेरे सामनेसे दूर हट जा।’ इसपर केवलज्ञानने तीखे बोल बोले, अरे रे मोह, मैं तुझे अभी सीख देता हूँ। (२,४८)। ब्रह्मा और इन्द्रका संवाद तो एक स्वतन्त्र उपाख्यान ही है (२,३२-३८)।

वर्णनात्मक प्रसंग भी काव्यमें अनेक हैं और वे अच्छे सघे हैं। मोह कामकी प्रशंसाके पुल बाँधता है, ‘हे देव, समरमें आपसे भिड़ ही कौन सकता है। तुम्हारे भयसे सुरेन्द्र भी धरता है; धरणेन्द्र काँपता है; हरि, भानु, ब्रह्मा, शशि, वरुण, ईशान, हर, गरुड़ आदि सब मान छोड़ बैठते हैं। जनसमूह व नरेन्द्र तो आपके भयसे भाग उठते हैं, शत्रुगण समरमें रुदन और क्रन्दन करने लगते हैं, योगीन्द्र ध्यान छोड़ भागते हैं। इत्यादि (२,१३) रंगभाव दूत जिनेन्द्रके सम्मुख कामदेवके सामर्थ्यकी डींग मारता है—यदि आप भागकर स्वर्ग भी चले जायें तो काम अंकुशसे काढ़कर मार डालेगा। यदि पातालमें जा लियें तो कुदालसे खोद निकालेगा। यदि समुद्रमें जा घुसों तो वह समुद्रको सोखकर निकाल मारेगा। इत्यादि (२,१६) यह जब लौटकर मदन के पास जाता है और मदन उससे पूछता है कि जिनेन्द्रका क्या कहना है, तब वह कहता है। “क्या आप मुझे देखते नहीं हैं कि मेरी क्या दुर्दशा हुई है। हाथपर सिर रखा हुआ है और फिर भी पूछते हैं चोरने कितनी घात की। अजी, वज्रवानको कौन सिरपर झेले, तलवारकी धारके मार्गसे कौन जाये, कौन यमका साथ करे, और कौन भुजाओंसे सागर तरे। यमके महिषके सींग कौन उखाड़े, सोते सिंहको कौन जगावे, कौन कालकूट खाये, सर्पके मुखमें हाथ डाले या अग्निपर लेटे, इत्यादि। आप तो घरमें वीरता बघारते हैं और स्त्रियों के आगे तुम्हारी बड़ाई चलती है। अब तो आप भला चाहते हैं तो भागिए। जो भागेगा वही बचेगा। मेरा जो हुआ सो हुआ। उसे मैं जन्म-भर न भूलूँगा (२,२२)”। कामके प्रस्थान करते समय अपशकुनों का वर्णन (२,२४) और फिर सैन्यके संचलनका दृश्य (२,२५) बड़ा सजीव है। इसे पढ़कर पुष्पदन्त के वर्णनोंका विशेषकर णायकुमारचरित्रका स्मरण हो आता है। मोहका घात हो जानेपर रति कामको समझाती है—“नाथ यह वन्दी जो कहता है (कि भागकर प्राण बचाइए) वही करने योग्य है। खाटका एक अंग ठीकसे बुना जाये तो दूसरा अंग अपने-आप ही ठीक हो जाता है।” प्रीति भी कहती है, “इन लोहेके चनोंको चवाकर मरनेसे क्या लाभ ? ब्रह्मा आदिको आपने जैसा हराया वैसा जिनेन्द्रके साथ न हो सकेगा। आप व्यालसे भिड़नेके लिए छटपटा रहे हैं। किन्तु इससे होगा क्या ? आपका मरण, हमारा रंडापा और जिनेन्द्रके सुभटत्वकी न्याति”। (२,५५) कामके सैन्यके सत्यानाशका दृश्य मार्मिक है। ‘जैसे-जैसे स्याद्वाद भेरी बजी, तैसे-तैसे पाँच कुदर्शन नष्ट हुए। जैसे-जैसे पाँच महाव्रत बढ़े, वैसे-वैसे पञ्चेन्द्रियोंके मनमें शंका बढ़ी’। सारे कडवकमें ‘जिम-जिम’ और ‘तिम-तिम’का अच्छा ताँता बँठाया गया है। (२,६६) विवाहके समय की सजावट, उत्सव, गीत-नृत्यादि जय-जयकार व मंगलाशीपका दृश्य अपने ढंगका संक्षिप्त और सुन्दर है। (२,७७-८१)।

इस समस्त रचना द्वारा कवि अपने इस उपदेशकी सिद्धिमें भले प्रकार सफल हुए हैं कि अन्तिम कार्य-सिद्धि आकांक्षा और काले साधनों द्वारा नहीं होती; उसके लिए आन्तरिक शुद्धि और सदाचरणकी आवश्यकता है।

मयण-पराजयमें अलङ्कार

मयण-पराजय एक रूपक काव्य है जिसका समस्त आधार ही रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति, श्लेष आदि सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं। अतएव इन अलङ्कारोंका यहाँ स्वभावतः बाहुल्य है और वे हमें पद-पदपर दिखायी देते हैं। इन्हें विशेष रूपसे एकत्र प्रयुक्त देखना हो तो सिद्धि रमणीका रति-द्वारा किया गया वर्णन देखिए (१,८-९)। यहाँ सिद्धिको एक रमणी माना गया है, पापी, दम्भी, शोकीन पुरुषको उसका अनिष्ट प्रेमी,

उसके मोतियोंके हार, रत्नमयी कुण्डल और आठवें मञ्जिलपरका घर आदि सब अतिशयोक्ति, रूपक, उपमा और श्लेष आदि वृत्तियों-द्वारा मुक्त जीव, उनके ज्ञान दर्शन गुण, मुक्ति-लोक आदिके वाचक हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्राकृतमें श्लेषालङ्कारकी सुविधा संस्कृतसे कई गुणी अधिक बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ, प्रस्तुत प्रकरणमें 'मुत्तर्याहि' के विशेषण 'अइमुवित्तेहि' को लीजिए जिसमें तीन अर्थोंका समावेश है अतिगोल, अति चारित्रवान् और अतिधन (मूल्य) वान्। किन्तु यदि इसका संस्कृत रूप 'अतिवृत्तवान्' वहाँ रख दिया जाये तो उसके प्रथम दो अर्थ रह जाते हैं, तीसरा अर्थ नहीं टिकता। आगे (१,१७,१०मे) आया है 'वित्तवन्तु सरयणु अक्खिऊ जिणु" अर्थात् जिनेन्द्र बड़ा धनवान् (चारित्रवान्) व रत्नों (ज्ञान-दर्शन गुणों) का धारी कहा गया है। यहाँ यदि वित्तवन्तुके स्थानपर संस्कृत शब्द वित्तवान् या वृत्तवान् रख दिया जाये तो उससे उक्त दो अर्थोंमें-से किसी एककी ही सिद्धि होगी और प्रस्तुत प्रसङ्गका न केवल श्लेषालङ्कार ही विगड़ जायेगा, किन्तु उचितका औचित्य ही नहीं रहेगा। इसी प्रकारके अलङ्कारोंका संयोग जिनेन्द्रके वर्णनमें (१,१९-२०) भी देखने योग्य है।

श्लेष (अनेकार्थता) पर आधारित विरोधाभास अलङ्कारकी छटा जिनेश्वरके उस रूपमें देखिए (१,२५) जैसा राग-द्वेष दूतोंने आकर देखा। यहाँ भी 'वित्तमुक्कु परवित्त-विहूसणु'में जो धनसे रहित और फिर भी खूब धनसे (चारित्रसे) विभूषित रूप विरोधाभास अलङ्कार है वह वित्तके संस्कृत रूपसे विगड़ जाता है। इसलिए इसे शब्द-श्लेष मानना चाहिए। अन्य विशेषणोंमें अर्थश्लेष युक्त विरोधाभास है।

मदनका दूत बन्दी जिनेन्द्रके पाससे लौटकर उसे बतलाता है कि जिनेन्द्रके साथ वैर करना कितना भयङ्कर है। 'कौन अपने सिरपर वज्रघात ले, कौन खाँड़ेकी धारके पथसे जाये, कौन यमके दूतको जाते हुए छोड़े, कौन भुजदण्डोंसे सागर पार करे, कौन यमके महिषके सींग उखाड़े, इत्यादि (२,२१)। यही अलङ्कार २,५५,१२ में भी देखिए। यहाँ निदर्शनालङ्कारका अच्छा निरूपण हुआ है।

युद्धके समय मदनकी ओरसे पाप प्रकृतियोंने जो उपद्रव मचाया और जिनेन्द्रकी सेनामें विपत्तियाँ उत्पन्न कीं उसका चित्रण (२,५२) समुच्चय अलङ्कारका अच्छा उदाहरण है। "उन प्रकृतियोंने लोकको कैपा दिया, योग छुड़ा दिया। कोई कोपसे घड़घड़ाता है, कड़कड़ाता है, तड़तड़ाता है, हँसाता है, त्रासता है, बहुत भय दिखाता है, निन्दासे तपाता है। इत्यादि।

दृष्टान्तका एक उदाहरण है। बन्दीकी कामके प्रति इस उक्तिमें "सामान्य पुरुषोंसे युद्ध करकेतुझे भ्रान्ति हो गयी और तू अपनेको सबसे बड़ा समझने लगा। अन्धकार तभी तक भुवनतलको ढकता है जब तक सूर्यको नहीं देखता" (२,६३) "या तो मदनको सेवा कर या फिर ठाँव विचार" (१,२१) ऐसी उक्तियों और घमकियोंमें विकल्प अलङ्कार दिखायी देता है।

इन अर्थालङ्कारोंके अतिरिक्त शब्दालङ्कारोंका भी इस काव्यमें अच्छा समावेश है। अनुप्रास और यमकके नाना प्रकारोंके उदाहरण ग्रन्थमें सर्वत्र आये हैं। विशेषतः देखिए (१,१;१,११;२,३४,३-५;२,६६)।

मयरा-पराजयकी छन्द-व्यवस्था

हमें जो कमसे-कम चार हजार वर्षोंका भारतीय साहित्य उपलब्ध है उसमें काल-क्रमसे जितना भाषा, व्याकरण, अलङ्कार व छन्दकी दृष्टिसे उत्पन्न हुआ विकास व वैचित्र्य दिखायी देता है, उतना सम्भवतः संसारके किसी अन्य साहित्यमें नहीं पाया जाता। यहाँ हमारा प्रयोजन छन्दसे है। वेद सबसे प्राचीन भारतीय रचनाएँ हैं और उनमें भी ऋग्वेद। इस वेदमें एक हजारसे भी अधिक मुक्त अर्थान् कविताएँ हैं और प्रत्येकमें औसतन दस ऋचाएँ (पद्य) हैं। इस प्रकार ऋग्वेदमें कोई नादो दस हजार पद्य है। यह समस्त वेद छन्दोबद्ध होनेसे वेदोंका सामान्य नाम भी छन्दस् हो गया। पाणिनि आदि व्याकरणोंने वेदोंका इसी नामसे उल्लेख किया है।

वैदिक ऋचाओंमें कोई पन्द्रह भिन्न-भिन्न छन्दोंका प्रयोग पाया जाता है। इनमें सबसे अधिक प्रयुक्त हुए छन्द तीन हैं—गायत्री, त्रिष्टुभ और जगती। गायत्रीमें ८ वर्णोंके तीन चरण होते हैं। त्रिष्टुभमें ११ वर्णोंके

चार, तथा जगतीमें १२ वर्णोंवाले चार चरण। इस प्रकार ये तथा अन्य समस्त वैदिक छन्द वर्णवृत्त हैं, क्योंकि उनका वैशिष्ट्य, सामञ्जस्य व सन्तुलन प्रत्येक चरणमें वर्णोंकी संख्यापर ही अवलम्बित है। उनका पाठ भी बलाघातात्मक है जिसमें सुरका वैचित्र्य उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामक सुरकी तान या ढिलाईपर आधारित है। सामवेदमें इनके गीतकी व्यवस्था की गयी है, किन्तु उक्त प्रकार वर्णबन्धनसे उनकी गेयताका क्षेत्र विशेष प्रकारसे नियन्त्रित है।

त्रिष्टुभ छन्दका एक उदाहरण देखिए—

अर्हन् विभिर्भि सायंकानि धन्वं अर्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।

अर्हन् इदं द्यसे विश्वमभ्यं न वा ओर्जायो रुद्र त्वर्दस्ति ॥ (ऋग्वेद २, ३८, १०)

यह रुद्र देवताकी स्तुति है। हे अर्हन्, आप अनेक सायक और धनुष धारण करते हैं। हे अर्हन्, आपका निष्क (सुवर्ण हार) पूजनीय और विश्वरूप है। हे अर्हन्, आप विश्वके भूतोंकी दया करते हैं। हे रुद्र, आपसे अधिक भोजस्वी कोई नहीं है।

मूलमें उदात्त स्वरका संकेत है वर्णके ऊपर। और अनुदात्तका वर्णके नीचे— संकेतहीनता स्वरितकी सूचित करती है। व्यवहारमें वेदोंका पाठ करते समय वेदपाठी इस बलाघातप्रणालीको सिर व हाथको ऊपर, नीचे व तिरछे हिलाकर व्यक्त करते हैं।

वैदिक छन्दोंमें भावी विकासके समस्त बीज विद्यमान हैं। यों शास्त्रीय दृष्टिसे किसी भी छन्दमें सभी वर्ण ह्रस्व या दीर्घ हो सकते हैं, किन्तु व्यवहारमें इनका विकल्प और तदनुसार सुरभेद दिखता ही है। चरणके अन्तिम चार-पाँच अक्षरोंकी तान नियत होती है, तथा ११-१२ वर्णोंवाले चरणोंके मध्यमें यति भी आती है। भिन्न-भिन्न छन्दोंको मिलाकर संयुक्त छन्दोंका निर्माण भी किया जाता था जिन्हें प्रगाथ कहा गया। सूक्तके अन्तकी ऋचाका छन्द बदल देनेकी भी प्रथा थी, जो संस्कृत काव्योंके सर्गोंमें बद्धमूल हुई।

संस्कृत भाषाके युग (ई. पू. ५०० के लगभग) में आकर वैदिक छन्दोंमें विशेष विकास हुआ। वहाँ का अपेक्षाकृत अप्रधान अनुष्टुभ छन्द सुप्रसिद्ध श्लोक बना, जिसमें प्रधानतासे रामायण, महाभारत व अन्य शास्त्र पुराण रचे गये। त्रिचरणात्मक गायत्री छन्दका लोप हो गया, तथा त्रिष्टुभ, जगती आदि छन्दोंने नये-नये नाना वृत्तोंको जन्म दिया। वैदिक छन्दोंकी वर्णसंख्या-पद्धति तो इन नये छन्दोंमें भी रही, किन्तु एक ओर तो उनमें उदात्त-अनुदात्तकी स्वरप्रक्रियाका त्याग कर दिया गया, और दूसरी ओर गण-व्यवस्थाका अनिवार्य नियम लगा दिया गया। इस प्रकार संस्कृतके छन्दोंमें वर्णोंकी संख्याके साथ-साथ पूरे चरणमें आदिसे अन्ततक ह्रस्व-दीर्घ मात्राओंका विचार भी नियमित हो गया। अब इन छन्दोंके जानके लिए उनके प्रत्येक चरणमें कितने वर्ण, किस प्रकार ह्रस्व-दीर्घ क्रमसे आना चाहिए, यह ध्यान रखना भी अनिवार्य ठहर गया। वर्णोंकी संख्या वही होते हुए भी यदि कहीं उनके ह्रस्व-दीर्घ स्वरोंका क्रम बदल गया तो छन्द दूषित हो गया, या कोई अन्य छन्द ही बन गया। इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा व उपजाति, इन तीनों छन्दोंके प्रत्येक चरणमें वैदिक छन्द त्रिष्टुभके समान वर्ण ग्यारह ही होते हैं, किन्तु उनके ह्रस्व दीर्घत्वके क्रममें भेद पड़ता है। जैसे—

स्याद्दिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ॥

अनन्तरोदीरित-लक्ष्ममाजौ पादौ यदीयौ उपजातयस्ताः ॥

अर्थात् जब किसी छन्दके प्रत्येक चरणके ग्यारह वर्ण त त ज ग ग इन गणोंद्वारा सूचित ह्रस्व-दीर्घ क्रमसे आते हैं तब वह इन्द्रवज्रा छन्द होता है। इतने ही वर्ण यदि ज त ज ग ग इस गणक्रमसे आये, अर्थात् यदि चरणका केवल प्रथम वर्ण गुरु (दीर्घ) न होकर लघु (ह्रस्व) हुआ तो वह उपेन्द्रवज्रा बन गया। और यदि एक चरणमें वह प्रथम वर्ण इन्द्रवज्राके समान गुरु तथा दूसरे चरणमें उपेन्द्रवज्रा सदृश लघु हो गया तो वह पूरा छन्द न इन्द्रवज्रा कहलाया और न उपेन्द्रवज्रा, किन्तु तीसरा ही उपजाति नामक हुआ। इस परिभाषामें ही उन तीनों वृत्तोंके लक्षण भी गुपे हुए हैं। इस प्रकार संस्कृतके छन्दोंकी परिभाषाओंकी समझनेके लिए उनके गणोंके संकेतोंका ज्ञान होना आवश्यक है जो इस श्लोकसे जाना जाता है—

मन्त्रिगुरुः त्रिलघुश्च नकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः ।

यो गुरुमध्यगतो र लमध्यः सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः ॥

अर्थात् अनुक्रमसे आये हुए तीन गुरु वर्णोंको मगण कहते हैं, और तीन लघु वर्णोंका नवर्ग होता है । यदि आदिमें गुरु और शेष दो वर्ण लघु हुए, तो वह भगण कहलाया । तथा आदि वर्ण लघु और शेष दो वर्ण गुरु होनेसे यगण बना । मध्यमें गुरु जगण, मध्यमें लघु रगण होता है, एवं अन्त गुरु सगण, तथा अन्त लघु तगण माना जाता है । इनको समझानेकी सांकेतिक प्रणाली भी है । ग (गुरु)का संकेत (S) और ल (लघु) का (l) ग्रहणकर उक्त गणोंको इस प्रकार सूचित किया जाता है—

म—S S S	ज—l S l
न—l l l	र—S l S
भ—S l l	स—l l S
य—l S S	त—S S l

इस प्रकार संस्कृतके छन्दोंमें इन लघु गुरु आत्मक गणोंकी बड़ी महिमा है । वे हैं तो वैदिक वृत्तोंके समान वर्णिक ही, किन्तु उन्हें उक्त वैशिष्ट्यके कारण गण-छन्द कहना अधिक उपयुक्त होगा ।

जिस समय वेदोंके विद्वान् ऋषि वेदपाठकी छन्द प्रणालियाँ नियमित कर रहे थे, उसी कालमें जन-साधारणका लोकरंजन करनेवाले ऐसे भी गायक रहे होंगे जो छन्दोंमें वर्णोंकी संख्याका नहीं, किन्तु सुर तालके विचारसे छन्दमें मात्राओंका ही पालन करते रहे होंगे । ऐसी गाकर सुनायी जानेवाली बहुत-सी 'गाथाएँ' ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणोंमें पायी जाती हैं । ऐसी लोकप्रिय गाथाएँ पालि-साहित्यमें भी भरी पड़ी हैं और वे ही उस साहित्यका प्राचीनतम भाग मानी जाती हैं । जिस प्रकार अनुष्टुप् छन्द संस्कृत-साहित्यमें आकर उसका प्राण बना, उसी प्रकार प्राकृत काव्यका सबसे अधिक प्राचीन और लोकप्रिय छन्द गाथा हुई जिसकी विशेष व्यवस्था उसके चरणोंके वर्णोंपर नहीं, किन्तु मात्राओंपर अवलम्बित रखी गयी । गाथा यथार्थतः एक चतुष्पदी गीत था और उसमें गायकोंकी योग्यता व प्रतिभाके अनुसार मात्राओंकी घटा-बढ़ी भी खूब होती थी । इसीलिए उसके अनेक भेद प्रचारमें आये । प्राकृत भाषाके द्वितीय स्तरमें (प्रथमसे पाँचवीं शती) अनेक द्विपदी, चतुष्पदी, षट्पदी आदि गेय छन्दोंका विकास हुआ जो सभी मात्रिक थे । इस युगके भाषा-वैशिष्ट्यके अनुसार मध्यवर्ती कुछ अल्पप्राण व्यञ्जनोंके लोप व महाप्राणोंके हादेशके द्वारा इन छन्दोंका सुरमाधुर्य भी विशेष बढ़ा । प्राकृतके तृतीय स्तर (छठी शती)में आकर इन मात्रिक छन्दोंका असाधारण विकास हुआ । उनमें यमक (तुकबन्दी)के आविष्कारसे तो इन छन्दोंका स्वरूप ही कुछ नया हो गया । इस युगकी भाषा अपभ्रंश और इसीके कुछ विशेष छन्दोंका प्रस्तुत काव्यमें प्रयोग पाया जाता है ।

मयणपराजयचरिउकी पूर्ण रचना पद्यात्मक है और दो संधियों (परिच्छेदों)में विभाजित है । प्रथम संधिमें पद्यखण्डोंकी संख्या ३७, तथा दूसरी संधिमें ८१ होनेसे पूर्ण काव्यमें ११८ पद्यात्मक खण्ड हैं । प्रथम संधिके आदिमें लगातार ११ वस्तु छन्द हैं । तत्पश्चात् रचना एक वस्तु और एक कडवकके विकल्पसे आगे बढ़ी है । केवल १२ वां पद्य-गाथा छन्दमें है तथा २८, २९ और ३० वें पद्य एक साथ तीन वस्तु छन्दात्मक आये हैं । इस प्रकार प्रथम संधिमें कुल २५ वस्तु, ११ कडवक तथा १ गाथा छन्दके पद्य आये हैं ।

दूसरी संधिके आदिमें एक विशेष पद्यके पश्चात् एक दुवई, एक वस्तु और एक कडवकका क्रम अन्त तक चला है । केवल ६० से ६५ तकके ६ पद्य एक साथ वस्तु छन्दात्मक आये हैं । इस प्रकार इस संधिमें २५ दुवई, ३० वस्तु और २५ कडवक तथा १ अन्य छन्दात्मक पद्य आये हैं । इस प्रकार समस्त काव्यमें ५५ वस्तु, ३६ कडवक, २५ दुवई, १ गाथा तथा १ अन्य, ऐसे ११८ पद्य हैं । वस्तु और दुवई छन्दोंका मूलमें ही सर्वत्र उल्लेख किया पाया जाता है ।

वस्तु—उपयोगके प्रमाणानुसार यह छन्द मयणपराजयचरिउके कर्ताको सबसे अधिक प्रिय है, क्योंकि काव्यके ११८ पद्योंमें-से ५६ में इसीका प्रयोग किया गया है । यह अपभ्रंश काव्यका सुप्रचलित नादा छन्द है जिसका दूसरा नाम रघ्ना भी पाया जाता है । 'प्राकृत-पैंगलम्'में इसका स्वरूप इसी छन्दमें निम्न प्रकार

वतलाया गया है—

पदमेँ विरयइ मत्त दह-पंच
पए चीए वारह ठवहु, तीए ठाँइ दह-पंच जाणहु ।
चरिमे एग्यारहहिँ, पंचमें वि दह-पंच आणहु ॥
अट्टासट्टी पूरवहु अरगे दोहा देहु ।
राअसेणेँ सुपसिद्ध इअर रड्ड मणिज्जइ एहु ॥ (प्रा. पि. १, १३३)

अर्थात् प्रथम चरणमें पन्द्रह मात्राओंकी रचना करनी चाहिए। दूसरे चरणमें वारह स्थापित करो और तीसरेमें पन्द्रह जानो। चौथे चरणमें ग्यारह और पाँचवेंमें पन्द्रह मात्राएँ लाओ। इस प्रकार अड़सठ (१५ + १२ + १५ + ११ + १५ = ६८) मात्राएँ पूरो करो और उसके आगे एक दोहा छन्द दो। इस प्रकारसे रचित छन्दको रायसेन-द्वारा सुप्रसिद्ध रड्डा छन्द कहा गया है।

प्राकृत पैगलम्के अगले पद्य (१, १३४) में इसी छन्दका यही स्वरूप दूसरे प्रकारसे विस्तार सहित वतला दिया गया है—

विसम तिकल संठवहु तिणिण पाइक्क करहु लइ ।
अंत णरिंद कि विप्प पदम वे मत्त अवर पइ ॥
सम पअ तिअ पाइक्क सच्च लहु अंत विसज्जहु ।
चउठा चरण विचारि णैक्क लहु कट्टि य लिज्जहु ॥
इम पंच पाअ उट्टवण कइ वस्थु णाम पिंगल कुणइ ।
ठवि दोसहीण दोहा चरण राअसेण रड्डा मणइ ॥

अर्थात् विपम (प्रथम, तृतीय और पंचम) चरणोंमें पहले त्रिकल (तीन मात्राएँ) और फिर तीन पाइक्क (तीन वार चार-चार मात्राएँ) करो। प्रथम चरणके अन्तमें नरेन्द्र (जगण अर्थात् मध्यगुरु रूप चतुष्कल) अथवा विप्र (चारलघु मात्राओंका चतुष्कल) होना चाहिए। तथा शेष तीसरे व पाँचवें इन दोनों चरणोंके अन्तमें दो-दो लघु मात्राएँ। सम अर्थात् दूसरे और चौथे चरणोंमें तीन पाइक्क (चतुष्कल) दो जिनमें अन्तिम मात्रा सर्व लघु हो। चौथे चरणमें विचारपूर्वक कोई एक लघु मात्रा काट लो अर्थात् उसमें वारह नहीं, किन्तु केवल ग्यारह मात्रा रखो। इस प्रकार पाँच चरणोंकी उद्घर्तनीको पिंगल वस्तु कहते हैं। और उसीके साथ एक दोपहीन दोहाके चरण स्थापित करके रायसेन रड्डा कहते हैं।

यहाँ इस छन्दका पूर्वोक्त प्रकार स्वरूप वतलानेके अतिरिक्त पिंगलने अपना कुछ विशेष मत प्रकट किया है। पहले तो ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस मतके अनुसार वस्तु छन्दके प्रथम चरणके अन्तमें लघु, गुरु और लघु या चारों लघु मात्राएँ होना चाहिए। किन्तु प्रस्तुत काव्यके वस्तु छन्दोंमें इस नियम का पालन दिखाई नहीं देता। जैसे, आदिके ही प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, नवम और दशम पद्योंके प्रथम चरण त-गण अर्थात् गुरु, गुरु और लघु मात्राओंके साथ, व तृतीय और ग्यारहवें पद्य गुरुके पश्चात् तीन लघु-मात्राओंके साथ अन्त होते हैं। इस प्रकार लगातारके उन प्रथम ग्यारह वस्तु छन्दोंमें-से सातमें पिंगलके उक्त नियमका पालन नहीं पाया जाता। केवल शेष चारमें-से दो (२ और ५) में चार लघुमात्राएँ व अन्य दो (७ और ८) में मध्यगुरु-जगण पाया जाता है।

पिगलका दूसरा यह मत प्रतीत होता है कि उक्त प्रकारके प्रथम पाँच चरणोंका वस्तु छन्द होता है और इसके साथ एक दोहा जोड़ देनेसे वही रायसेनका रड्डा छन्द हो जाता है। इस प्रकार उन्होंने इस

१. प्राकृत टैक्स सोसायटी-द्वारा प्रकाशित प्राकृत पैगलम् (वाराणसी, १९५९) में इसके पाठमें पठम, पअ, वीअ, तीअ, चारिम, राअसेण, ऐसे निर्विभक्तिक पद स्वीकार किये गये हैं। मैंने उन्हें अपभ्रंश भाषाकी शैलीके अनुसार उनके यथोचित मूल रूपमें रखनेका प्रयत्न किया है।

छन्दका संकीर्ण स्वरूप प्रकट कर दिया है। इसी वस्तु छन्दके पिगलने उसके चरणोंमें मात्राओंकी संख्या-नुसार अन्य करही, नन्दा, मोहिनी, चारुसेनि, भद्रा, राजसेन, और तालंक, ये सात भेद और वतलाये हैं। (प्रा. पै. १, १३६-१४३) इससे इस छन्दका सुप्रचार और उसके प्रयोगमें खूब स्वतन्त्रता रही सिद्ध होती है।

स्वयम्भू छन्दस् (८,४०) में उक्त वस्तु छन्दके प्रथम पाँच चरणोंकी मात्रा (मत्ता) छन्द कहा गया है। यद्यपि इस ग्रन्थमें दोहा छन्द भी वर्णित है, तथापि उन दोनोंको मिलाकर संकीर्ण रड्डा छन्द बनानेका उसमें उल्लेख नहीं है। किन्तु विरहाङ्क कृत वृत्तजाति-समुच्चयमें स्वयंभूछन्दस्के सदृश ही मात्रा छन्दका लक्षण देनेके पश्चात् रड्डा छन्दका भी स्वरूप इस प्रकार वतलाया गया है—

एअहु मत्तहु अंतिमउ जव्विहि दुवहउ भोदि ।

तो तहु णामें रड्डु फुडु छंदइं कइअणु भोदि ॥ (वृ.जा.स.४,३१)

अर्थात् इसी मात्रा वृत्तके अन्तमें जब दोहा जोड़ दिया जाता है, तब छन्दमें उसे कविजन रड्डा नाम एक अलग छन्द कहते हैं।

इसपर-से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः रड्डा नामक सङ्गीर्ण छन्दका आविष्कार स्वयम्भू और विरहाङ्कके बीच अर्थात् ८वीं और १०वीं शतीके मध्य हुआ।

दोहा—वस्तुके अन्तमें जिस दोहाकी स्थापना कही गयी है उसका स्वरूप पिङ्गलने इस प्रकार वतलाया है—

तेरह मत्ता पढम-पयें पुणु एअरह देहु । पुणु तेरह एअरहइं दोहा-लन्वणु एहु ॥

(प्रा.पै. १,७८)

अर्थात् प्रथम चरणमें तेरह, दूसरेमें ग्यारह, तीसरेमें तेरह और चौथेमें ग्यारह मात्राएँ देनेसे दोहा छन्द होता है। इसके अनेक भेद हैं। इसके सबसे कम अक्षर छव्वीस हो सकते हैं, जिनमें-से वाईस गुरु (४४ मात्रा) और चार लघु (४मात्रा) होंगे। इस दोहा-भेदको उन्होंने भ्रमर कहा है। गुरु वर्णोंकी संख्या क्रमशः घटते, और तदनुसार लघु मात्राओंकी संख्या दुगुण क्रमसे बढ़ते, जानेसे दोहा छन्दके अनेक उपभेद होते हैं, जिनको पिङ्गलने चार वर्णोंमें विभाजित किया है—उन्होंने वारह लघु मात्रावाले दोहोंको विप्र, वाईस वालोंको क्षत्री, वत्तीस वालोंको वैश्य तथा शेषको शूद्र वर्ण कहा है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इसके रचना कालमें वर्ण-व्यवस्था कितनी कठोरतासे लेखकके मानस-पटलपर बद्धमूल थी। प्रस्तुत काव्यमें दोहा अनेक प्रकारके पाये जाते हैं।

अलिल्लह या अडिल्लह—कडवकोंमें कविका सबसे अधिक प्रिय छन्द अडिल्लह है, क्योंकि इसीमें काव्यके समस्त ३६ कडवकोंमें-से २८ की रचना हुई है। प्राकृत पैङ्गलके अनुसार इस छन्दका स्वरूप यह है—

सोलह मत्ता पाउ अलिल्लह । वे वि जमक्का भेउ अडिल्लह ॥

हो ण पओहर किंपि अडिल्लह । अन्त सुपिअ गण छन्दु अडिल्लह ॥ (प्रा.पै.१,१२७)

अर्थात् प्रत्येक चरणमें सोलह मात्राएँ हों और ऐसे दो चरणोंमें परस्पर यमक (तुकवन्दी) हो। इसमें (पादान्तमें) पयोधर (जगण लघु, गुरु लघु) कहीं न रखा जाये। पादान्तमें सुप्रिय (दो लघु मात्राएँ) हो। इसे अडिल्लह छन्द कहिए।

प्रस्तुत काव्यके २८ कडवकोंमें इस छन्दके उक्त नियमका पूर्णतः पालन दिखायी देता है। हाँ, उनके बीच कहीं-कहीं कोई पंक्तियोंमें जगण पादान्त दिखायी देती है जिससे वे पञ्जटिका छन्दात्मक हैं। तथा कुछ में अन्तकी दोनों मात्राएँ गुरु होनेसे उन्हें पादाकुलक कहना चाहिए।

पड्डाटिका—काव्यके चार कडवक (१-३७; २-३४, ५५, ७५) इन छन्दमें रचे गये हैं। इनका लक्षण प्राकृत पैङ्गलके अनुसार निम्न प्रकार है—

मयण-पराजय-चरिउकी भाषा

मयण-पराजय-चरिउमें हमें प्रायः उसी टकसाली अपभ्रंशका स्वरूप प्राप्त होता है जिसका वर्णन हेमचन्द्रने अपने प्राकृत व्याकरणके चतुर्थ पादमें अन्तिम ३२९ से ४४६ तकके ११८ सूत्रोंमें किया है, और जिसका प्रयोग हमें स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धनपाल, कनकामर, जोड़दु आदि अपभ्रंशके महाकवियोंकी रचनाओंमें प्रचुरतासे मिलता है। इन कवियोंकी जो कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं उनकी प्रस्तावनामें सम्पादकोंने प्रायः उनकी भाषाका स्वरूप संक्षेप या विस्तारसे निर्दिष्ट कर दिया है। मैं अपने द्वारा सम्पादित णायकुमार-चरिउकी प्रस्तावना (पृ. ४५-५७) में विस्तारसे अंग्रेजी तथा सावयधम्म दोहा (प्रस्ता. पृ. २८-३६) और पाहुड दोहा (प्रस्ता. पृ. ३३-४६) में हिन्दीमें इस भाषापर पर्याप्त प्रकाश डाल चुका हूँ। ऐतिहासिक दृष्टिसे भी मैंने इस भाषा और उसके साहित्यके विकासका अपने एक लेख (अपभ्रंश भाषा और साहित्य : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अंक १-२, ३-४, पृ. १-८ और १००-१२१) में बहुत कुछ परिचय करा दिया है। इसके पश्चात् डॉ० तगारेका, 'हिस्टोरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश' तथा डॉ० हरिवंश कोष्टक कृत 'अपभ्रंश-साहित्य' (१९५६) भी प्रकाशित हो चुके हैं। अतः यहाँ उसी भाषाके सम्बन्धमें पुनः विस्तारसे वर्णन करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। केवल प्रस्तुत ग्रन्थकी थोड़ी-सी भाषात्मक विशेषताओंका यहाँ उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा।

१. ध्वनियोंकी दृष्टिसे संस्कृत 'प्रतिज्ञा'का रूप पयज्ज (२, ४, १०) ध्यान देने योग्य है। हैम. (१, २०६) में उसका रूप पइण्णा दिया गया है। हिन्दीमें पइज व पैज शब्द प्रचलित हैं। नैपुण्यका प्राकृतरूप नेपुण्णके स्थानपर यहाँ णियपुणु (१, २, ३) आया है। संजुवउ-संयुक्त (१, ५, ४) दूव-दूत (१, १९, ३) रयण-जुव-रत्नयुक्त (१, २०, ५) आदिमें व श्रुति ध्यान देने योग्य है। महिराजु, भोगु (१, १९, ९) आदि शब्दोंमें मध्यवर्ती अल्पप्राण वर्णका लोप नहीं हुआ। णिच्छेइ—न इच्छति (१, ८, ५) में सन्धि असाधारण है। सौम्यमूर्तिके स्थानपर सोमुत्तिय (२, ३७, १२) में वर्णलोप हुआ है। वरइ-वारयति (२, ४०, १३) में ह्रस्वत्व, पारावत्तिउ-परावत्तितः (२, ३१, ८) में दीर्घत्व, तथा सम्माणु-समान (१, ५, ४) में व्यंजनद्वित्व छन्दनिर्वाहके लिए किया गया है।

२. संज्ञाके रूपोंमें तृतीया विभक्तिके लिए ई और इणके प्रयोगके लिए यहाँ विशेष पक्षपात दिखायी देता है जैसे भिच्चि (भूत्येन), दइच्चि (दैत्येन), करालि (करालेण), मयणि (मदनेन), वंभाणि (ब्रह्मणा), पुत्ति (पुत्रेण) आदि। तथा मणिण (मनसा), कामिण (कामेन), भत्तिभारिण (भक्ति-भारेण), वित्थरिण (विस्तारेण), दसणिण (दर्शनेन), भइण (भयेन) आदि। 'इण'के स्थानपर कहीं-कहीं 'यण' भी आया है जैसे कामियण (कामिकेन), भुल्लयण (भुल्लेन)।

३. संज्ञाओंमें विभक्ति-लोपकी प्रवृत्ति वृद्धिकी ओर दिखायी देती है। जहाँ अधिक नाम गिनाये गये हैं, जैसे १, ६; १, २१; १, ३३; २, ४ वहाँ यह विभक्ति-लोप प्रचुरतासे पाया जाता है। अन्यत्र भी प्रथमा व द्वितीया विभक्तिके लोपके उदाहरण मिलते हैं, जैसे—प्रथमा सारत्त-सारत्त्व (१, ९, ५), दूवत्त-दूतत्त्व (१, १३, ५), दूव-वयण—दूत-वचन (१, १९, ३)। द्वितीया—पणमामि-विसहसेण (१, ३, २), कह कहमि (१, ३, ३), रयण लएप्पिणु (१, १७, १३), दूव पेक्खिवि (१, २१, १७) करि सेव (१, २९, २), भुंजि विसय बहु देस मंडल (१, २९, २) आदि। यद्यपि इस सम्बन्धमें हेमचन्द्रका वह नियम ध्यान में रखना चाहिए जिसके अनुसार प्रथमा और द्वितीयाके एकवचन और बहुवचनकी विभक्तियोंका दिकल्पसे लोप भी होता है (८, ४, ३४४), तथापि यह भी ध्यान देने योग्य है कि यह प्रवृत्ति प्राचीन रचनाओंमें बहुत कम और उत्तरकालीन कृतियोंमें क्रमशः बढ़ती हुई पायी जाती है। वर्तमान रचनामें उक्त प्रथमा-द्वितीया विभक्तियोंके अतिरिक्त अन्य कारकोंमें भी विभक्ति लोप पाया जाता है, जैसे तृतीया—विट्ठिम कव्वु करेमि—अष्टिम्मा (१, ३, ५), अरि करि ह्यउ-अरिणा करी हतः (२, ६५, ३); पठ्ठी—खट्टु वुण्णजइ एकु अंगु (२, ५५, ७); सप्तमी—पियपय घराविट्—निजपदयोः घरापितः (१, ७, २), महिला जे आसत्त—

महिलासु ये आसवताः (१, ९, ४), मयगल चडिवि (२, ५७, ३) ।

४. विभक्तियोंके प्रयोगमें व्यत्यय भी पाया जाता है । जैसे—द्वितीयाके स्थानपर प्रथमा—सा आणउं—ताम् आनेतुम् (१, १७, ४), परिहणमि सो मयणु—परिहन्मि तं मदनम् (१, ३२, २); द्वितीयाके स्थान पर षष्ठी—जा महु णउ इच्छेइ—या मां नेच्छति (१, ८, ४); तृतीयाके स्थानपर प्रथमा—स विरहियण (१, २१, ४), को जिप्पइ मयरद्धयरायहो (२, ४०, २); तृतीयाके स्थानपर षष्ठी—मयणरायस्स ण जिप्पइ चित्त-सिंधुरो (२, ३५, २); पभणउ करुणु ख्वंतियहु (२, ६५, ५), सत्ततत्तहं भिडिय भय सत्त—सत्त तत्तैः (२, ४५, १) खमदमहं, तं मेल्लावहि मुज्झ (१, ११, ५), गुणहं, चारित्तहं आदि; चतुर्थीके स्थानपर षष्ठी—तउ इव्वहिं लाइमि सिक्ख (२, ४८, ५) । इस सम्बन्धमें यह भी ध्यान रहे कि प्राकृतमें कारक विभक्तियोंका व्यत्यय व्याकरणकारोंने स्वीकार किया है (हे० ८, ३, १३४—१३७) ।

५. सम्बन्ध सूचक 'तण' और 'केर' तथा अधिकरण सूचक 'मज्झि' परसर्गोंका प्रयोग दोनों प्रकारका पाया जाता है—विभक्तिके साथ और बिना विभक्तिके । जैसे—धम्मह तणिय (१, १३, २), जिणवर-तणइ (१, २४, २), मयरद्धय-तणउ (१, ३६, ५), जिणसामियन्तणउ वलु (२, ९, ५), अण्णह केरउ (१, १७, ११) महु केरउ (१, ३१, ६), मयरद्धय-केरउ (१, २३, ८), खणह मज्झि (२, ३४, ९), घरह मज्झि (२, ६८, ३), खण-मज्झि (२, ३३, २), णियघरमज्झि (२, २२, ७) ।

६. व्यक्तिवाचक सर्वनामोंके कुछ रूप उल्लेखनीय हैं । उत्तमपुरुष षष्ठी एकवचनके लिए हेमचन्द्रने मज्झु (हे० ८, ४, ३७२) स्वीकार किया है । किन्तु यहाँ मुज्झ भी पाया जाता है (१, ११, ५) । यह प्रयोग मध्यम पुरुषके तुज्झको देखते हुए विलकुल स्वाभाविक था । हिन्दीमें 'मुज्झ'का ही प्रयोग प्रचलित पाया जाता है । मेरउ (२, ७२, ४) म्हारी (२, ४३, ७) व अम्हारइं (१, २५, १) रूप भी ध्यान देने योग्य हैं । हेमचन्द्रने अम्हारा व महारा रूप स्वीकार किये हैं (हे० ८, ४, ४३४) किन्तु मेरउ नहीं । यह भी हिन्दीमें जैसाका-तैसा 'मेरा' पाया जाता है । 'म्हारी' और 'अम्हारइं' अम्हाराका रूपान्तर ही हैं । अम्हारइंका विभक्त्यर्थ सम्प्रदान वाचक है 'देहि देव अम्हारइं'—हे देव, हमारे को दो । यह भी हिन्दीके निकट है । उसी प्रकार तुम्हारी के स्थानपर तेरी (१, ३७, १०) और 'तोरी' (२, २२, ७) भी जैसेके-तैसे हिन्दी रूप हैं । ए चयारि (२, ७, ७) भी हिन्दीके 'ये चार' के निकट आ गया है । अपभ्रंशके एह, एहो, एहु व एइ रूप घिसते-घिसते ए मात्र रह गये हैं । तत्का अधिकरण रूप तेहम्मि (२, ७५, ६) भी असाधारण है । वह तहिं और तम्मिके मेलसे उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है ।

७. यह बात सुज्ञात है कि प्राकृत काव्योंमें क्रियाका कार्य प्रायः कृदन्तोसे चलाया जाता है । किन्तु अपभ्रंश काव्योंमें क्रियाओंका प्रयोग भी अपेक्षाकृत बहुलतासे पाया जाता है । प्रस्तुत रचना इस दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यहाँ कृदन्तों और क्रियाओंका उपयोग प्रायः बराबर ही किया गया है । जैसे वर्तमान-कालिक कहमि, रइमि, करमि, जाणेमि, करेमि, मरहि, णिहालहि, णिहणहि, लज्जहु, गलगज्जहु, गुणहु, अत्थि, होइ, जंपइ, लवइ, थक्कइ, जाणइ, णेइ, हसेइ, गज्जेइ, आदि; गज्जहिं, भज्जहिं, संकहिं, सल्लहि आदि । भविष्यकालिक हवेसइ, पइसेसइ, पेसेसइ, णासेसइ, मरेसि, परिणेवी आदि; आज्ञावाची—पुनहु, मेल्लहु, रएसहु, पिच्छसु, णासेहि, णिएहि, वुल्लेहि; आणि, छंडि, परिणि, हक्कारि, जुज्झि आदि । कर्मणि प्रयोग—किज्जइ, विरइज्जइ, गाइज्जइ, जाइज्जइ, भरिज्जइ आदि । प्रेरणार्थक—हासेइ, तासेइ, दावेइ, तावेइ, सिक्ख-वइ, रक्खवइ आदि । वर्तमान कृदन्त चडंत, करंत, धावंत, परसंत, जोवंत, फुरंत आदि । भूतकृदन्त—चडिउ, घल्लिउ, वुल्लिउ, थक्कउ, चुवकउ, जायउ, दिट्टु, लइय, आइय आदि । कृत्य कृदन्त—साहेव्वउ, मारेव्वउ, जिणिव्वउ आदि । क्तवान्त रूप—गंपि, चडि, छंडिवि, संधिवि, णासिवि, चप्पिवि, करेविणु, हसेविणु, चलेविणु, मुणेविणु, करेप्पिणु, चडेप्पिणु, सुणेप्पिणु, चूरेप्पिणु, णासेप्पिणु इत्यादि । तुमुनन्त—जुज्जहुं, वंघउं, पुच्छहुं, णासहुं आदि । यों तो इस रचनामें क्रियाओंके प्रयोग सर्वत्र विखरे हुए हैं, तथापि विशेष रूपसे जहां दृष्टान्त आदि दिये हैं (२, २२) या एक ओरके सैन्य संघटनका दूसरी ओर प्रभावका वर्णन किया गया है (२, ६६) वहां वर्तमान क्रियाओंका बहुलतासे, जहां क्रियातिपत्ति वर्णित है वहां कर्मणि क्रियाओंका (१, १४)

जहाँ सैन्य संचालन वर्णन आया है वहाँ अनुरणात्मक क्रियाओंका (२, २५), जहाँ कार्यकी सम्मति दी गयी है वहाँ आज्ञार्थ क्रियाओंका (१, २६; १, २९), जहाँ अस्त्र-शस्त्रोंका प्रभाव वर्णन किया गया है वहाँ प्रेरणार्थक क्रियाओंका (२, ५२), जहाँ युद्धके परिणाम दिखाये गये हैं वहाँ भूतकृदन्तोंका (२, ४०; २, ४६), जहाँ कोई दिव्य शक्ति आती हुई दिखायी गयी है वहाँ वर्तमान कृदन्तोंका (२, ७२) और जहाँ युद्धकी पूर्व तैयारी वर्णित है वहाँ वत्वान्त रूपोंका (२, १०) प्रयोग बहुलतासे मिलता है ।

८. दा धातुके कुछ आदेशात्मक क्रियारूप विशेष ध्यान देने योग्य हैं । द्वारपालके निवेदन करनेपर कि मदनकी ओरसे दूत आकर द्वारपर खड़े हैं, जिनेन्द्रने उसे आदेश दिया 'एऊ देहि' (१, २३, ९) अर्थात् आने दे । संस्कृतमें इसका रूपान्तर होगा 'यातुं देहि' । किन्तु ऐसा प्रयोग प्राचीन और मध्यकालीन अर्थात् संस्कृत और प्राकृत भाषाओंकी प्रवृत्तिसे मेल नहीं रखता । किन्तु वह आधुनिक भाषाओंके अनुकूल है, विशेषतः मराठीके 'एऊ द्या' के अति सन्निकट है । उसी प्रकारके प्रयोग हैं 'दे काहल' (१, ३३, ३) अर्थात् भेरी दे-वजा व 'दे आएसु' (२, ४, १०) आदेश दे । प्राकृत व अपभ्रंशमें 'दा' के देहि और देसु रूप सुप्रचलित हैं (हेम. प्रा. व्या. ८, ३, १७४), अपभ्रंशमें आज्ञार्थक प्रत्यय इ, उ और ए भी स्वीकार किये गये हैं (हेम. प्रा. व्या. ८, ४, ३८७) किन्तु एकारान्त रूप प्रायः नहीं पाये जाते । केवल एक रूप 'करे' उक्त सूत्रके उदाहरणोंमें दिया गया है और पा. कु. च. (९, १७, २५) में भी आया है । किन्तु 'दे' रूप देखनेमें नहीं आता । हाँ, आधुनिक हिन्दीमें वह ठीक इसी प्रकार सुप्रचलित है ।

९. कुछ क्रियाओंका प्रयोग उल्लेखनीय है । कविको बोल्ल-बुल्ल धातु बड़ी प्रिय है । उसका प्रयोग कोई बीस बार आया है । हेमचन्द्रने इस धातुको कथ् का आदेश बतलाया है (८, ४, २) । किन्तु उस व्याकरण में तथा अन्यत्र उसका प्रयोग परिमित मात्रामें ही दिखायी देता है । यहाँ उसका संज्ञा रूप भी अनेक बार आया है । जैसे 'इहु बोलु फेडहि' (१, १६, २) 'कि बहु बुल्लियइ' (१, २९, ५) 'बुल्लिय बुल्ल सुतिवख' (२, ४८, १) आदि । ये प्रयोग हमें हिन्दीमें इस क्रिया व संज्ञाके साधारणीकरणका स्मरण दिलाते हैं ।

१०. इसी प्रकार 'ला' धातुका केवल पूर्वकालिक अव्यय रूप 'लाइव'का हेम-व्याकरणमें दो बार प्रयोग दिखायी देता है (८, ४३३; ३७६) । प्रस्तुत ग्रन्थमें उसका कोई दस-बारह बार प्रयोग हुआ है, और अनेक रूपोंमें । जैसे-लेवि, लेष्णिणु, लएष्णिणु, लायमि, लाइहइ, लाइय आदि । उसके अर्थमें भी ग्रहणके अतिरिक्त कुछ विस्तार दिखायी देता है । जैसे 'पंथि लायमि' (१, ३१, ८), 'लाइय सिवख' (२, ३७, १), 'लायमि हियइ सर' (२, २८, ११) । ला धातुका हिन्दीमें भी इसी प्रकार बहुत अर्थ-विस्तार हुआ है ।

११. 'घल्ल' धातुका भी हेम-व्याकरणमें तीन बार प्रयोग उदाहरणोंमें दिखायी देता है (८, ४, ३३४; ४२२) । प्रस्तुत ग्रन्थमें इस क्रियाका उपयोग अपनी यह विशेषता रखता है कि उसके साथ एक विशेष अर्थ-वाची सहायक क्रियाका भी उपयोग किया गया है । जैसे—'णिन्मंछेवि घल्लिउ' (२, ११, १), 'विदंसिय घल्लिय' (२, ४०, ८), 'णासेष्णिणु घल्लिय' (२, ४०, ११) । हिन्दीकी कुछ बोलियोंमें ऐसे प्रयोग, मार घाला, डांट घाला, आदि सुप्रचलित हैं ।

१२. 'लग्म' धातु हेम-व्याकरणमें अनेक बार आयी है । किन्तु वहाँ वह अपने अर्थ 'आसंज'में पूर्ण दिखायी देती है । प्रस्तुत ग्रन्थमें उसका एक दर्जनसे अधिक बार प्रयोग दिखायी देता है, और अर्थमें अपनी बहुविध विशेषता रखती है । 'मयण सर लग्मइ' (१, ३१, १०), अण्णहूँ लग्मि वि पट्टवहि (१, १४, १०), तुहुँ बालहूँ लग्मि खडफडेहि (२, ५५, १३), पुच्छहूँ लग्म (१, ८, ३), मिलहूँ लग्मइ (१, ३३, ४), वीलणहूँ लग्म (२, ३४, १), पासहूँ लग्मउ (२, ७४, ५) इत्यादि । इस क्रियाका यह साधारणीकरण भी उसके हिन्दीमें प्रचारका स्मरण दिलाता है । जैसे— वह पूछने लगा, भागने लगा, मारने लगा इत्यादि । इसी प्रकारका आवइ क्रियाका रूप 'जिणहूँ ग धावइ' (२, ५५, १०) 'जीतनेमें नहीं आता, भी व्यान देने योग्य है ।

इस प्रकार व्याकरणात्मक दृष्टिसे यह ग्रन्थ आधुनिक आर्य भाषाओंके विकासको समझनेके लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है ।

मयण-पराजयकी सूक्तियाँ

१. लोड दुरंजिड माइ फुडु । (१, १३, ५ ।)

[हे माता ! लोकको प्रसन्न करना कठिन है ।]

२. जइ वालुवइ तेल्लु गिप्पज्जइ । जइ खुज्जे ससिहरु तोडिज्जइ ॥
सिविणइ भत्तहं गूणि भरिज्जइ । जइ वंभातणुरुहु उप्पज्जइ ॥
ऊसजलेण कुंसु पूरिज्जइ । जइ खरसिरि विसाणु संपज्जइ ॥
जइ वेसरहि किसोरु भणिज्जइ । कुम्मरोमरजू वट्टिज्जइ ॥
एव देव जइ दावहि तो तुहुँ पावइ... ॥ (१, १४, ६-१०)

[यदि बालूसे तेल निकाला जाये, कुबड़ा चन्द्रमण्डलको तोड़ ले, स्वप्नसे चावलकी गोन भर जाय, वन्ध्याके पुत्र उत्पन्न हो जाय, ओसके जलसे घड़ा भर जाये, गधेके सिरपर सींग ऊग भावे, खच्चरको किशोर कहा जाये और कछवेके रोमोंसे रस्सी वाटी जा सके, यदि हे कामदेव, तुम ऐसा दिखला सको तो ही तुम सिद्धि-कामिनीको पा सकते हो ।]

३. एण उवाएँ मइ हणिवि अवरु गेहु चित्तेहि । (१, १५, ४)

[इस उपायसे मुझे मार कर तू दूसरा घर बसाना चाहती है ।]

४. जाउँ देव हउँ तुहुँ मुणहि पेसणु जुत्ताजुत्तु । (१, १६, ५)

[हे, देव, मैं तुम्हारी आज्ञानुसार कार्यके लिए जाती हूँ । किन्तु वह कार्य योग्य है या अयोग्य यह तुम जानो ।]

५. ता किं संगामेण करालिँ ।

किं किण्ण बोह्लेण विसालिँ ॥ (१, २१, १९)

[तो कराल संग्रामसे क्या लाभ और बहुत बकवादसे क्या लाभ ।]

६. किं बहु विञ्जुहियण पहु मा हक्कारि भवित्ति । (१, २९, ५ ।)

[हे प्रभु, बहु बकवादसे क्या लाभ; होनहारको मत हँकारिए ।]

७. जइ वि कह व सरु संगरि पावमि ।

तो जमकरणिहिँ पंथि लायमि ॥ (१, ३१, ८)

[यदि किसी प्रकार रणमें स्मरको पा जाऊँ तो उसे यमदूतोंके मार्गपर लगा दूँ ।]

८. कहिँ सिद्धिहिँ सुक्खइँ हय-पर-दुक्खइँ जावहिँ लग्गहि मयण-सर । (१, ३१, १०)

[जब मदनके बाण लगते हैं तब दूसरोंके दुखोंके मिटानेवाले सिद्धिके सुख कहाँ ?]

९. जाणमि तेरी चारहडि तित्थु ।

पावेइ पवर-सम्मत्तु जित्थु ॥ (१, ३७, १०)

[मैं तेरी शूर-वीरता वहीं जानूँगा जहाँ सम्यक्त्वसे तेरा सामना होगा ।]

१०. तं णिसुणेवि वयणु रइणाहिँ णिन्मंछेवि घड्डिउ ।

भूसहि सिण्णु उवरि मंजारहि कहिँ दीसेइ चह्छिउ ॥ (२, ११)

[संज्वलनके वचन सुनकर कि जिननाथके बलका उसपर आक्रमण होनेवाला है, रतिनाथने उसे डपट कर निकाल दिया और कहा, कहीं भूपकोंकी सेना बितलीके ऊपर चली देखी गयी है ?]

११. जेम गलत्थिय दूव जिण ।

तेम पडिच्छहि वाणु ॥ (२, १५, ५)

[दूतने जिनेन्द्रसे कहा जैसा तुमने दूतोंका अपमान किया वैसा अब कामदेवका दाण सहो ।]

१२. सक्कु तो पूसहु अहव णमंसहु अच्छहु णियघरि सुहि जियहु । (२, १६, १२)

[कामदेवके दूतने जिनेन्द्रसे कहा, शक्ति हो तो मुकाबला करो या नमस्कार करो और अपने घरमें बैठे सुखसे जिओ ।]

१३. महु बोहणिय चित्त तुम्हइं पुणु जुज्झहु अहव णासहो । (२, २०, २)

[कामदेवके दूतने जिनेन्द्रकी सभासे लौटकर उमसे कहा, 'मुझे तो सोख मिल गयी । अब तुम जूझो या भागो ।]

१४. महु ण णिहालहि हूच विहि किं मयरद्वय राय ।

करि अच्छइ पच्चवलु मिरु चोरह कित्तिय घाय ॥ (२, २१, ४-५)

[दूतने कहा, हे मकरध्वज राय, मुझे नहीं देखते कि मेरी क्या गति हुई है । हाथपर प्रत्यक्ष सिर रखा है और पूछा जाता है कि चोरकी कितनी घात हुई ।]

१५. वज्रघात को सिरिण पडिच्छइ । असिधारापहेण को गच्छइ ॥

को जमकरणु जंतु भासंघइ । को भुवदंडहिं सायर लंघइ ॥

को जममहिससिग उप्पाडइ । विप्फुरंतु को दिणमणि तोडइ ॥

को पंचाणणु सुत्तउ खवलइ । कालकुट्टु को कवल्लिहि कवलइ ॥

आसीविसमुहि को करु लोहइ । धगधगंत-हुववहि को सोवइ ॥

लोहपिंडु को तत्तु धवक्कइ । को जिणसंसुहु संगरि थक्कइ ॥ (२, २२, १-६)

[कौन सिरपर वज्रघात ले ?

खाण्डेकी धारपर कौन चले ?

जाते हुए यमके दूतको कौन छेड़े ?

कौन भुजदण्डोंसे सागर पार करे ?

कौन यमके भैंसके सोंग उखाड़े ?

कौन विस्फुरायमान सूर्यको तोड़े ?

कौन सोते सिंहको जगावे ?

कौन कालकूटके कवल खावे ?

कौन काल सर्पके मुखमें हाथ डाले ?

कौन धधकती आगपर सोवे ?

कौन तप्त लोहपिण्डको ग्रहण करे ?

कौन जिनेन्द्रके सम्मुख रणमें खड़ा हो ?]

१६. णियवरमज्झि करहिं बहु धिट्ठिम ।

महिलहं अग्गइ तोरी वडिडम ॥ (२, २२, ७)

[कुछ लोग अपने घरमें बड़ी शूर-वीरता दिखलाते हैं । तुम्हारी बड़ाई महिलाओंके आगे चलती है ।]

१७. महु पुणु जं हूचउ तं हूचउ ।

जम्मि ण किट्टइ एहउ दूचउ ॥ (२, २२, १०)

[मेरा जो हुआ सो हुआ । यह दुख जन्म-भर न भूलूंगा ।]

१८. किं सिद्धिणु वरंत्तियणु तुम्ह कुसलि बहु बहु चरेसहु ।

जीवंतहु सीयलउ देव-देव पाणिउ पिणुसहु ॥ (२, २७, २-३)

[रति कामदेवसे कहती है—सिद्धिको वरनेसे क्या ? तुम कुशल रहे तो बहुत-सी वधुओंको वर लोगे । हे देव-देव, जिओ और ठण्डा पानी पिओ ।]

१९. चारिचि मयरद्वउ मणइ जीविज्जेइ छलस्सु ।

तं णउ मंगमि इत्थु जणु जहिं पइसार खलस्सु ॥ (२, २७, ४-५)

[कामदेव रतिको उत्तर देता है—यह छलका जीवन क्या ? जहाँ वैरीका प्रसार हो ऐसे जगत्में जीना मैं नहीं चाहता ।]

२०. बहु दियहइं गजंतउ अच्छइ ।

महु कमि पडिउ अजु कहिं गच्छइ ॥ (२,२८,७)

[बहुत दिनोंसे गरजता जी रहा है । आज मेरे पंजेमें पड़कर कहाँ जायेगा ?]

२१. ता सुहडनु ताम पंडियगुणु ।

ताम सीलु संजमु संचियधणु ॥

ता गजिजइ भुवणभंतिरि ।

ता सुकम्म सयल वि सोहइं णरि ॥

ता रहइ महागुणु वरसिंहासणु

ता किजइ तवयरण वर ।

उच्चिमय मयरद्धउ हउं रणि कुद्धउ

जाम ण लायमि हियइ सर ॥ (२,२८,८-११)

[तभी तक शूर-वीरता है और तभी तक पण्डिताई; तभी तक शील, संयम और संचित धन है; तभी तक भुवनमें गर्जन तर्जन है; तभी तक मनुष्यमें सारे सत्कर्म सुहाते हैं; तभी तक महागुण और श्रेष्ठ सिंहासन रहते हैं; तभी तक बड़ी तपस्या की जाती है; जबतक मैं मकरध्वज रणमें क्रुद्ध होकर खड़ा हुआ हृदयमें बाण नहीं वेध देता ।]

२२. जा पसूय सा वेयण जाणइ ।

अण्ण हसेइ मूढ ण वियाणइ ॥ (२,३७,१३)

[जिसने प्रसव किया है वही उसकी वेदना जानती है । मूर्ख बन्ध्या हँसती है; वह उस वेदनाको क्या जाने ।]

२३. बोळहि तं जि जं जि मणि भावइ ।

चवइ तुंडु तणु दुक्खइं पावइ ॥ (२,४०,५)

[जो मनमें भावे सो बोल ले । मुख बोलता है और तन दुख पाता है ।]

२४. जिम खट्टु बुणिजइ एकु अंगु ।

इयरु वि हवेइ सयमेव चंगु ॥ (२,५५,७)

[खाटका एक अंग बना जाता है तो दूसरा अंग उसी अनुसार आप ही नुघरता जाता है । (उसी प्रकार एक काम सूक्ष्मके साथ करनेपर उसके आगेका परिणाम आप ही अच्छा होता है ।)]

२५. हो मयण चणय जिम कसमसंति ।

तिम खाहि म एवहिं मरहि झत्ति ॥ (२,५५,९)

[हे मदन, ऐसे चने (लोहेके) नहीं चवाना चाहिए जो दांतोंमें कसमसाते हैं और जिनसे झट मरण होता है ।]

२६. तुहुं बालहं लग्गेवि छडफडेहि ।

जइ भिडहि जिणहु णिच्छइ पडेहि ॥ (२,५५,१२)

[तुम व्याल (उन्मत्त नाग) से भिड़नेके लिए छटपटा रहे हो । यदि जिनेन्द्रसे भिड़े तो निश्चय तुम्हारा पतन होगा ।]

२७. तुरय तुरय जिणवर चलहि अजु पयासहि यामु ।

पच्छा परिणहि सिद्धि तिय पदमु देहि संगामु ॥ (२,५७,४-५)

[हे जिनवर, जल्दी-जल्दी चलो; आज अपना बल दिखलाओ । निद्रि-चामिनीका परिपक्व पीठे करना, पहले संग्राम दो ।]

२८. जिम आयउ उप्परि चडिवि तेम पयासहि थामु ।
तिहुयणमल्लु मणेवि महु किं ण वियाणहि णामु ॥ (२,६०,४-५)
[जैसा ऊपर चढ़कर आया, वैसा अपना बल दिखला । तू क्या मेरा त्रिभुवनमल्ल कहलानेवाला नाम नहीं जानता ?]
२९. सुरवइ सग्गह मग्गि ठिउ महु भय-भीयउ तट्टु ।
महि फाडिवि धरणिंदु गउ अम्हहँ कवणु गरिट्टु ॥ (२,६१,४-५)
[मुझसे ही भयभीत और त्रस्त होकर इन्द्र स्वर्गमें जा बैठा और धरणेन्द्र पृथ्वीको फाड़कर उसके नीचे धस गया । मेरे आगे कौन बड़ा है ?]
३०. पुणु बुल्लायउ जिणवरिण अरि सरवाह-रउदु ।
जिण-चक्खिल्लिहि पडि मरहि जह तिल्लियह बलह ॥ (२,६२,४-५)
[फिर जिनेन्द्रने अपने धनुर्धारियोंमें रुद्र वैरो (कामदेव) को बुलाकर कहा, तू जिनेन्द्रकी चक्कीमें पड़कर वैसा ही मरेगा जैसा तेलीका वैल ।]
३१. अम्ह रोसु इक्कु ण मुरुक्कइ । (२,६३,२)
[मेरा बाल भी वाँका नहीं होता ।]
३२. हिंडाविउ इयरहँ रणिण संजायउ अपमाणु ।
झंपइ ता भुवणयल्लु तमु जाम ण दिक्खइ माणु ॥ (२,६३,४-५)
[जिनेन्द्रने कामदेवसे कहा, साधारण लोगोंसे रण करके तू भ्रान्त हो गया है और अपनेको असाधारण बलशाली समझने लगा है । किन्तु अन्धकार तभी तक भुवन तलको ढक सकता है जबतक वह सूर्यके सम्मुख नहीं आता ।]



हरिएव-विरइउ

मयणापराजयचरिउ

कमलकोमल कमलकंतिह
कमलंकिय कमलगय^१ कमलहणणसिहरेण अंचिय ।
कमलापिय^२-कमलपिय-कमलभवहि^३ कमलेहि पुजिय ॥
ते परमणपय-पयकमल पणविवि^४ कलिमलचत्त ।
मयण-जिणेंदह^५ जेम रणु पयडमि सा जयवत्त^६ ॥१॥

चंगएवहु णवियजिणपयहु^१
तह चित्तमहासइहिं पढमु पुत्तु^३ किंकर महागुणु^५ ।
पुणु वीयउ^४ कणहु हुउ जेण लद्धु ससहाउ णियपुणु ॥
हरि तिज्जउ कइ जाणियइ दियवर^६ राघउ वेइ^७ ।
ते लहुया^८ जिणपय थुणहिं पावह माणु^९ मलेइ ॥२॥

णविवि जिणपय विग्धविह्वण^१
पणमामि इंदियदलण^२ विसहसेण तह भत्तिभारिण ।
कह कहमि भवियणजणह रइमि^३ कव्वु^४ जिणवयणसारिण ॥

कमलके समान कोमल, कमलकी कान्तिसे युक्त, कमल-चिह्न संयुक्त, कमलपर विराजमान चन्द्रशेखर अर्थात् शिव द्वारा अर्चित एवं कमलाप्रिय अर्थात् विष्णु, कमलप्रिय अर्थात् सूर्य व कमलोद्भव अर्थात् ब्रह्मा द्वारा कमलोंसे पूजित तथा कलिकालके मैलसे रहित ऐसे परमात्माके चरणकमलोंको प्रणाम कर मैं मदन और जिनेन्द्रका जिस प्रकार युद्ध हुआ उस विजय-वृत्तान्तका वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

जिन भगवान्के चरणोंमें नमस्कार करनेवाले चंगदेव और उनकी महा सती भार्या चित्राके प्रथम पुत्र महा गुणवान् किंकर नामक हुए । उनके दूसरे पुत्र कृष्ण थे जिन्होंने स्वाभाविक नैपुण्य प्राप्त किया । उनके तीसरे पुत्र हरि कवि हुए, और उनसे छोटे दो द्विजवर और राघव हुए जो जिन भगवान्के चरणोंकी स्तुति करते और पापोंके भानका मर्दन करते थे ॥ २ ॥

विघ्नोंका नाश करनेवाले जिन भगवान्के चरणोंको प्रणाम करके इन्द्रियोंका दमन करनेवाले वृषभसेन (गणधर) को भक्तिभावसे नमस्कार करता हूँ । तथा भव्य-जनोंको कथा सुनाता हूँ । मैं इस काव्यकी रचना जिन भगवान्के वचनानुसार करता हूँ । नुझे न तो शुद्ध

१ १. ख कमलगइ २. क कमलपिय ३. ख कमलोद्भव ४. क पणमिव ५. क जिणेंदह ६. क जइवत्त ।

२ १. ख चंगयेवहु णविवि जिणपयहु २. क छित्त ३. क पणमपुत्तु ४. क महागुण ५. क वीयो ६. क दावर ७. क चेउ ८. क लहुवा ९. क माण ।

३ १. क विघविह्वण २. क इंदियदलणपहु ३. ख रियमि ४. क कव्व, ख कइ ।

सद्दासदूतु विसेसयरु लक्खणु णउ जाणेमि ।
 छंदु वि सालंकारु तह धिट्टिम कव्वु करेमि ॥३॥
 विवुह लक्खण छंद^१ जाणंति
 तक्काइं अवरइं सयल, मइं विग्गहु पुणु वइरुं जाणुउ ।
 जिणवरस्स कामेण सहु देहसरिसु^३ परभाउ माणुउ^४ ॥
 ण मुणुउ^५ सालंकारु मइं सच्छंदु वि सुयणाहु^६ ।
 अणुणु ण जाणुउ तो वि मणि कव्वह कउ उम्माहु ॥४॥
 अत्थि पट्टणु^१ णामिं^२ भवणयरु
 मयरद्धउ राउ तहिं^३ उच्छुदंडं-कोवंडमंडिउ ।
 तयलोयहं मज्झि णरु सो ण अत्थि जो तं ण दंडिउ ॥
 मोहमहल्लहं संजुवउ रइपीयहि सस्माणु ।
 पक्कहि दिणि वरभडसहिउ विरइउ वर-अत्थाणु^५ ॥५॥
 सल्ल गारव कम्म मिच्छुत्त
 तह दोस आसव विसय कोह लोह रुद्ध उव्वभड ।
 मय माण भय सत्त तह वसण दंड सपमाय^१ दिढभड ॥
 अवर^२-असंख-णरेसरहिं परियरियउ छुज्जेइ ।
 लोयत्तयपहुसेवियउ मयरद्धउ गज्जेइ ॥६॥

और अशुद्ध शब्दोंमें विशेषता बतलानेवाले व्याकरण शास्त्रका ज्ञान है और न छन्द व अलंकार शास्त्रका । तथापि अपनी धृष्टता वश मैं इस काव्यकी रचना करता हूँ ॥ ३ ॥

व्याकरण, छन्द, तर्क तथा अन्य शास्त्रोंको तो विद्वान् जानते हैं । किन्तु मैंने तो 'विग्रह' का अर्थ (समासका विग्रह नहीं किन्तु) जिनवरका कामदेवके साथ वैर समझा है और उनके बीच देहके सदृश परभाव माना है । मुझे अलंकार सहित व छन्दवद्ध श्रुतका ज्ञान नहीं है और न अन्य कुछ जानता हूँ । तो भी मेरे मनमें काव्य करनेका उत्साह हुआ है ॥४॥

भवनगर नामका एक पट्टन था । वहाँ इक्षु-दंड धनुषसे मंडित मकरध्वज नामका राजा राज्य करता था । त्रैलोक्यके बीच ऐसा कोई मनुष्य नहीं था जिसे उसने दण्डित न किया हो । एक दिन वह अपने मोह नामक मन्त्री, रति और प्रीति नामक प्रिय भार्याओं तथा श्रेष्ठ भयोंके साथ सभा-भवनमें विराजमान था ॥५॥

वहाँ शल्य, गारव, कर्म, मिथ्यात्व तथा दोष, आश्रव, विषय व क्रोध, लोभ, रौद्र व आर्त (ध्यान) एवं मद, मान, सप्तभय व व्यसन तथा प्रमाद सहित दण्ड जैसे उद्भट दृढ योद्धा विराजमान थे । और भी असंख्य नरेश्वरों द्वारा सेवित मकरध्वज शोभायमान हो रहा था और तीनों लोकोंके प्रभुओं द्वारा सेव्यमान मकरध्वज गरज रहा था ॥६॥

४ १. छंदु २. क पुण वयरु ३. क देहसरिसु ४. क जाणुउ ५. क मुठउ ६. ख ण मुणुउ सद्दासदूतु मइ सच्छंदु वि सुविहाणु ।

५ १. क पट्टणु २. ख णाम ३. क मयरद्धउ तह पह पवर, ४. क उच्छदण्डं ५. क दंडउ ६. क विरियउ वर अत्थाणु ।

६ १. क सपमाई २. क अवन ।

को ण गंजिउ भुवणि महिलाहं^१
 छुड्ढाविउ तवयरणु को ण को ण णियपय धराविउ !
 पायाल-णरसुरहरहं^२ को ण को ण सेवा कराविउ^३ ॥
 तं महिलायणु वसि भयउ अइवलियउ तिल्लोइ^४ ।
 इमं गलगज्जइ कुसुमसर महु अगलउ ण कोइ ॥७॥

कामएवह वयणु^१ णिसुणेवि
 दोहासिउ^२ कयरविण इक्कमिक्क^३ वयणाइ णियविणु ।
 तं णियेवि णियपियहसिउ^४ पुणु पुच्छहुं सो लगु दुम्मणु^५ ॥
 का तिय तिहुवण^६-वाहिरिय जा महु णउ इच्छेइ ।
 रइ पभणइ किण सुवउ^७ पइं सिद्धिरमणि णिच्छेइ^८ ॥८॥

किं ण जाणहि ताहि सोहग्गु
 णउ इच्छइ थेरु णरु महिसि-वणु^१ जो धूलिलित्तउ ।
 जो खलु इंदियलंपडउ भिक्खारिउ बहुडंभजुत्ताउ^२ ॥
 जे सिंगारहिं अप्पणउ महिला जे आसत्त ।
 ते ण हु इच्छइ^३ णाह णर^४ ससहावहं सारत्त ॥९॥

भुवनमें महिलाओं द्वारा कौन पराजित नहीं हुआ, किससे तपस्या नहीं छुड़वाई गई, कौन अपने चरणोंपर नहीं धरवाया गया, तथा पातालमें, नरलोकमें व स्वर्गलोकमें किससे सेवा नहीं कराई गई ? वह त्रैलोक्यमें अतिबलवान महिलाजन भी मेरे वशमें हो गया । मेरे आगे कोई कुछ भी नहीं है । इस प्रकार वह कुसुमसर अर्थात् कामदेव गल-गर्जन करता था ॥७॥

कामदेवके वचन सुनकर व एक दूसरेके मुखकी ओर देखकर (रति और प्रीतिने) जोरसे हँस दिया । अपनी प्रियाओंकी उस हँसीको देखकर वह मनमें दुखी हुआ और पृष्ठने लगा—“ऐसी कौन स्त्री त्रिभुवनसे बाहिर है जो मुझे नहीं चाहती ?” तब रतिने कहा “क्या सचमुच आपने सिद्धि रमणीके विषयमें नहीं सुना ? ॥८॥

“क्या आप उसका सौभाग्य नहीं जानते ? वह वृद्ध, महिपवर्ण (या स्याही जैसे कृष्णवर्ण), व धूलिलिप्त (कृष्णलेश्या वाले कर्म-मलसे लिप्त) पुरुषको नहीं चाहती । जो खल है, इन्द्रियलम्पट है, भिखारी है, बहु-दम्भ-युक्त है, जो अपना शृङ्गार करते हैं और महिलाओंमें आसक्त होते हैं, हे नाथ ! वह उन्हें नहीं चाहती । यह उसके स्वभावका सार है ॥९॥

७ १. क को ण गंजउ भुवण महिलाइ २. ख पायालि वि णरसुरहं ३. क करावी ४. भयी अगंचलियो तिल्लोय ५. क इय; ग इय ।

८ १. क वयण २. क दोहासउ ३. ख एकमेवक ४. अहसा ५. ख मे 'दुम्मणु' छूट गया है ६. क सुवह ७. ख तिहुवणि; ग तिहुवणि ८. ख मे यह पंक्ति पूरी छूट गई है ।

९ १. क ग मसिहि वणु २. क बहुदंभजुत्ताउ; ख बहुदंभजुत्ताउ ३. ख इच्छइ ४. ख णउ ।

अइसुवित्तिहि^१ दित्तियुत्तोहि
 गुणयुत्तहि^२ मुत्तयहि^३ हारलयहि भूसिय सुणिम्मल ।
 णिरु सवण अलंकरिय विण्फुरंत दोरयणकुंडल ॥
 अविथल अच्छइ^४ णियइ घरि इंदु वि णउ इच्छेइ ।
 अट्टम-भूमिहि^५ वर चडिय सयरायरु^६ पिच्छेइ ॥१०॥
 तं सुणेविणु कामु भिभलित्तं
 कामालं कामियण कामिणीहिं कामेण कामिण ।
 कामग्गहभुल्लयण^७ काममणिण तणुकामरूविण ॥
 रइ वुल्लाइ^८ स^९ विरहियण जइ हउं वल्लहु तुज्ज ।
 तो आपेविणु^{१०} तियरयणु तं मेलावहिं मुज्जं ॥११॥
 पभणेइ मयणराउ करि जुत्तं^१ पिययमे अजुत्तं पि ।
 जाजाहिं^२ आणि तुरियं महिला महिलाण वीससइ ॥१२॥
 कामलंपडु मुणइ णउ जुत्तु
 णउ धम्मह तणिय^३ कह सच्चु^४ लोइ णउ उच्चु णिच्चउ^५ ।
 रइ चितइ णियमणिण करमि वुत्तु किं कहं मि वच्चउं ॥
 कज्जि विणट्टइ जणु भणइ णउ भत्तारह भत्त ।
 लोउ दुरंजित्तं माइ फुडु कहिं घरिणिहिं दूवत्त ॥१३॥

“अति सुवृत्त (गोल या सदाचारी) दीप्तियुक्त, गुणयुक्त (डोरे सहित या आध्यात्मिक गुणों सहित) मोतियों (या मुक्तात्माओं) की हार लताओंसे भूषित, सुनिर्मल, पूर्णतः स्ववर्ण अलंकृत, दो रत्न-कुण्डलोंसे (दर्शन और ज्ञानसे) स्फुरायमाण वह सिद्धि रमणी अविचल रूपसे अपने घरमें रहती है । वह इन्द्रकी भी इच्छा नहीं करती । वह अष्टम पृथिवीके ऊपर चढ़कर सचराचर सृष्टिका अवलोकन करती है ॥१०॥”

रतिके ये वचन सुनकर कामदेव विस्मित हो गया । उस कामरूपी शरीरवाले कामके अत्यन्त कामी कामदेवने उस कामिनीकी कामनासे कामासक्त होकर व कामके आग्रहसे अपने आपको भूलकर मनमें काम-वासनासे विरह पीड़ित होकर रतिको बुलाया और कहा—“यदि मैं तेरा वल्लभ हूँ तो तू उस स्त्रीरत्नको लाकर मुझसे मिला दे” ॥११॥

मदनराजने कहा—“हे प्रियतम, चाहे यह बात उचित हो और चाहे अनुचित, तुझे यह काम करना ही पड़ेगा । तुम जाओ और उसे तुरन्त लिवा लाओ । महिला महिलाओंका विश्वास करती है” ॥१२॥

कामलम्पट पुरुषको उचितका ज्ञान नहीं रहता । उसे न धर्मकथा सुहाती और न सत्य और न लोकमें ऊँच-नीच । रतिने अपने मनमें विचार किया “मैं इस कामको करूँ या कहीं

१० ख अइसुवित्तिहि २. क दित्तियुत्तोहि ३. क ग मुत्तियहि ४. क अविथलइ इच्छइ; ग अविथलइ अच्छइ ५. क भूमहि ६. क सयराइरु ।

११ १. क कामभिभलउ; ग कामभिभलित्त २. ख भुल्लयेण ३. क बोलावइ; ग वुल्लावइ ४. क सइ ५. आपेविण ६. क बोलावहि ७. ख मज्ज ।

१२ १. क युत्तं २. ख जज्जाहि ।

१३ १. क तणी २. क सच्च ३. क उच्चणिच्चउ; ख उच्चु णिच्चु वि ४. क भणं ५. क लोह दुरंजउ ।

सिद्धि-विलासिणि-विरहिउ^१ राणउ ।

रइ पभणेइ णाह किं भुल्लउ ।

सा णउ इच्छइ जो आसत्तउ ।

तियह^२ सहाउ एह परमेसर ।

तुहुं अघडंतु^३ घडहि अणखालउ ।

जइ वालुवइ तेल्लु णिप्पज्जइ ।

सिविणइ भत्तहं गूणि भरिज्जइ ।

ऊसजलेण कुंभु पूरिज्जइ ।

जइ वेसरहि^४ किसोर भणिज्जइ ।

तं बोलतु णियइ । ~~वडा~~

वडुइ अंतरि हुवउ गहिल्लउ ।

अण्णणारिविरहे^५ संतत्तउ ।

ईसाए वि ण ईसइ णरवर ।

वुल्लहि^६ जं जि तं जि वायालउ ।

जइ खुज्जे ससिहर तोडिज्जइ ।

जइ वंभातणुरुहु उप्पज्जइ ।

जइ खरसिरि विसाणु संपज्जइ ।

कुम्मरोमरज्जू वट्टिज्जइ ।

घत्ता—एव देव जइ दावहि तो तुहु पावहि अण्णहु^७ लण्णिवि पडुविहि ।

तुहु महिलासत्तउ णाह ण जुत्तउ काइं महारइ पडुवहि ॥१४॥

वस्तु—तं सुणेविणु^१ मयणराएण

मयरंकरियधयवडिण सहु कंतइ^२ सरोसु पुणु^३ जंपिउ ।

जं तुम्हहं^४ चितविउ तं सयलु वि णिच्छउ वियप्पिउ ॥

एण उवाएँ मइ हणिवि^५ अवरु गेहु चितेहि ।

अच्छउ किं बहुवित्थरिण अण्णासत्ती देवि ॥१५॥

चली जाऊँ ? कार्य विनष्ट होनेपर लोग कहेंगे कि यह पतिभक्ता नहीं है । लोगोंको सन्तुष्ट करना बड़ा कठिन है । अरी मैया, कहीं गृहिणीसे भी दूती-कार्य कराया जाता है ?" ॥१३॥

सिद्धि विलासिनीके विरहमें मदनराज बोलते हुए रतिकी ओर शोकातुर दृष्टिसे देखने लगे । तब रतिने कहा—“हे नाथ, आप कैसी भूल करते हैं ? आप अपने हृदयमें बहुत ही पागल हो गये हैं । वह सिद्धि रमणी ऐसे पुरुषको तो चाहती ही नहीं है जो आसक्त हो व अन्य नारी के विरहसे संतप्त हो । हे परमेश्वर ! यह स्त्रीका स्वभाव है कि ईर्ष्यासे उसपर विजय नहीं पाई जा सकती । आप रोषमें आकर असम्भवको सम्भव बनाना चाहते हैं । आप जो बात कहते हैं वह पागलपनकी है । यदि रेतमें-से तेल निकल सकता हो, यदि कुञ्ज मनुष्य चन्द्रमाको तोड़ सकता हो, यदि स्वप्न द्वारा चावलकी गौन भरी जा सकती हो, यदि वन्ध्याके पुत्र उत्पन्न हो सके, यदि ओसके जलसे घड़ा भर सकता हो, यदि गधेके सिरपर साँग उगाये जा सकते हों, यदि खच्चरको (सिंह-) किशोर कहा जा सके, और यदि कछुएके रोमोंकी रस्सी बाँटी जा सके, हे देव यदि ये बातें आप दिखला सकें, तो ही आप उसे पा सकते हैं । आप इस कार्यके लिए किसी औरको ही भेजिए । आप महिलासक्त हैं । हे नाथ, यह बात आपके योग्य नहीं । आप महारतिको क्यों किस कार्यके लिए भेज रहे हैं ?" ॥१४॥

रतिके ये वचन सुनकर मकरांकित ध्वजावाले मदनराज अपनी कान्तासे क्रोधमें आकर पुनः बोले—“तूने जो विचार किया है वह सब निश्चित रूपसे मैंने समझ लिया । तू इस उपाय-

१४ १. क विरिहिवो २. क णियय; ग णिय ३. ख वडइ ४. क विरहहि; ख विरहि ५. ख निज्जि

६. क अघडंत ७. ख बोल्लहि ८. क ख ग वेसरिहि ९. क अण्णु वि ।

१५ १. क सुणेविण २. ग भयरंकिए ३. क सहउ ४. क सरोसु पुण ५. क न तुम्हं ६. क हणिवि ।

कामएवह^१ वयणु णिसुणेवि
 ता चितइ लहु घरणि^२ जाहि जाहि इहु^३ वोळु^४ फेडहि ।
 हउं सहिय तुहु इउं भणमि करि विवाहु करु करहि^५ जोडहि ।
 तं आयणिवि^६ रइए तहु^७ पय पणवेविणु बुत्तु ।
 जाउं देव हउं तुहुं मुणहि^८ पेसणु^९ जुत्ताजुत्तु ॥१६॥

ता मयरद्धएण मोकलिलय ।
 ताम पहतंरि मोहु पहुत्तउ^३ ।
 रइ पभणइ सिद्धिहि^३ आसत्तउ ।
 सा आणउं पेसिय हउं णाहि ।
 वे वि गयाइं कामणिवपासहो^६ ।
 पणविवि^६ पभणइ मोहु^७ महल्लउ ।
 तहु^७ कारणि जं पेसी राणी ।
 णिव्वेएं जिणरायहु^८ भिच्चिं ।
 अणु^९ विप ताह विवाहु हवेसइ ।

लहु णिगंथपहे^१ संचलिलय ॥
 काहि लहु गमु किउ देवि भणंतउ ॥
 किं ण मुणेहि राउं संतत्तउ ॥
 तं णिसुणेण्णिणु चालिय^२ मोहि ॥
 विरहाणल-भेल्लियणीसासहो^६ ॥
 महु सहु जंपहि तुहुं एकल्लउ^९ ॥
 मारिज्जंति पहे^३ विदाणी ॥
 पंथहु रक्खणधियदाइच्चिं^४ ॥
 जिणु^५ चारित्तणयरि पइसेसइ^९ ॥

से मुझे मार कर दूसरा घर बसानेका विचार कर रही है। अच्छी बात है। बहुत विस्तारसे क्या ? देवी अन्य पुरुषसे आसक्त हो गई” ॥१५॥

कामदेवके ये वचन सुनकर उनकी लघु गृहिणी (प्रीति) चिन्तित हुई और बोली—
 “चलो, चलो, ये बोल वापिस लो ।” (फिर वह रतिसे बोली) हे सखि, मैं तुमसे कहती हूँ कि तुम विवाह कर दो, हाथसे हाथ जोड़ दो ।”

यह सुनकर रतिने कामदेवके पैर पकड़कर कहा—“हे देव, मैं जाती हूँ। आपने जो कार्य मुझे सौंपा है वह उचित है या अनुचित यह आप जानें” ॥१६॥

मकरध्वजसे विदा होकर रति शीघ्र ही निर्ग्रन्थके मार्गसे चली। तब मार्गमें उसे मोह मिल गया। उसने पूछा “हे देवि! आप कहाँ जा रही हैं ?” रतिने कहा—“क्या आप नहीं जानते कि राजा सिद्धिमें आसक्त होकर सन्तप्त हो रहे हैं ? उसे ही लानेके लिए नाथने मुझे भेजा है ।” मोहने यह बात सुनकर रतिको लौटाया और वे दोनों कामके पास गये जो विरहाग्निसे श्वांसें भर रहे थे। मोह मन्त्रीने उनको प्रणाम करके कहा “आप मुझसे एकान्तमें बात कीजिए। आपने जो सिद्धिको लानेके लिए रानीको भेजा, सो वह तो मार्गमें ही मार्गकी रक्षाके लिए नियुक्त जिनराजके भृत्य निर्वेद द्वारा दुख देकर मारी जा सकती है। दूसरी बात यह है कि सिद्धिका तो विवाह ही होनेवाला है। जिनदेव चारित्र नगरी में प्रवेश करेंगे। दैवने समस्त दौत्य

१६ १. ख कामएवहु २. क ग घरणि ३. ख एहु ४. क वोळु ५. ख इव ६. क करहु; ग करहु ७. क आइण्णवि ८. ग तुहु ९. ख सुणहि १०. क पेपण० ।

१७ १. क पइइ २. ख पवुत्तउ ३. ख सिद्धे ४. ख राय ५. ग चालिय ६-७. ख हु ८. क पणमवि, ९. क ह १०. क एकलो; ख एकल्लउ; ग एकल्लउ ११. ग तहो १२. क पहि १३. कंराइहु १४. ख रक्खणु थिरदायिच्चें; ग थियदार्यच्चि १५. क अन्न १६. क जिण १७. क पयसेसइ ।

दइयइं सयलु दुइत्तु करेप्पिणु ।
तं आयणिवि सिद्धिइ इच्छिउ^{१९} ।

वित्तवंतु सरयणु अक्खिउ-जिणु ॥
अण्णह केरउ णाउ ण पुच्छिउ ॥

घत्ता—तं वयणु सुणेविणु विरहु मुणेविणु ता सकोहु वोत्तइ^{२०} मयणु ।
जिणु समरि जिणेप्पिणु रयण लएप्पिणु सा परिणेवी मइं णिपुणु^{२१} ॥१७॥

वस्तु—मयरचिणहेण^१ एव बुल्लेइ^२

करि उच्छु^३ धणहरु लयउ कुसुमवाणं पंचइं धरेप्पिणुं ।
जा चल्लिउ संगरहु मोहु ताम पभणइ णवेप्पिणु ॥
जेम जिणिज्जइ वइरिवलु^४ संचल्लिज्जइ तेमं ।
दूवें कज्जहं गइ मुणिवि पुणुं जुम्भज्जइ देव ॥१८॥

दूवें^१ पढम सत्ति जोइज्जइ । दूवें सेणहं^२ संखु मुणिज्जइ ॥
दूवें^१ सवलु णिवलु जाणिज्जइ । दूवें बलहु भेउ विरइज्जइ ॥
दूववयण महिवइहि^३ वियप्पइ । ते^४ पच्छुणु पयडु^५ पवियप्पइ ॥
दूववयणि राणय किं भुल्लहि । जं परवलह उवरि संचल्लहि ॥
तं णिसुणेवि वयणु णरणाहें । मिल्लिवि^६ धणुसर रणकयगाहें ॥

कार्य करके उसे बतला दिया है कि जिन ही वित्तवान्, अर्थात् धनवान् (वृत्तवान् अर्थात् चारित्रवान्) और सरल अर्थात् रत्नोंके स्वामी (सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्ररूपी रत्नत्रय युक्त) हैं । यह सुनकर सिद्धिने उन्हींकी इच्छा की है, अन्य किसीका उन्होंने नाम भी नहीं पूछा ।” ये वचन सुनकर व विरहका अनुभव करके मदनने क्रोधमें आकर कहा—“जिनदेवको युद्धमें जीतकर व उसके रत्नोंको छीनकर मैं निपुणतासे सिद्धिका परिणय करूँगा” ॥१७॥

मकरचिह्न अर्थात् कामदेवने ऐसा कहकर अपने हाथमें इक्षु-धनुष लिया व पाँचों पुष्पवाण ग्रहण किये । इस प्रकार जब वे युद्ध करनेके लिए चले तब मोहने उन्हें प्रणाम करके कहा—“हे देव, जिस प्रकार वैरीकी सेना जीती जा सके, उस प्रकार चलना चाहिए । पहले दूतके द्वारा कार्यकी गति जानकर पश्चात् युद्ध करना उचित है” ॥१८॥

“दूतके द्वारा पहले (शत्रुकी) शक्तिका पता लगा लेना चाहिए । दूतसे ही (वैरीकी) सेनाकी संख्या जानी जा सकती है । दूतसे इस बातका भी पता चलेगा कि शत्रु सबल है या निर्बल । दूतके द्वारा शत्रुके बलमें भेद भी उत्पन्न किया जा सकता है । दूतके वचनोंपर महिपति विचार करते हैं और उसीके द्वारा वे गुप्त और प्रकट बातोंकी कल्पना करते हैं । हे राजन् ! आप दूतके वचनमें क्यों भूल करते हैं जो आप स्वयं शत्रु-सैन्यपर चल पड़े ?”

मोहके ये वचन सुनकर युद्धका आग्रह करनेवाले काम राजाने अपने धनुष और बाण

१७ १८. क देइं सयलु दूयत्त । १९. क सिद्धि इच्छिउ; ख आयणिवि सिद्धि पयच्छिउ, २०. ग मुकोहु दुल्लय; २१. क विपुणु; ग भि पुणु ।

१८ १. क ग विणिण २. ख वोल्लेइ; ग दुलेइ ३. ख उच्छ ४. ख वाण ५. ख धरेप्पि ६. क वयरि ७. ज तेमु ८. क गय मुणिवि ९. क पुण ।

१९ १. क ग दूवि २. क सेणहु ३. ख सल्लह ४. ख दूवें वयण महिवहि, ५. ख नि ६. क न पय ७. ख मेल्लिवि ।

पुणु वि महल्लउ वइसिर्वि पुच्छिउ ।
जो मइ^१ हणिवि सिद्धि परिणोसइ ।
कहइ महल्लउ छंडिवि मच्छुरु ।
सो महिराजु भोगु^२ भुंजंतउ ।
णिययरज्जु^३ छंडेविणु^४ हुंतउ ।
अम्हारइ भवणयरि वसंतउ ।
कारणि ताइ^५ अणेयइ^६ कम्मइ^७ ।
मिच्चुतलारि^८ सभाविज्जइ ।

कहि सो जिणचरिंदु कहि अच्छिउ ॥
अविचलु सासयसुहु^९ भुंजेसइ ॥
देवदेव तुहु^{१०} णिसुणाहि चइयरु ॥
इ^{११} दियाहं सयलहं आसत्तउ ॥
वित्तमहारयणहं^{१२} परिचत्तउ ॥
दुग्गयवित्तिहं णिरु संतत्तउ ॥
देव करंतउ चोरिय^{१३} छम्मइ^{१४} ॥
वंधिज्जइ पुणु पुणु^{१५} मारिज्जइ ॥

वृत्ता—इकहि दिवसि भमंतइ^{१६} तियहं विरत्तइ^{१७} सुवसत्थहिं पइसेप्पिणु^{१८} ॥
कड्डिवि वहु वित्तइ^{१९} अवरु^{२०} वि दित्तइ^{२१} गउ सो रयणइ^{२२} लेप्पिणु^{२३} ॥१६॥

सयलु परियणु^१ खणिणं^२ छंडेवि
वरु धरिणि^३ तिणसमुं गणिवि^४ गयउ देव^५ अम्हहं णियंतहं^६ ।
उवसम-हय आरुहेवि^७ मंडमंडविसयहं धरंतहं ॥
जाइ पइट्ठु^८ चरित्तपुरि वित्तवंतु^९ अणवज्जु^{१०} ।
पंचहि दिक्खिवि रयणजुव ता दिण्णउ तवरज्जु^{११} ॥२०॥

छोड़ दिये, और बैठकर मोह मन्त्रीसे पूछा—“कहिए, वह जिनवरेन्द्र जो मुझे मारकर सिद्धिसे विवाह करनेवाला है और अविचल शाश्वत सुख भोगनेवाला है वह रहता कहाँ है ?”

मोह मन्त्रीने कहा—“हे देव-देव ! आप मत्सर भाव छोड़कर सब वृत्तान्त सुनिए । वह जिनेन्द्र पहले पृथ्वीका राजा था, भोग भोगता था और समस्त इन्द्रियोंमें आसक्त था । वह अपना (आत्माका) राज्यपाट छोड़कर, धन और महारत्नों (रत्नत्रय रूपी धन) से वंचित हुआ हमारी इसी भवनगरीमें बसता था और दुर्गत (दुराचार) वृत्तिसे अत्यन्त सन्तप्त था । इसी कारण सुखकी चोरीरूप अनेक कर्मोंको करनेसे वह मृत्युरूपी कोतवाल द्वारा पकड़ा जाता था और बाँधकर पुनः पुनः मारा जाता था ।

एक दिन उसने भ्रमण करते हुए स्त्रीसे विरक्त होकर सुप्रशस्त भावमें प्रवेश किया और बहुत-सा धन (चारित्र) निकालकर व अन्य देदीप्यमान रत्नों (दर्शन व ज्ञान) को लेकर वह वहाँसे निकल पड़ा ॥१६॥

वह अपने समस्त परिजनोंको एक क्षणमें छोड़कर, गृह व गृहिणीको तृणके समान गिनकर हे देव ! वह हमारे देखते-देखते अति बलवान विषय योद्धाओंके रोकते रहनेपर भी उपशम घोड़ेपर सवार होकर निकल गया, और चरित्र पुरीमें जा पहुँचा । वहाँ उसे पंचोंने वित्तवान् (धनवान् चारित्रवान्) व निर्दाय, रत्नयुक्त देखकर तप-राज्य प्रदान किया ॥२०॥

१९ ८. क वयसि; ग वइसि ९. क मयइ १०. ख सासइ ११. ग तहु १२. ग भोजु १३. ख रंराजु १४. ग छहेविणु १५. क ग महारहणह १६. क अणेइ १७. क चोरियइ १८. क मिच्चुतलारिहि; ख मच्चुतलारि; ग मिच्चु तलारि १९. क पुणपुण २०. क ग भवंतइ २१. क सुवसत्थहिं पयसिप्पिण २२. ख अणु २३. ख रयणु लयेप्पिणु ।

२० १. क सयल परियण २. ख खणेण ३. क धरणि; ख धरिणी ४. कं सम ५. ख गणेवि ६. क देव ७. ख कियंतहं ८. क ग आरुहेवि ९. क ग पइट्ठु १०. क वित्तयंतु ११. ख अणवज्ज १२. क वररज्जु ।

जह^१ णिवसइ^२ तं णिसुणहि पुरवर^३ । दुग्गमु^४ वुसइ^५ सहाइ^६ कज्जइ^७ ।
 जेहि सहाइ^८ सयलइ^९ कज्जइ^{१०} । लब्भइ^{११} इच्छइ^{१२} फलइ^{१३} सरज्जइ^{१४} ॥
 जहि^{१५} णिवसंति महावर्यं दुद्धर^{१६} । सत्त तत्तं जहिं समरि धुरंधर^{१७} ।
 दहविह धम्म ससंजभं उब्भइ^{१८} । णाण पंच सुवभाणं महाभट^{१९} ॥
 तव^{२०} चारित्त महावल खम दम । पंचायार समइ^{२१} जहिं^{२२} उवसम । ५
 जहिं सम्मत्तु महारहि अच्चइ^{२३} । को सरि समरंगणि तहो गच्चइ^{२४} ॥
 जहिं णिव्वेउ महाहवभंडणु । जहिं वच्चल्लु वइरिवलं खंडणु^{२५} ।
 वंभचेरु जहिं भंडमहावलु । छुव्वासय किल णिम्मूलियखलु ।
 गुण-लक्खणहं संख ण विहाइय । सील सहास ण कत्थइ^{२६} माइय^{२७} ॥
 इय एवहिं अवरहिं^{२८} संजुत्तउ । अच्चइ^{२९} मयरद्धयं^{३०} बलवंतउ^{३१} ॥ १०
 महु परियणु करेइ सयसक्कर^{३२} । कासु ण सेव करइ अइदुद्धर^{३३} ॥
 तहिं तवरज्जु करंतउ णिवसइ । णियवलवलित^{३४} सिद्धिं^{३५} परिणोसइ ॥
 तं कज्जं^{३६} दूवहं किज्जइ गमु । मंतु णियहिं^{३७} देव छंडहि तमु ॥
 जामं^{३८} दूउ आवइ^{३९} तहो^{४०} पासहो । ताम बलहु मेलहु^{४१} णीसेसहु^{४२} ॥

यह जिनेन्द्र अब जहाँ निवास करता है उस नगरका हाल सुनिए । वह पुरवर दुर्गम, दुस्सह, दुर्लभ और दुर्धर है, जहाँ स्वभावसे ही सब कार्य अपने ही राज्यमें इष्ट फलोंको प्राप्त होते हैं, जहाँ दुर्धर महाव्रत निवास करते हैं, जहाँ समरमें धुरन्धर सात तत्त्व भी हैं, संयम सहित उद्भट दशविध धर्म; पाँच ज्ञान और सुध्यान महाभट भी हैं; तप, चारित्र, क्षमा, व दम महावली भी विद्यमान हैं और जहाँ पंचाचार, समिति व उपशम भी हैं । जहाँ सम्यक्त्व महारथी भी रहता है, जिसके सम्मुख समरांगणमें कौन जा सकता है ? जहाँ महायुद्धके भूषण निर्वेद हैं और जहाँ वैरीके बलका खण्डन करनेवाला वात्सल्य है । जहाँ महावलमण्डित ब्रह्मचर्य है और खलोंका निर्मूलन करनेवाले षडावश्यक हैं । गुणों और लक्षणोंकी तो किसीको संख्या ही नहीं मालूम; सहस्रों शील कहीं समाते भी नहीं हैं ।

इस प्रकार, हे मकरध्वज ! इनसे तथा अन्य योद्धाओंसे संयुक्त बलवान् जिनेन्द्र वहाँ रहता है । वह सत्कार सहित मुझे भी परिजन बनाकर रखता है; किन्तु वह अतिदुर्धर होता हुआ किसीकी भी सेवा नहीं करता । वहाँ वह तपोराज्य करता हुआ निवास करता है । अपने ही बलसे बलवान् होकर वह सिद्धिसे विवाह करेगा । अतएव इस कार्यके लिए दूतको भेजना चाहिए । आप इस मन्त्रको मानिए; हे देव, अज्ञानको छोड़िए । जब तक दूत उसके पास होकर आता है, तब तक अपने समस्त बलको एकत्र कीजिए । हे देव ! ऐसा कीजिए जिससे शत्रु वशमें

२१ १. क ख तहं २. क णिवसय ३. पुरवर ४. क दुग्गम ५. क सहाइ; ख सहायं ६. क हि ७. ख तहि ८. ख महावइ ९. ख सत्त १०. क ससंजमु; ग सुसंजम; ग नुसंजमु ११. ख उच्चइ १२. ख मुजाण ग सुअसाण १३. क लव १४. ख ग सणय १५. ख जह १६. क वपरि १७. ख में एह पण चरण छूटा है १८. ख कई, १९. क ए अवरहिं एवहिं २०. क उउ २१. ख बलिवंतउ २२. ख म्म २३. क ग करइ दुद्धर २४. क बलिवलयउ; ख बलिवलित २५. ग बलियउ निधि २६. क कत्थइ; ग कज्जि २७. क णियहि २८. क ग जाम २९. ग आवहि ३०. ख तह ३१. ख बलहो मेलहो । ३२. क चलहु मेलहु णीसासहु ।

करहु^{३३} देव जिम रिउ साहेसहु^{३४} । अहव विवाहहो विग्घु रपसहु ॥ १५
 अण्णु वि^{३५} तहि संजलणु^{३६} णरेसरु । अच्छइ मइ^{३७} थवियउ परमेसरु ॥
 सो अक्खेसइ^{३८} सयलु वलावलु । अहव दूव पिक्खिवि छंडइ छलु ॥
 ता किं संगामेण करालि^{३९} । किं फिएण वोल्लेण विसालि ॥

वृत्ता—णिसुणिवि इय वयणइं चित्तिवि मयणइं राय रोस हक्कारिय ।

दप्पंध महाभड परवल्लंपड सम्माणिवि वइसारिय^{३९} ॥२१॥ २०

वस्तु—कामएविण भणियं ते वेवि

दूवत्तणि गउ^३ करहु एम जिणहु तं समुहु^३ वोल्लहु ।
 जइ परिणेहहि^५ सिद्धि तुहुं आण अत्थि तइलोयमल्लहु ॥
 मयणहं जाइवि^५ केर करि अहवा चितहि ठाउ ।
 जइ णावहि ता वीयदिणि^५ संपत्तउ रइराउ ॥२२॥

मयरद्धएण^१ ते वि^३ मोकल्लिय । तं णिसुणेवि वे वि संचल्लिय ॥
 दुग्गमि विसमि^३ जंत पहि रीणा । ते^५ जिणथाणु पराइय^५ खीणा ॥
 संजलणं पइसंत णियच्छिय । थक्क दुवारि वे वि पुणु^५ पुच्छिय ॥
 किं कज्जे आगय जिणपासहो । मयरद्धयमयमंडियं पासहो ॥

हो जाय । अथवा उसके विवाहमें विध्न डालिए । हे राजन् ! एक और भी संज्वलन नरेश्वर वहाँ रहता है, जिसे मैंने परमेश्वर स्थापित किया है । वह शत्रुका समस्त बलाबल बतलायगा । अथवा दूतको देखकर जिनेन्द्र अपना छल छोड़ देगा । तब फिर कराल संग्रामसे क्या लाभ, और बहुत बोलनेसे भी क्या ?”

मोहमंत्रिके ये वचन सुनकर और उनपर विचार करके मदनने राग और द्वेषको बुलवाया और उन दोनों दर्पीध, परवल्लम्पट महाभटोंको सम्मानपूर्वक बैठाया ॥२१॥

कामदेवने उन दोनोंसे कहा—“तुम दूत कर्मके लिए गमन करो और जिनेन्द्रके सम्मुख इस प्रकार कहो कि यदि तुम सिद्धिका परिणयन करते हो तो तुम्हें आज्ञा है कि या तो त्रैलोक्य-मल्ल मदनकी सेवा करो अथवा अपने लिए स्थानकी चिन्ता करो । यदि तुम उसके पास नहीं चलते तो दूसरे ही दिन रतिराज तुमपर आ धमकेगा” ॥२२॥

मकरध्वजने उनका प्रस्थान कराया । वे भी उसकी आज्ञा सुनकर चल पड़े । दुर्गम और विषम मार्गसे चलते-चलते वे थक गये और क्षीण दशामें वे जिनेन्द्रके स्थानपर पहुँचे । संज्वलनने उन्हें प्रवेश करते समय रोका । वे दोनों द्वारपर खड़े हो गये । तब संज्वलनने उन दोनोंसे पूछा—“तुम मदोन्मत्त मकरध्वजके पाससे जिनेन्द्रके पास किस कार्यसे आये हो ?” उन्होंने कहा—

२१ ३३. ख करहो ३४. क साहेसउ ३५. क ग अणु मि ३६. क ग संजलणु ३७. क ०सय ३८. ख ०लें ३९. ख ०सरियइं ।

२२ १. क भणिवि २. क गो ३. क ते समहु; ख तं सम्मुहु ४. परिणेहइ; ख परिणहि; ग परिणेहि ५. ख जाएवि ६. क ०दिणु ।

२३ १. क ०येण २. क तेण; ख वेवि ३. क ख दुग्गम विसम ४. क ख तं ५. क पवाई; ग पवाई ६. क पुण ७. ख मयरद्धयमज्झियमंडिय० ।

भणिउ तेहिं^१ अमहइं^२ दूवत्तं^३ । मयणि पेसिय इत्थु पयत्तं ॥
जाणावहिं^४ पइसारहिं^५ खेवं । दंसणु होइ जेम सहु देवं ॥
तं णिसुणिवि पइसिवि^६ विण्णत्तउ । दूवजुवल्लु अच्चइ संपत्तउ ॥
देवदेव मयरद्धयकेरउ । अच्चउ किं दुवारि पइसारउ^७ ॥

वत्ता—तं णिसुणेवि परमेसरु उच्चल्लिवि^८ करु एऊ देहि भणेप्पिणु^९ ।
ता णंतरि सम्मत्तं^{१०} भणिउ तुरंतं^{११} अरि संजलणु हसेप्पिणु ॥२३॥

वस्तु—राय-रोसहं^१ इत्थु ण वि कुसल्लु
अत्थाणि जिणवर तणइ^२ जित्थु अत्थि^३ णिव्वेउ उवसमु ।
तं सुणेवि संजलणु पुणु भणइ एमं^४ इहु होइ णउ कमु ॥
जियपरवलि जे^५ वलिय भड महिमंडलि विक्खाय ।
तुम्हहं^६ एह अवत्थ फुडु छुडु दूवत्तणिं^७ आय ॥२४॥

तं णिसुणेवि^१ वेवि जिणरोए^२ । भणिय एणं^३ किर काइं विवाएं ॥
पइसारहिं^४ किं बहुवित्थारं^५ । मइं साहिव्वा ते सहु मारं ॥
तं णिसुणेवि वेवि हक्कारिय । संजलणं^६ दुवारि पइसारियं ॥
पइसंतेहिं^७ णमंसिउ इक्किं । दिट्ठु जिणेसरु दूरि वि थक्किं ॥

“मदनने हमें प्रयत्नपूर्वक दौत्य कर्मके लिए यहाँ भेजा है । खबर दो और शीघ्रतासे हमारा प्रवेश कराओ जिससे हमें देवका दर्शन हो जाय ।” यह सुनकर संज्वलन भीतर गया और प्रार्थना की “हे देवदेव, मकरध्वजकी ओरसे दो दूत आये हैं जो बाहर खड़े हैं, वे द्वारपर ही रहें या उन्हें भीतर ले आऊँ ?” यह सुनकर परमेश्वरने हाथ उठाकर कहा “आने दो ।” तदनन्तर सम्यक्त्वने तुरन्त ही हँसकर अपने शत्रु संज्वलनसे कहा—॥२३॥

“जिनवरकी सभामें जहाँ निर्वेद और उपशम विद्यमान हैं, वहाँ राग-द्वेषकी कुशल नहीं ।” यह सुनकर संज्वलनने फिर कहा—“यहाँ यह क्रम नहीं है । जो परवलको जीतनेवाले बलवान् भट महीमण्डलमें विख्यात हैं वे तुम्हारे पास इस अवस्थामें स्पष्टतः केवल दौत्यकर्मके लिए आये हैं” ॥२४॥

सम्यक्त्व और संज्वलनके ये उत्तर-प्रत्युत्तर सुनकर जिनराजने उन दोनोंसे कहा—“ये विवादकी बातें करनेसे क्या लाभ ? यह बात बहुत बढ़ाना ठीक नहीं । उनको भीतर ले आओ । मैं उन्हें कामदेव सहित साध लूँगा ।” यह सुनकर संज्वलनने उन दोनोंको बुला लिया और द्वारके भीतर उन्हें प्रविष्ट कराया । प्रवेश करते ही उन्होंने जिनेश्वरको नमस्कार किया । एकरने

२३ ८. ख तेम ९. क अमयदूवत्तइं १०. क जाणोवहि; ग जाणावहि ११. क ग परंमारहि १२. क पयसिवि १३. क ग में ये दोनों चरण नहीं हैं १४. ख उच्चल्लिय० ग उच्चल्लवि १५. क ग एम देव पभणिप्पिणु १६. सम्मत्तइं १७. क ग दुरंति ।

२४ १. क राइरोनु २. क जिणवरु भणइ ३. ग अत्थु ४. ख एउ ५. क ग जं ६. क ग तुम्ह ७. क दूवत्त-वत्तणि कहि; ग छुडुवत्तणि कहि ।

२५ १. क सुणेवि २. क जिणराये ३. क एय ४. क पइसारिहि ५. क वित्थारिहि ६. क पयसिय, ७. क पयसंतेहि ८. ख एक्के ९. ख थक्के ।

णिम्मलो वि^{१०} सोहिउ णहमग्गु व । दुग्गमु चरियाजुत्तउ^{११} दुग्गु व ॥ ५
 वित्तमुक्कु परवित्तविहसणु^{१२} । समयवंतु परसमयविणासणु ॥
 गहियवत्थु होएवि दियंवरु । महि-परिहरणु^{१३} तो^{१४} वि कयसंवरु ॥
 आसवणासि^{१५} होइ सुरजुत्तउ । सिद्धिपुरंधिहि जो अणुरत्तउ ॥
 अण्णहुं^{१६} होणहं^{१७} चिद्धि-पइंसिरु । अणउ तो वि णयसयलहं^{१८} मंदिरु ॥
 णट्ठुपरत्तु तो वि तवलीणउ । अंगहिं^{१९} होइ वद्दु अइखीणउ^{२०} ॥ १०
 घत्ता—जिणु तेहि णिएप्पिणु^{२१} भणिउ णवेप्पिणु^{२२} देहि देव अम्हारइ ।
 पट्टाविय मयणइं मग्गहं रयणइं अम्हइं तिहुवणसारइं^{२३} ॥२५॥

वस्तु—अचरुं णिसुणहिं^२ देव तुहुं वयणु
 जइं^३ परिणहि सिद्धि तुहुं आण अत्थि तुहुं अतुलवीरहो^४ ।
 जइ इच्छहि चरसुहइं करहि केर तइलोयवीरहो ॥
 छंडहि तउ ता उव्वरहिं^५ जइ पइसहिं^६ पायालि ।
 सग्गि ण छुट्टहि णित्तुलउ दावइ मरणु अयालि ॥२६॥

दूर ही खड़े होकर देखा कि वे निर्मल होते हुए भी आकाशमार्गके समान शोभायमान (या शोधित) हैं, चर्या (चारित्र्य व गमनागमन) युक्त होते हुए दुर्गके समान दुर्गम हैं । वित्तमुक्त अर्थात् निष्परिग्रह होते हुए भी वे परम वृत्त अर्थात् चारित्ररूपी विभूषण धारण किये हुए हैं । समयवन्त अर्थात् आगम युक्त हैं और परसमय अर्थात् कुदृशनोंका विनाश करनेवाले हैं । दिग्गम्बर होते हुए भी उन्होंने (वस्त्रका नहीं) वस्तु अर्थात् तत्त्वोंका ग्रहण किया है । पृथ्वीका परित्याग करके भी उन्होंने संवर (सम्यक् प्रकार वरणनहीं, किन्तु कर्मोंके आस्रवका निरोध) किया है । आस्रवके नाशक व देवों द्वारा उपासित हैं (आस्रव अर्थात् मदिराके विनाशक होते हुए भी सुरा-युक्त हैं) और जो सिद्धि पुरन्धीमें अनुरक्त हैं । जो अनृण होकर भी दूसरोंको वृद्धिका मार्ग दिखानेवाले हैं, व अनत होते हुए भी समस्त नयोंके भण्डार हैं (अनय होकर भी सब नयोंके मन्दिर) । उनके समस्त उपराग नष्ट हो जाने पर भी वे तपमें लीन हैं; व अंगोंमें बुद्ध अर्थात् केवलज्ञानी होते हुए शरीरसे अतिक्षीण हैं (शरीरसे वृद्ध = पुष्ट होते हुए भी अति क्षीण) ।

राग और द्वेषने जिनेन्द्रको देखकर व नमस्कार करके कहा, “हे देव, हमें मदनने आपसे त्रिभुवनके सारभूत तीन रत्न माँगनेके लिए भेजा है, अतएव आप हमें वे दीजिए ॥२५॥

“हे देव, एक बात और सुनिए । यदि आप सिद्धिसे विवाह करना चाहते हैं तो उस अतुल वीर मदनकी तुम्हें आज्ञा है (कि तुम ऐसा मत करो) । यदि आप उत्तम सुख चाहते हैं तो उस त्रैलोक्यवीर मदनकी सेवा कीजिए । यदि आप सिद्धिके लिये तप करनेका विचार छोड़ देंगे तब तो वचेंगे, (नहीं तो) यदि आप पातालमें भी प्रवेश कर जायँ या स्वर्गमें चले जायँ तो भी नहीं छूट सकते । वह अतुल वीर तुम्हें अकालमें ही मृत्यु दिलवा देगा ॥२६॥

२५ १०. ख णिम्मलेण ११. क ऽजुत्तु १२. वित्तमुक्कु परवित्तविहसणु १३. क परिहरवि १४. क ग ते १५. ख ऽणासे १६. क अण्णहुं; ग अणहु १७. ख होविण १८. क णइं १९. क अंगिहि २०. ग अखीणउ २१. क णियेप्पिणु २२. ख णिएप्पिणु २३. ख तिहुवणि सारइं ।

२६ १. क अवर; ख अवस २. क णिसुणिहि ३. क जय; ख जहि ४. क तुहु ५. क ग ऽहु ६. क उद्वरहि; ग उवरहि ७. क जय पयसहि ।

अण्णु वि कामएउ^१ सेविज्जइ । जासु^२ सेव तिहुभुवणिहिं किज्जइ ॥
जासु सेव किय सग्गि सुरिंदे^३ । जासु सेव किय णहयलि चंदे ॥
चउदिसु मेरु भमंति^४ भाणि^५ । किय भाणट्टिएण वंभाणि ॥
हरेण^६ गउरिक्कंतेण चवंति^७ । किय दाहण^८ सेव णच्चवंति ॥
गोविंदेण^९ गोपि^{१०}-अणुरत्ति^{११} । सेविउ सो वसुएवहं पुत्ति^{१२} ॥
सेविउ अण्णहि णरवरविंदहिं । सेविउ विज्जाहर-धरणिंदहिं ॥
घत्ता—सो किज्जइ मित्तु णाइ^{१३} कयंतु अवसिं^{१४} रुट्टउ देव पर ।
करि भणियउ अम्हहं णं तो तुम्हहं थरहरंतु लाइइ^{१५} सर^{१६} ॥२७॥

वस्तु—सुरहि चंदण सहियकण्णूर

मयणाहि कुंकुम पवर देव वत्थ भोयण विचित्तइं ।
माणिक-मुत्तिय^१ सयइं धणइं कणइं परियण^२ विचित्तइं ॥
मयणइं^३ तुट्टइं जिण^४ धवल लहियइं बहुभंगाइं ।
गोयइं णट्टइं मणहरइं दावइं णवरंगाइं ॥२८॥

देव छंडहि^१ तत्ति रयणाहं

करि सेव मयरद्धयहं भुंजि^२ विसय बहु देस मंडल ।
वर तुरय जंपाण धय चमर छत्त मयमत्त मयगल^३ ।

और भी, कामदेवकी सेवा करनी चाहिए जिसकी सेवा तीनों भुवनोंमें की जाती है । जिसकी सेवा स्वर्गमें सुरेन्द्रने की, आकाशमें चन्द्रने की, मेरुकी चारों दिशाओंमें प्रदक्षिणा करते हुए भानुने की, ध्यानमें स्थित ब्रह्माने की, गौरीकान्त हरने बोलते हुए व ताण्डव नृत्य करते हुए की, गोपियोंमें अनुरक्त वसुदेवके पुत्र गोविन्दने की । जिसकी सेवा और भी श्रेष्ठ मनुष्योंके समूहोंने तथा विद्याधरों और धरणेन्द्रोंने की । वह परम देवता रुष्ट होनेपर निश्चय यमके समान है । उसे मित्र बना लेना चाहिए । हमारा कहना करो । नहीं तो वह अवश्य ही थरहराकर तुमपर अपने वाण छोड़ेगा ॥२७॥

हे जिनदेव, मदनके प्रसन्न होनेसे कर्पूर सहित सुगन्धित चन्दन, कस्तूरी और उत्तम कुंकुम, विचित्र वस्त्र व भोजन, सैकड़ों माणिक्य और मोती, धान्य और सुवर्ण, नाना परिजन, तथा श्रेष्ठ व विविध प्रकार मनोहर गीत और नृत्य तथा अन्य नये नये रंग प्राप्त होते हैं ॥२८॥

हे देव, आप रत्नोंकी अभिलाषा छोड़ दें । आप तो मकरध्वजकी सेवा करें और विषयों, बहुत देशों और मण्डलों, उत्तम घोड़ों, पालकियों, ध्वजा, चामर छत्र तथा मदोन्मत्त हाथियोंका

२७ १. क ख ०एव २. ग तासु ३. क सुरिंदहिं ४. ख ०तें ५. ख णें ६. ख हरिण ७. क गौरिक्कंति णचवंति; ख ०कतें णच्चवंति; ग ०कंति ण चवंति ८. क ग दाहण ९. ख गोविंदएण १०. ख गोपिय ११. ख ०तें १२. ख ०तें १३. ख मत्तु णाय १४. ख ०सें १५. क लाईए; ग लाएइ १६. क सरं; ख सरा ।

२८ १. क मोत्तिय २. ख पंगुरणइं ३. ख मइणइ ४. क जिणि ५. क मणु ।

२९ १. क ग छडुहि २. भुंज ३. क मयइंवल; ग मयवल ।

जुवइ-सहासइं^४ परिणि जिण छंडहि सिद्धिहि तत्ति ।
किं बहु विवुल्लियण^५ पइ मा हकारि भवित्ति ॥२६॥

जेण^१ संकरु जित्तु संगामि
वंभाणु ससिहर तरणि^२ गरुड-गमणु^३ फणिराउ सुरवइ^४ ।
तह पंच कुदंसणइं सेव करहि^५ पासंड णरवइ ॥
सो जिण खवलि ण मयणु तुहुं तिहुवणमज्झि^६ अलंयु ।
अणु वि मोहइं^७ परियरिउ जिह परिकरियउ^८ सिंयु^९ ॥३०॥

वुल्लियण किं बहु अपलावें ^१ ।	करि जिणिंद तुहुं सेव सहावें ^२ ॥
तं णिसुणेवि भणेइ ^३ जिणेसरु ।	दिट्ठउ एउ सभोय णिरंतरु ॥
वहुवपयार ^४ भोय जे अक्खिय ।	ते अणहुत्त सयल मइं लक्खिय ^५ ॥
अण्पायत्ता हुंति ^६ सयाणहु ।	मइ मोकल्लिय ^७ तुम्हइं माणहु ॥
सिद्धि वरंगण ^८ हउं परिणेसमि ।	अक्खय ^९ -सुक्खहो लहुं ^{१०} जापसमि ॥
तहिं साहीणु ^{११} सुक्खु महुकेरउ ।	अखउ अणंतु अटुक्खु अयेरउ ॥

उपभोग करें । हे जिन, आप सहस्रों युवतियोंको परिणावें, किन्तु सिद्धिकी अभिलाषा छोड़ दें । बहुत कहनेसे क्या लाभ, हे प्रभु, आप भवितव्यता अर्थात् दुर्भाग्यको न बुलावें ॥२६॥

जिसने संग्राममें शंकरको जीता; व ब्रह्मा, चन्द्र, सूर्य, गरुडगमन अर्थात् विष्णु, नागराज, सुरपति, तथा पाँच कुदर्शन एवं पाषण्ड व नरपति जिसकी सेवा करते हैं ऐसे मदनको, हे जिन, तुम क्षुब्ध मत करो । वह त्रिभुवनमें अलंघनीय है, और फिर वह मोहसे परिचारित है, जैसे अपने दलसहित सिंह हो ॥३०॥

बहुत बकवाद करनेसे क्या ? हे जिनेन्द्र, तुम सहज भावसे मदनकी सेवा करो ।” यह सुनकर जिनेश्वर कहते हैं—“मदन तो निरन्तर भोगों सहित देखा जाता है । किन्तु तुमने जो नाना प्रकारके भोगोंका वर्णन किया उन्हें मैंने बिना भोगे ही देख लिया । समझदारके लिए तो सच्चे भोग वे ही हैं जो आत्माधीन हों । अन्य भोगोंको तो मैंने छोड़ दिया है; उन्हें तुम ही मानो । मैं तो सिद्धि रूपी वरंगनाको परणूंगा व शीघ्र ही अक्षय सुखको प्राप्त करूँगा । मोक्षमें सुझे स्वाधीन सुख मिलेगा जो अक्षय, अनन्त, दुखरहित और अजर (अथेर) है । मदन कायर

२९ ४. क ०सहावई; ख जुवयसहासय पारण ५. ख इव वोल्लियण ।

३० १. क जिण २. क तरुणि ३. क ग गरुडु वाम्बणु ४. क सुरवइ ५. क करइं ६. ग तिहुअणमज्झि ७. ग मोहिं ८. ग परकरियउ ९. ख में इस पूरे दोहेके तथा अगले कडवककी प्रथम पंक्तिके स्थानमें केवल इतना पाठ है—सो जिणवर वलिण मयणहु सेव सहाइं ॥ घत्ता ॥

३१ १. क अपलाविइं; ग अपलाविं २. क ग सहाएँ; ख सहाइं ३. क भणेवि ४. ख बहुपमार; ग बहुय-पयार ५. ख अक्खिय ६. ख यहु तु ७. ख मोक्कलिउ ८. क ख वरंगणि; ग विरंगण ९. ख अक्खइ १०. क लहि ११. क साहीण० ।

सल्लत्तय दण्पंध महाभट ।	दोस अट्टदस पालियणियच्छल ^{११} ॥
दंडत्तय गज्जंत पराइय ।	सत्त विसण ^{१२} उद्धंत पराइय ॥
गारव तिण्णि समुण्णयमाणा ।	पुण्ण ^{१३} -पाव दो मिलिय पहाणा ॥
दंसणमोह ^{१४} अजेउ सुदुद्धरु ।	दुप्परिणाउ मिलिउ ^{१५} कयसंगरु ॥
पंचासव तमवारिपहुत्ता ।	राय ^{१६} -रोस कोवारुण पत्ता ॥ १०
अण्णाणत्तय दुद्धर ^{१७} संगरि ।	अणय-असंजम ^{१८} मिलिय खणंतरि ॥
दो ^{१९} आसावंधण सम्माइय ।	तह अच्चंभण कहिं मि ^{२०} ण माइय ^{२१} ॥
णाणावरणु महावलवंतउ ।	पंचहि णिवहु समउ लहु पत्तउ ॥
रायहं णवहं जुत्तु वणसह ^{२२} ।	दंसणवरणु ^{२३} मिलिउ आणंदं ॥
असियर तिक्ख समाणु पहुत्तउ ।	वेयणीउ ^{२४} दुहु रायहं जुत्तउ ॥ १५
भंपियजीवसहाउ समुब्भडु ।	संपत्तउ खणि मोह ^{२५} महाभट्ट ॥

घत्ता—जो दुम्मह दुद्धरु दूसहु णिट्ठुरु थिरु गिरिंदसमु^{२७} संगरि ।

जो वहरिवियारणु पयडियपहरणु जाणिज्जइ सयरारि ॥३३॥

रौद्र ये दोनों प्रचण्ड योद्धा भी आ गये। माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीनों शल्य महाभट गर्वसे अन्ध होकर आये व अठारह दोष अपना अपना छल दिखलाते हुए सैन्यमें आ मिले। मन, वचन और काय सम्बन्धी तीनों दण्ड भी गरजते हुए आये तथा सप्त व्यसन उद्धत हुए आ गये। तीनों गारव भारी अभिमान रखते हुए आये और पुण्य-पाप ये दोनों प्रधान भी आ मिले। अजेय और अति दुर्धर, तथा दुष्परिणामी दर्शनमोह भी संग्रामका निश्चय कर आ मिला। मिथ्यात्व, असंयम, कपाय, प्रमाद और योग ये पाँच आस्रव तथा राग और द्वेष क्रोधसे लाल हुए आये। संशय, विमोह और विभ्रम ये तीन अज्ञान तथा अनय और असंयम जो संग्राममें दुर्जेय हैं एक क्षणमें आ मिले। दो आशाबन्धन भी आये और अब्रह्मके अनेक भेद तो कहीं समाते भी नहीं थे। महान् बलवान् ज्ञानावरण पाँचों नृपोंके समूह सहित शीघ्र आ पहुँचा। दर्शनावरण अपने नवों राजाओं सहित प्रहार-ध्वनि करता हुआ आनन्दसे आया। तीक्ष्ण तलवारके समान व अपने दोनों साता और असाता नामक राजाओं सहित वेदनीय भी आ पहुँचा। जीवके ज्ञान दर्शन रूप स्वभावको ढकनेवाला अति प्रबल मोह महाभट भी क्षण भरमें आ उपस्थित हुआ। जो दुर्जेय, दुर्धर, दुःसह, निष्ठुर और संग्राममें गिरीन्द्रके समान स्थिर है तथा जो सचराचर सृष्टिमें वैरियोंका नाश करनेवाला और शस्त्रोंसे सुसज्जित योद्धा प्रसिद्ध है ॥३३॥

३३ ११. ख परिपालियच्छल ग पालियलियच्छल १२. ख ग वसण १३. क पुण्णु १४. ख दंसणु मोह १५. क मिलियउ; ग मिलिउ १६. क राइ १७. ख ०र १८. क असंजमु १९. ग दे २०. क कहमि २१. ख तह व्भंड कहमि ण माइय २२. ख सवसहं २३. क यरणु ग दंसणु यरणु २४. क ग में 'दंसणमोहणीउ णउ मत्तउ' इतना पाठ अधिक है २५. क वेउणीय; ख वेयणीय २६. क ग मोह २७ क ग गरिंदसम ।

वस्तु—जस्स वोहइ सग्गि सुरराउ

गोइंदु तिणयणु सगणु तह पयालि धरणिंदु कंपइ ।

वंभाणु ससहरु तरणि^१ मच्चलोइ चक्कवइ संकइ^२ ॥

सो आवंतउ रइपिणण मोहमहल्लउ दिट्ठु ।

परमाणंदे कलयलिवि ता णियथाणि वइट्ठु^३ ॥३४॥

सोलकसायरायसंजुत्तउ । णिवणवणोकसांयसंपत्तउ^४ ॥

^५तियमिल्लुत्तणरेसरजुत्तउ । इय अट्टावीसहं वल्लवंतउ ॥

सम्महु जाइवि मयणणरिंदे । वद्धु पट्ठु तहो परमाणंदे ॥

सेस भरेवि भणिउ सेणावइ । तुज्झ लीह को संगरि लावइ ॥

ताम चयारि समुण्णयमाणा । मिलिय आउकम्माहिव राणा ॥

तेआणव णिव मिलिय सणामि । दुण्णि गुत्त णरणाह सथामि ॥

अंतराउ सिहु पंचणरिंदहि^६ । मयरद्धयहु मिलिय जयसद्धि ॥

अट्ट कम्म ए रायपहाणा । णिव^७सयअट्टतालसम्माणा ॥

भिच्चहं ताहं^८ ण संख विहाइय । जलि थलि महियलि कहमि^९ ण माइय ॥

घत्ता—णिट्ठुर मयभिभल मयमयगल्लघड समरभूमि संपत्तउ ।

मयणहं वरथट्ठे कयसंघट्ठे भयरहवरसंजुत्तउ^{१०} ॥३५॥

वस्तु—धयवडाहि व दुट्टलेस्साहि

विकहाहि तह^१ कट्टियहं जाइमरणजरमुरउ गहिरउ ।

तह पंचकुदंसणइ^२ पंचासव^३ अइसहिहि गहिरउ ॥

जिससे स्वर्गमें सुरेन्द्र भी भयभीत रहता है, गोपेन्द्र, त्रिनयन अपने गणों सहित, व पातालमें धरणेन्द्र भी कम्पित होते हैं, एवं ब्रह्मा, चन्द्र, सूर्य व मर्त्यलोकमें चक्रवर्ती भी शंकित होते हैं, ऐसे मोह महामन्त्रीको आते हुए रतिप्रिय अर्थात् कामदेवने देखा । वह परम आनन्दसे हर्ष-ध्वनि करके अपने स्थानपर बैठ गया ॥३४॥

सोलह कषाय राजाओंसे संयुक्त, नौ नोकषाय नृपों सहित, तथा तीन मिथ्यात्व नरेश्वरोंसे युक्त, इस प्रकार अट्टाईस महायोधाओंसे बलशाली हुए मोहके सन्मुख जाकर मदन नरेन्द्रने परम आनन्दसे उसके सेनापतिका पट्ट बाँधा । फिर शेष राजाओंका भी सम्मान करके उन्होंने सेनापतिसे कहा—“संग्राममें तुम्हारी बराबरी कौन कर सकता है ?” उसी समय चार उच्च अभिमान रखने-वाले आयुर्कर्म राजा आ मिले । फिर नामकर्मके ज्ञानवे राजा सम्मिलित हुए और दो सामर्थ्यवान् गोत्र राजा भी मिले । तत्पश्चात् अन्तराय जयशब्दका उच्चारण करते हुए पाँच नरेशों सहित मकरध्वजसे आ मिले । इस प्रकार ये राजप्रधान आठ कर्म अपने एक सौ अट्टतालीस उपराजाओं सहित एकत्र हुए । उनके मृत्योंकी तो कोई संख्या ही नहीं जानी जाती । वे जल, स्थल व नभस्त्रलमें कहीं समाते भी नहीं थे । निष्ठुर, मदविहल मद रूपी हाथियोंकी पंक्तियों, तथा भय रूपी उत्तम रथोंकी श्रेणियोंसे संयुक्त होकर मदन वड़े ठाठसे सेना-संगठन करके समर भूमिमें आ उतरा ॥३५॥

ध्वजपताकाओंके समान दुष्ट लेश्याओं तथा कष्टकारी विकथाओं सहित; जानि, मरण

३४ १. क तरणि २. क ग कंपइ ३. ख पट्ठु; ग वयट् ।

३५ १. क ग सोल कसा णिव णाव णोकसायसंपत्तउ २. ख तप ३. ख ग नहिहि ४. क ग नट्ट ५. वर वाह, क ताण ६. ख कत्प; ग कहिमि ७. क मइ मइ ८. क ग संजुत्तउ ।

३६ १. ख वह २. क पंचसह; ग पंचससह ।

अविरइसदें काहलिहि^३ गज्जइ समरि रउददु ।
 तं मयरद्वय तणउ वल्लु जुयखइ णाइ समुदु ॥३६॥
 दह कामावत्थ-पर्यंडपारु । रुदइदंड-सत्तप्पयारु ॥
 तहि अवसरि संपत्तउ पर्यंडु । जसु सोहइ अग्गिमसेणु चंडु ॥
 संका कंखाविदिगांछिवंतु । सह^१ मूदु चलिउ वइरीकयंतु ॥
 कंपाविय भुवणत्तयरउदुदु । समरंगणि पाविय विजयसदुदु ॥
 करधरियफुरियसंसारदंडु । मिच्छत्तु णराहिउ मिलिउ चंडु ॥
 तें पणविचि पभणिउ देवदेव । कह उप्परि चल्लिउ भुवणसेव ॥
 आपसु देहि तिहुयणविणोय । हउं जिणमि जिणेसर रायराय^२ ॥
 तं वयणु सुणेप्पिणु भणइ मोहु । अरि समरि जिणिंदहु कवणु जोहु ॥
 मिच्छत्त काइं गल्लगज्जिणण । कल्लइ^३ जिणहक्कइं तज्जिणण ॥
 जाणामि तेरो चारहडि तिथु । पावेइ पवरसम्मत्तु जित्थु^४ ॥

घत्ता—तो बोलिउ राएं काइं विवाएं कल्लइ^५ जइ मइ दक्खवहु ।

सो जिणु समरंगणि सरसंधियगुणि हरि व गइंदहुं करमि वहु ॥३७॥

इय मयणपराजयचरिए हरिपवकइविरइए मयणाराय-वयणाराणो राम पढमो संधी
परिच्छेउ समत्तो ॥ ? ॥

और जराका घंटा बजाता हुआ, पाँच कुदर्शनोंके साथ व पाँच आस्रवोंकी ध्वनिसे गम्भीर अविरतिके मृदंग समान शब्दसे वह मकरध्वजका सैन्य समरभूमिमें रौद्र गर्जन करने लगा, जैसे प्रलय कालमें समुद्र गरज रहा हो ॥३६॥

दश कामावस्थाओंकी प्रचण्ड पार तथा आर्त व रौद्र ध्यान व तीन दण्डोंकी शक्तिके प्राकारसे युक्त होकर आया हुआ कामदेवका प्रबल अग्रिम सैन्य शोभायमान हुआ । शंका, कांक्षां और विचिकित्सा तथा मूढताको संग लेकर वह वैरियोंका यमराज मदन चल पड़ा । तब भुवनत्रयको रुद्ररूपसे कंपायमान करता हुआ, समरांगणमें विजय-शब्दको प्राप्त करने वाला, हाथमें संसारका दमन कारी स्फुरायमान दण्ड लिये हुए प्रचण्ड राजा मिथ्यात्व आ मिला । उसने प्रणाम करके कहा—“हे देवोंके देव, आपकी तो समस्त भुवन सेवा करता है, तब आप अब किसके ऊपर आक्रमण करने चले हैं ? हे त्रिभुवन-विनोद, आप मुझे आदेश दें । हे राजाधिराज, मैं उस जिनेश्वरको जीत लूँगा ।” मिथ्यात्वके ये वचन सुनकर मोह बोला—“अरे समरमें जिनेन्द्रसे कौन योधा युद्ध कर सकेगा ? हे मिथ्यात्व, गला बजानेसे क्या लाभ । कल हम जिन भगवान्को भर्त्सना कर युद्धके लिए ललकारेंगे । वहाँपर जब प्रबल सम्यक्त्वसे सामना पड़ेगा तब हम तुम्हारा युद्ध-कौशल जानेंगे ।” तब मिथ्यात्वराजने उत्तर दिया—“अच्छा, अब विवाद करनेसे क्या लाभ ? कल ही तुम्हें दिखा दूँगा जब मैं समरांगणमें अपने धनुषकी प्रत्यंचापर बाण चढ़ाकर उस जिनेन्द्रका उसी प्रकार वध करूँगा जिस प्रकार सिंह गजेन्द्रका वध करता है ॥३७॥

इस प्रकार हरिदेव-कृत मदन पराजय चरित्रमें मदनराज-वर्णन नामक
प्रथम सन्धि परिच्छेद समाप्त हुआ ॥ ? ॥

३६ ३. ग काहलिहि ।

३७ १. ख तह २. क राइ राइ ३. क कल्लइं ४. क पावेइय परसम्मत्तु; ग पावेइय परसम्मत्तु ५. क ग कल्लहु ६. ख सरु ७. क हरमिगयंदहु ।

विदियो संधी

पियसिद्धिहि कारणे^१ चलित महारणे दुद्धरु मयणु मयगलि चडिउ ।
सरु सरुसरासणु^२ सधणु सपरियणु गंपि जिणिंदहो अम्भिडिउ ॥१॥

दुवई—णिग्गए^१ दूवि^२ जुवलि^३ जिणणाहें एत्तहि^४ भुवणपूरयं^५ ।
अरे^६ संवेयं^७ भक्ति देवावहि गहिरं समरतूरयं^८ ॥२॥

वस्तु—पाँच समिदिउ पाँच महसद्द

हयसद्द^१ वहिरिउ^२ भुवणु संवेयं^३-आणाइ^४ गज्जइ ।
सियसद्दभेरी रवेण जिणु अजेउ^५ पभणंति वज्जइ ॥
वियरइ तिह^६ काहलपसरु कयघणविंदविसट्टुं^७ ।
वज्जंतउ खणि खणि भमइ मयरद्धय-दिसि पट्टु ॥३॥

तहि सद्द^१ संपत्त^२ णरेसर^३ । पाँच महव्वयं^४ समरि धुरंधर ॥
दहविह धम्मणरिंद समाइयं^५ । खम दम जम उद्धंत पराइय ॥

सिद्धि रूपी प्रिय अंगनाके लिए दुर्निवार मदन एक मदनोन्मत्त हाथीपर आरूढ़ होकर महा-युद्ध करने निकल पड़ा और धनुष-बाणसे सुसज्जित हुआ अपने परिजनोंके साथ जाकर जिनेन्द्रसे भिड़ गया ॥१॥

इधर जिनेन्द्रकी सभासे उन राग और द्वेष नामक दोनों दूतोंके लौट जानेपर जिनेन्द्रने संवेगको बुलाकर आज्ञा दी, “अरे संवेग, तुम तुरन्त ही ऐसी गम्भीर रणभेरी बजवा दो कि जिससे समस्त लोक गूँज उठे” ॥२॥

जिनेन्द्र नरेशकी आज्ञा पाकर संवेगने पाँच समितियों रूपी भेरियोंको बजवा दिया जिनके पाँच महाशब्द रूपी घोड़ोंके शब्दोंसे भुवन वहिरा हो गया । स्याद्वादकी भेरी बजती हुई यह कहने लगी कि “जिनराज अजेय हैं ।” इस प्रकार रणभेरी मेघोंकी गर्जनाके समान गरजती हुई घूमने लगी और क्रमसे वह मकरध्वजकी दिशामें भी पहुँची ॥३॥

उस रणभेरीकी ध्वनि सुनकर पाँचों महाव्रत नामके नरेश्वर जो समरधुरन्धर थे, जा पहुँचे । उत्तम क्षमादि दस धर्म नरेन्द्र भी आ गये । बलशाली क्षमा, दम, यम भी आये ।

१ क ग कारणु २. ख ग सरु सरासणु ।

२ १. क णिग्गइ २. ख दूवें ३. ग भुवलि ४. ख पत्तहि ५. ख ०पूरियं ६. क ग अरि ७. क ग अरे ८. क समरि तूरयं ।

३ ख हयसद्द २. क ख वहिरिउ ३. क संवेयं; ख संवेयं ४. ख अणाइ ५. ख अजेउ ६. क ग जिणण, तह ७. क ख विसिट्टु ।

४ १. क ग ताहि तदि २. क ग संपत्तु ३. क परेसर ४. क महव्वयं ५. क ग प नरेश ।

सत्त तत्त णरणाह महावल । वारहविह तव परिवालियञ्जल ॥
 पंचायार महावलवंता । तेरह चरिय भक्ति संपत्ता ॥
 धम्म-सुक्कभाणं^६ संजुत्तउ । णिव्वेणं सहु उवसमु पत्तउ ॥ ५
 वंभचेर^७ णव दुज्जय^८ संगरि । अट्ट महागुण मिलिय खणंतरि ॥
 णिस्संकाइं सवच्छुलु छुज्जइ । दमहि^९ णरिंदहि संजमु गज्जइ ॥
 गुत्तित्तउ^{१०} मिलंतु^{११} आणंदं^{१२} । अणुकंपारुण जय जय सह^{१३} ॥
 णव णय^{१४} संपत्ता वि महाभड । छुव्वासव किय-सत्त समुच्चमड ॥
 मुंड सणियम पयज्ज करंता । दे थाएसु^{१५} भणंत^{१६} पहुत्ता ॥ १०
 तिहि सह^{१७} मुखमहापहु दुज्जरु^{१८} । पंचहि सहु सम्माउ^{१९} सुसंवरु ॥
 गुण-लक्खणहं संख ण विहाइय । जलि थलि महियलि गयणि ण माइय ।

वत्ता—चउणासहि मिलियहि विणयहि चलियहि दिट्ठि-चउक्किण^{१९} जुत्तउ ।
 वारहपच्छत्तहि^{२०} खणिण पहुत्तहि तिहि जोइहि वलवंतउ^{२१} ॥५॥

दुवई—सिवसुहहेउ^२ चारि जाणिज्जइ^३ जे तिहुवणि^३ महाभड ।
 ते जिणसेणिण मिलिय पंच वि जण तह णिगंथ उच्चमड ॥५॥

जीवाजीवादि सप्त तत्त्व जो महावलशाली राजा थे तथा वारह प्रकार तप राजा, जो छलको दूर भगानेवाले थे, वे भी आये । महावलवान पंच आचार तथा तेरह चरित्र भी शीघ्र आ गये । धर्म और शुक्ल ध्यानोसे संयुक्त तथा निर्वेद सहित उपशम भी आये । नव ब्रह्मचर्य जो युद्धमें दुर्जय हैं तथा आठ महागुण एक क्षणमें आकर सेनामें सम्मिलित हो गये । सम्यक्त्व अपने निश्शंकादि व वात्सल्य रूप आठों अंगों सहित शोभित हुआ और संयम दमादि नरेन्द्रों सहित गरजने लगा । तीनों गुप्तियाँ भी आनन्द सहित आ मिलीं । वे अनुकम्पासे लाल हो रही थीं और जय-जय शब्द कर रही थीं । नव नय महायोद्धा भी आ गये और अपने बलसे उद्भट पड़ आवश्यक भी आये । नियमों सहित मुंड भी प्रतिज्ञा करते हुए तथा 'आदेश दीजिये' ऐसा कहते हुए आये । दुर्धर मोक्ष महाप्रभु तीनों सुभटों (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) सहित आये एवं संवर भी अपने पाँचों भेदों सहित पधारें । गुणों और लक्षणोंकी तो संख्या ही नहीं जानी जा सकती । वे जल, थल और गगनमें भी नहीं समा सके ।

मिलकर चलते हुए चारों न्यासों (निक्षेपों) तथा विनयों एवं चतुर्विध दृष्टियों, वारह प्रायश्चित्त व क्षण मात्रमें आ पहुँचनेवाले तीनों योगोंसे युक्त होकर जिनेन्द्र बलवान हुआ ॥५॥

जो शिव-सुखके चार हेतु जाने जाते हैं, जो तीनों भुवनोंमें महाभट हैं, वे जिन-सेनामें आ मिले । उसी प्रकार पाँचों निग्रन्थ योद्धा भी आकर सम्मिलित हो गये ॥५॥

४ ६. क ०सुक्कु० ७. क ख ग वंभचेर ८. क ग जुज्जय; ख दुज्जइ ९. ख दसहि १०. क मुत्तित्तउ; ख गुत्तित्तइ ११. ख मिलंति १२. क ग भाणिदि १३. क णइ १४. क आदेसु १५. क ग भणंति १६. क सहु १७. ख दुद्धर १८. क समायो १९. ख चउक्कणि २०. क वाराहि पच्छत्तहि; ग वारहि पच्छत्तहि २१. ख वलवंतउ; ग विलवंतउ ।

५ १. क ०सुहुहेउ २. ग जाणिज्जहि ३. ख तिहुवणे ।

वस्तु—जेण पाडिउं पयहं सुरराउ

धरणिंदुं तह चक्रवइ गरुडगमणुं^३ संकरु दिवायरु ।
वंभाणु ससहरु धणउ सिद्धु बुद्धु गंधवु सायरु ॥
सो समरंगणि धुरधवल्लु^५ परवलकुलहं कर्यंतु ।
पुलइयतणु जिणवल्लि मिलिउं दंडाहिउ सम्मत्तु ॥६॥

चउरासी गुणलक्ख महारह ।	शील सहस्स मिलिय अट्टारह ॥
लक्खणाह सय दह अट्टोत्तर ।	अट्टावीस मूलगुण दुद्धर ॥
आभिणिवोहिसमुण्णयमाणहं ।	तिण्णि सयइं ^१ छत्तीसइं ^२ णाणहं ॥
वारह मंडलियाहिं ^३ आहंगहिं ।	मिलिय चउइहं ^४ तह पुव्वंगहिं ॥
अवर-असेस-सेण-संजत्तउ ।	पुणु सुवणाणुं ^५ महावल्लु पत्तउ ॥
अवहिणाणु तिहिं ^६ जुत्तु णरिंदहिं ।	दुहु मणपज्जउ जय जय सइहिं ॥
ए चयारिं ^७ सहं ^८ केवलणाणं ।	मिलिय जिणिंदहु समय अमाणं ^९ ॥
दुद्धर वार महाहवमंडणं ^{१०} ।	दो गुण मिलिय वइरिवलखंडणं ^{११} ॥

५

घत्ता—अवरहिं सामंतहिं भुवणि महंतहिं समरि समुहुं^{१२} परियत्तियहं ।
मयणोवरिं^{१३} चलियहिं^{१४} जिणवरमिलियहिं संख ण जाणमि खत्तियहं ॥७॥

जिसने अपने पैरोंपर सुरराजको भी पड़वाया; धरणेन्द्रको भी, एवं चक्रवर्ती, गरुड़वाहन (विष्णु), शंकर, दिवाकर, ब्रह्मा, चन्द्र, धनद (कुवेर), सिद्ध, बुद्ध, गन्धर्व और सागरको भी; वह समरांगणमें धुरीण साँड़के सहश, शत्रुके बल-समूहका यमराज, दण्डाधिप सम्यक्त्व रोमाञ्चित होकर जिनेन्द्रकी सेनामें आ मिला ॥६॥

वहाँ चौरासी लाख गुण और अठारह हजार शील रूपी महारथी भी आ गये । एक हजार आठ लक्षण और अट्टाईस दुर्धर मूल गुण भी आये । आभिनिवोधिक ज्ञानके तीन सौ छत्तीस बड़े ऊँचे मानवाले आये । द्वादश अंग और चौदह पूर्व रूपी माण्डलिकोंके साथ तथा अन्य समस्त सैन्यसे संयुक्त महाबली श्रुतज्ञान भी आया । अवधिज्ञान अपने तीन राजाओं सहित और दो प्रकारका मनःपर्यय जय-जय शब्दों सहित, ये चारों ज्ञान अनन्त केवल ज्ञानके साथ जिनेन्द्रसे आ मिले । दुर्धर वीर और महायुद्धके भूषण वैरीके बलका खण्डन करनेवाले दो गुण भी आ मिले ।

और भी अन्य सामन्त, जो भुवन भरमें महान् थे और जो जिनवरसे मिलकर मदनके ऊपर चढ़ाई कर रहे थे एवं युद्धके सम्मुख आ गये थे, उन सब क्षत्रियोंकी संख्या भी मैं नहीं जानता ॥७॥

६ १. क ग जे णिपाडिउ २. ख धरणेंदु ३. ग गगवन् ४. क धुरधवल्लु ५. क पुलइयु जिणवल्लु मिलिउ-यउ; ख पुलइयतणु जिणवल्लु मिलिउ; ग पुलइयणु जिणवल्लु मिलिउं ।

७ १. क तिण्णि सय; ख तिपण्णि सयइं २. क छत्तीसयं ३. क ग मंडलियाहिं ४. उ चउइहं ५. क मण-णाणु ६. ख तहिं ७. क चियारि; ग दायारि ८. क मुहु ९. क ख ग वणि १०. क मणु ११. क ग वल्लुखंडण; ख वल्लुखंडणु १२. क समहु १३. क ग मयणोवरि १४. क चलियहिं ।

दुवई—जीव-सहाव चवल संचल्लिय बहुविहतुरय-थट्टया ।

दुज्जय सत्तभेय चत्तारि वि पमुहा घड पयट्टया ॥८॥

वस्तु—लद्धि चिधर्हि फरहरंतेहि

सुहलेसहि कट्टियाहि बहुपर्याहि बहुखंभगहिरउ ।

सियसद्धभेरीरविण वज्जमाणढक्केहि^१ वहिरउ ॥

जिणु पत्तउ पत्तउ भणइ काहलसद्दु रउद्दु ।

तं जिणसामियतणउ^२ वलु णं घडहउइ समुद्दु ॥९॥

खाइयदंसणि करि वि चडेप्पिणु । अणुवेक्खा सण्णाहु करेप्पिणु ॥

लेवि समाहि महागय पहरणु^३ । सिद्धभूच सरवदउ गणेप्पिणु^४ ॥

सुसमउ णित्त-बंधु विरपप्पिणु । कहि सर कहि सर बोलंतउ जिणु ॥

तहि अवसरि भवियणहं णविज्जइ । मिच्छादिट्ठि लोउ वलि किज्जइ ।

सरसईहि मंगलु गाइज्जइ । दयइं समरभरि सेसु भरिउज्जइ ॥^५

तं पेच्छिवि संजलणं^६ वुत्तउ । अम्हहं अच्छ्हं^७ परथु ण जुत्तउ ॥

मयरद्धयहं गंपि तं सिद्धउ । जिणणाहहुं वलु जेरिसु दिद्धउ ॥

घत्ता—देव-देव संपत्तउ जिणु वलवंतउ अग्गिवाणु दंसणु करिवि ।

पहु वुद्धि रइज्जइ पत्तउ किज्जइ णासहि^८ दूरि समोसरिवि ॥१०॥

जीवनके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप स्वभाव अपनी नाना वृत्तियोंसे नानाविध तुरंग-समूहों सदृश चपल चल पड़े । दुर्जय सप्तभंगी व चार प्रमाण रूप गज-पंक्तियाँ भी चलनेमें प्रवृत्त हुई ॥८॥

लद्धि रूपी फहराती हुई ध्वजाओं सहित, प्रकट हुई नाना पदात्मक शुभ लेश्याओं रूपी विविध स्तंभोंसे स्थिर व गहन, स्यात् शब्द रूपी भेरीकी ध्वनिसे वजते हुए ढकोंसे दिशाओंको वधिर करता हुआ 'जिन आ गया, आ गया' ऐसा काहलका रौद्र शब्द निकल रहा था । वह जिनेन्द्र स्वामीका बल ऐसा प्रतीत होता था मानो समुद्र घड़घड़ा रहा हो ॥९॥

ध्यायिक दर्शन रूपी हस्तीपर चढ़कर, अनुप्रेक्षाका कवच पहनकर, समाधि रूपी महान् गदाका प्रहरण लेकर, सिद्ध भूमिको अपना लक्ष्य बनाकर, स्वसमयको नित्य-बन्धु बनाकर 'स्मर कहाँ है ? स्मर कहाँ है ?' कहता हुआ जिनेन्द्र चल पड़ा ।

उस अवसरपर भग्यजनोंने उन्हें नमस्कार किया व लोगोंने मिथ्यादृष्टिका वलिदान कर दिया । सरस्वतीने मंगल गीत गाया और दयाने समरके भार सहन करनेमें शेषनागकी सहायता की ।

जिनेन्द्रको इस प्रकार समरमें प्रविष्ट होते देख संज्वलनने कहा, 'हमारे रहते आपका ऐसा करना उचित नहीं है ।' फिर उसने मकरध्वजके पास जाकर उसे बतला दिया कि जिनेन्द्र-नाथकी सेना किस प्रकार देखी थी ।

'हे देव-देव, बलवान् जिनेन्द्र दर्शनको अपना अग्निवाण बनाकर यहाँ आ गया है । हे प्रभु, अब आप अपनी बुद्धिको लगाकर ऐसा कीजिए जिससे वह दूर हटकर भाग जाय ।' ॥१०॥

९ १. ग वज्जमाणु २. क ०सामीतणउ ।

१० १. ख पहिरणु २. क ग गणिप्पिणु ३. ख समरसरि सेसु भणिज्जइ ४. क ग पिच्छिवि संजलणं

५. क ग अच्छ्हइ ६. ख ०हो ७. क ग णामहि ।

दुवई—तं णिसुणेवि वयणु रइणाहिं णिभंछेवि घल्लिउ ।
मूसहि सिण्णु उवरि मंजारहि कहि दीसेइ चल्लिउ ॥११॥

वस्तु—पंच कंडइ लेइ भुवदंडु^१

सुछाउ^२ दिहु धणु करिवि फरहरंतु धय-मयरु उज्झिवि^३ ।
मय-मयगलि आरुहिवि तस्स वयणु सयलइं णिसुंभिवि ॥
हक्कारिप्पिणु मोहणिउ पभणिउ^४ एम महंतु ।
अज्जु^५ ण साहमि जइवि जिणु पइसउं जलणि जलंतु ॥१२॥

मोहेण रइणाहु^१ ता भणिउ वलिवलिउ । को भिडइ तउ देव समरम्मि तं चल्लिउ ।
तुव भएण^२ थरहरइ संगामि सुरराउ । पायालि धरणिहु^३ कंपेइ संकाउ ।
हरि भाणु वंभाणु ससि वरुणु ईसाणु । हरु गरुडु गंधवु छंडेइ णियमाणु ॥
णरणियर णरणाह तुव भएणं पडिजंति । रणरंणि अरिणियर रोवंति कंदंति ॥
जोइंद णियजोउ मिल्लेवि^४ णासंति । पासंड कयसंड^५ सयखंड भडि जंति ॥
जइ^६ अज्ज जिणणाहु पइसरइ पायालि । सुरलोए गिरिसिहरि तरुगहणि सुविसालि ॥
जइ दुग्गदुग्गम्मि जइ जलह मज्झम्मि । जइ वज्जपंजरइं अंधारकूवम्मि ॥
णासंतु णउ छुट्टए^७ अज्जु जिणदेउ । तो णाउ रिउ धरइ जइ^८ करइ तुहसेव ॥

संज्वलनके ये वचन सुनकर रतिनाथने उसकी भर्त्सना की और उसे वहाँ से भगा दिया ।

“कहीं मूषकोंकी सेना विल्लीके ऊपर चलती देखी गयी है ?” ११॥

अपने पाँचों वाणोंको भुजदण्डपर लेकर व अपने धनुषको स्वच्छ और टढ़ करके, अपनी ध्वजापर मकरका चिह्न ऊँचा कर फहराते हुए, मद रूपी हाथीपर सवार होकर व संज्वलनके समस्त वचनको अनसुना कर मदनने मोह राजाको बुलवाकर उससे कहा, “यदि मैं आज उस महान् जिनेन्द्रको अपने वशमें न करूँ तो जलती हुई अग्निमें प्रवेश करूँगा ।” १२॥

तब मोहने रतिनाथसे कहा—“हे देव, ऐसा कौन बलवान् है जो समरमें आकर आपके साथ भिड़ सके ? आपके भयसे तो समरमें सुरराज भी थरा उठता है । पातालमें धरणेन्द्र शंकासे काँपने लगता है । हरि, भानु, ब्रह्मा, शशि, वरुण, ईशान, हर, गरुड, गन्धर्व, ये सब देव अपना अभिमान छोड़ बैठते हैं । लोगोंके समूह और राजा आपके भयसे पीठ फेर लेते हैं । रणांगणमें शत्रुओंके समूह रोते और चिल्लाते हैं । योगीन्द्र अपना योग छोड़कर भाग जाते हैं । झुण्डके झुण्ड पापंडी सौ खण्डोंमें बँटकर भ्रष्टसे चले जाते हैं । यदि आज जिननाथ पातालमें प्रविष्ट हो जाय, चाहे सुरलोकमें, चाहे पर्वतके शिखरपर, चाहे विशाल सघन वनमें, चाहे दुर्गम दुर्गमें, चाहे जलके मध्यमें, चाहे वज्रके पिंजड़ेमें और चाहे अन्धकूपमें, चाहे जहाँ जाय, किन्तु जिनदेव आज छूट नहीं सकता । शत्रु तो अब तभी वच सकता है जब वह आपकी सेवा करने लगे । यदि यह

११ १. ख तेणु ।

१२ १. ख ग भुवदंड २. ख सुछादि ३. ख उभिवि ४. क पभणउ ५. ख अज्ज ।

१३ १. क ग रइवाहु २. क ग भएण ३. ख धरणेहु ४. ख मिल्लेवि ५. क कयसंड ६. इ म इइ ७. ख उवरइ ८. ख तो णिच्छए उवरइ ।

घत्ता—जइ संसुहु आवइ संगरि दावइ अण्णु ण काइमि किज्जइ ।
सत्तहिं सुवियारिहि कारागारहिं^१ वंधिण्णु घञ्जिज्जइ ॥१३॥

दुवई—तावहिं रंगभाउ मयरद्धं वंदिणु ताहु पिसिउ ।
जइ तुहुं अज्जु समरि जिणु दावहि ता वहु देमि त्सिउ ॥१४॥

वस्तु—दलउ चण्णिवि वाह उब्भेइ

समर-भरि धीर-कइ^१ करि कडित्तु लीहहं भरेण्णु ।

जाएवि जिणवरसमुहु भडु भणेइ पयजुउ णवेण्णु ॥

देव पहुत्तउ मयरधउ वल्लु दुद्धरु अपमाणु ।

जेम गलत्थिय दूव जिण तेम पडिच्छहि वाणु^२ ॥१५॥

जइ पइसरहि सग्गि णासेण्णु । अंकुडेण णिहणइ कड्डेण्णु^१ ॥

जइ भएण णासहि पायालं^२ । तो चि खणिवि कड्डइ कुद्दालं ॥

जइ समुद्धि अच्छहि पइसेण्णु । ता मारइ समुद्धु सोसेण्णु ॥

जहिं जहिं पइसेसहि^३ णासंतउ । तहिं तहिं पावेसइ धावंतउ ॥

छुद्धि पर इक्केण उवाएं । सेव करहि तुहुं काइं विवाएं ॥ ५

पुणु पमण्णुउ णायक भयावणि । को तहो वीर वरइ समरंगणि ॥

पंचिदिय दण्णंध महावल । सोल कसाय रायं पालियछल ॥

सम्मुख आ जाय या संग्राममें दिखाई पड़ जाय तो और कुछ नहीं करना है। सप्त सुविकार (व्यसन) रूपी काराकारमें बाँधकर डाल देना है ॥१३॥

उसी समय मकरध्वजने रंगभाव (शृंगार रस) रूपी भाटको उस (जिनेन्द्र) के पास यह कहकर भेज दिया कि यदि आज समरमें जिनेन्द्रको दिखा दे तो मैं तुझे बहुत पारितोषिक दूँ ॥१४॥

भाटने अपने ओंठ चवा कर बाँह ऊपर उठाई और इस प्रकार (मदनके आदेशका स्वागत किया)। फिर उस समरभारमें धैर्यवान् कविने अपनी कमर कसी और प्रतिज्ञाका स्मरण किया। फिर जिणवरके सम्मुख जाकर व उनके पद-युगलको नमस्कार करके उस भटने कहा “हे देव, मकरध्वज आ पहुँचा है। उसका सैन्य दुर्धर और अपार है। जिस प्रकार आपने उसके दूतोंको अपमानित किया है उसी प्रकार अब आप उसके वाणोंको स्वीकार कीजिये ॥१५॥

यदि तू भागकर स्वर्गमें जावेगा, तो वहाँसे भी वह तुझे अंकुश द्वारा काढ़ निकाल कर मारेगा। यदि भयसे पातालमें भाग जायगा, तो वह कुदालसे खोदकर निकाल लेगा। यदि समुद्रमें प्रवेश करके रहेगा, तो वह समुद्रको सोखकर मारेगा। जहाँ-जहाँ भी तू भागकर जायगा, वहाँ-वहाँ ही वह दौड़कर तुझे पा जायगा। परन्तु एक ही उपायसे तू छूट सकता है। तू उसकी सेवा स्वीकार कर ले। विवाद करनेसे क्या लाभ? फिर उसने कहा—भयंकर समरांगणमें उसके नायक वीरोंके साथ लड़ना कौन स्वीकार करेगा? पंचेन्द्रिय दर्पान्ध महावली, सोलह कषाय राजा

१३ १. ख सत्तवि १०. ख कारागारिहि ।

१५ १. ख जे समरि भर धीर कुइ २. क ग वाण ।

१६ १. ख कड्डइ णिहणेण्णु २. ख जहि जहि पइसेसहि पायालं ३. क पयसेसहि ४. ख काम ५. क कसाइ राइ ।

को समरंगणि मोहु पडिच्छइ । कामहो को रणि सम्मुहु अच्छइ ॥
 सत्त भयाहं कवणु जुभेसइ । मिच्छत्तह समाणु णउ दीसइ ॥
 गारव दोस वसण मय उव्वड । आसव दुप्परिणाम महाभड ॥

१०

घत्ता—अवरहं मि असंखहं परवललक्खहं लीहउ इय आयणियहु ।
 सकहु तो पूसहु अहव णमंसहु अच्छहु णियघरि सुहिं जियहु ॥१६॥

दुवई—ता सम्मत्तु भणइ रे वंदिण मइं मिच्छत्तु वारिउ ।
 पंचमहव्वपहिं पंचिदिय णाणं मोहु वारिउ ॥१७॥

वस्तु—सुकभाणेण अट्टदस दोस
 तत्तेहिं^१ तह सत्त भय अण्णाणु वि सुअणाणि वारिउ ।
 पच्छत्तह सल्लतयं^२ समणदोसुं संजमिणं^३ धारिउ ॥
 आसवकस्मु तवेण पुणु गारव चारित्तेण ।
 सत्त-वसण-रेहा फुसिय धम्मं दयजुत्तेण ॥१८॥

अवर तह य अवरैहिं असंखेहिं^१ । णरवर धरिय णरिदिहिं^२ लक्खेहिं^३ ॥
 ता जिणु भणइ भट्टं^४ जइं दुद्धरि । दावहि अज्जु मयणुं^५ मह संगरि ॥
 देमि देस बहु विसय समंडलु । ता पभणेइ भट्टु पालियल्लु ॥
 पत्तु एहि जइ पच्छ खणंतरि । दावमि मयणु देव तुहं^६ संगरि ॥
 अणु वि मोहु महाभडवंतउ^७ । भूणरवइहिं^८ तासु भामंतउ^९ ॥

५

छली तथा मोहका समरंगणमें कौन सामना करेगा ? रणमें कामके सम्मुख कौन टिकेगा ? सत भयोंके साथ कौन जूझेगा ? मिथ्यात्वके समान तो कोई दिखाई ही नहीं देता । फिर गारव, दोष, व्यसन व मद जैसे उद्धट तथा आस्रव, दुष्परिणाम आदि महाभट भी तो हैं । और भी दूसरे असंख्यों शत्रुके लाखों बली वीरोंके नाम सुनोगे । यदि शक्ति हो तो तैयार हो जाओ, अथवा नमस्कार करो, अपने घर बैठो और सुखसे जीओ ॥१६॥

तब सम्यक्त्वने कहा—“रे बन्दी, मैंने मिथ्यात्वको रोका, पाँच महाव्रतोंने पाँच इन्द्रियोंको और ज्ञानने मोहको । शुक्लध्यानने अठारह दोषोंको, तत्त्वोंने सातों भयोंको तथा श्रुतज्ञानने अज्ञानको रोका । शल्यत्रयको प्रायश्चित्तने तथा श्रमणदोषको संयमने निवारण किया । पुनः आस्रव कर्मको तपने, गारवको चारित्रने एवं सात व्यसनोंकी पंक्तिको दयायुक्त धर्मने स्पर्श किया ॥१७-१८॥

उसी प्रकार और भी अन्य असंख्य लाखों नरेन्द्रों द्वारा तेरे वे नरेन्द्र पकड़ लिये जायेंगे ।

तत्पश्चात् जिनेन्द्रने कहा—“हे भट्ट ! यदि आज दुर्धर संग्राममें तू मुझे मदनका दर्शन करा दे, तो मैं तुझे बहुतसे देश और मण्डल सहित विषय पारितोषिकमें दूँ ।”

तब वह छली भट्ट कहने लगा—“यदि तू मेरे पीछे-पीछे आवे, तो हे देव, एक क्षणमें मैं तुझे संग्रामके बीच मदनको दिखला दूँगा । और भी, अनेक भूपतियों सहित उसके आस-पास अमण

१६ ६. क घर सुह; ख ग घर सुहि ।

१८ १. ख सत्तेहिं २. क ग सल्लतहं; ख सल्लतयहं ३. ग सम्मण० ४. ख संजमिणि ।

१९ १. क ग असंखिहिं २. ख णरिदिहिं ३. क ग लक्खिहिं ४. ख भट्टु ५. क जय ६. ख मयण ७. ख तुहं

८. ख महाभडु वंतउ ९. ख भूणरवइहिं १०. ख लायंतउ; ग भमंतउ

सारंगोवरि सीहु व क्रुद्धउ । दावमि फरहरंतु मयरद्धउ ॥
 ता णिव्वेउ भणइ मइअहियउ । असमद्धयहु^१ वयणु वहु सहियउ ॥
 इय भणेवि^२ णासउडु लुणेप्पिणु । थण्णड हणिवि^३ सीसु मुंडेप्पिणु ॥
 गलि धरेवि णीसारिउ दुम्महु । गउ भणंतु णिव्वेयहं सम्मुहु ॥
 अरे^४ णिव्वेय^५ अज्जु तुह^६ दावमि । रायहु हत्थं जमपहु लायमि ॥

१०

घत्ता—वंदिणु आवंतउ णं कगलंतउ खुडियसीसु विग्गुत्तउ ।

कामहु सामंतहिं भणिउ हसंतहिं लुग्गडु होइ पदुत्तउ^७ ॥१६॥

दुवई—ता भट्टेण वुत्तु तहो मइं मं हसहु^१ हयासहो ।

मह वोहणिय वित्त तुम्हइं पुणु जुज्महु^२ अहव णासहो ॥२०॥

वस्तु—भट्टु पेच्छिवि^१ मयणरापण

कोवारणलजलिण^२ अरे रे^३ भट्ट जिणु किं पयंपइ ।

आयणिवि तं वयणु समुहु थावि वंदियउ जंपइ ॥

महु ण णिहालहि हव विहि^४ किं मयरद्धयराय ।

करि अच्छइ पच्चक्खु सिरं चोरह कित्तिय घाय^५ ॥२१॥

करते हुए, सारंग पर सिंहके समान क्रुद्ध महावली मोहको तथा फहराते हुए मकरध्वजको भी दिखा दूंगा ।”

इसपर अतिबुद्धिमान् निर्वेदने कहा—“तुझे असमृद्ध (दरिद्री) का वचन बहुत सहन किया ।” ऐसा कहकर, नाक काटकर, थण्णड मार, सीस मुड़ाकर व गला पकड़कर दुर्मुखको निकाल दिया । वह जाते-जाते निर्वेदके सम्मुख यह कहता गया—“अरे निर्वेद, मैं तुझे आज बतलाता हूँ । तुझे राजाके हाथसे यमके मार्गपर लगाता हूँ ।”

वन्दीको मुंडे सीस व विकृत अवस्थामें कंकाल जैसा आते देखकर कामदेवके सामन्तोंने हँसते हुए कहा—“यह तो भग्न होकर आया !” ॥१९॥

तब भट्टने उससे कहा—“मुझ अभागपर हँसो मत । मुझे तो सीख मिल गई । अब तुम या तो युद्धमें जूझो अथवा यहाँसे भागो ॥२०॥

भट्टको देखकर मदनराजने क्रोधान्निसे जलते हुए पूछा—“अरे रे भट्ट, जिनेन्द्र क्या कहता है ?”

मदनके वचन सुनकर उसके सम्मुख खड़े होकर वन्दी बोला—“हे मकरध्वज राजन्, मुझे क्या आप देख नहीं रहे कि मेरी क्या गतिविधि हुई है । हाथमें प्रत्यक्ष सिर रखा है फिर भी पूछा जाता है चोरकी कितनी घात हुई ।” ॥२१॥

१९ ११. ग असमधयहु १२. ख भणेइ १३. क हणवि; ख हणेवि १४. क ग अरि १५. क णिव्वेइ
 १६. ख तुव १७. ग दावमि १८. ख हसंतउ ।

२० १. ख सहो २. ख जुज्महो ।

२१ १. क पिच्छवि; ग पिच्छवि २. क ग कोवारण जलियण; ख कोवारणजलिण ३. क ग अरि रि
 ४. ग हविहिहि ५. क सिंह ६. ख पांय ।

वज्रघात को सिरिण पडिच्छइ ।
 को जमकरणु^१ जंतु आसंघइ ।
 को जममहिससिंग^२ उप्पाडइ ।
 को पंचाणणु^३ सुत्तउ खवलइ ।
 आसीविसमुहि^४ को^५ करु छोहइ ।
 लोहपिंडु को तत्तु धक्कइ ।
 णियघरमज्झि करहिं बहु धिट्ठिम^६ ।
 मंदिय देखिखवि करहिं घरप्फरि^७ ।
 अज्जु वि किं पि देव णउ णासइ ।
 महु पुणु जं हूवउ तं हूवउ ।

असिधारापहेण को गच्छइ ॥
 को भुवदंडइ सायरु लंघइ ॥
 विप्फुरंतु^८ को दिणमणि तोडइ ॥
 कालकुट्टु को कवलहिं कवलइ ॥
 धगधगंत^९ हुववहि को सोवइ ॥ ५
 को जिणसंमुहु संगरि थक्कइ ॥
 महिलहं अग्गइ तोरी^{१०} वट्ठिम^{११} ॥
 जइ वीहेहि^{१२} मयण तो ऊसरि ॥
 जो णोसेसइ सो जीवेसइ ॥
 जम्मि ण फिहइ एहउ दूवउ ॥ १०

घत्ता—तं वयणु सुणेप्पिणु तणु विहणेप्पिणु मयरकेउ संचल्लियउ ।
 सहु णियसामंतहिं पणउ करंतहिं णउ समुदु उच्छल्लियउ ॥२२॥

दुवई—विसहरु पुप्फुवंतु^१ को छिंदइ वाइसु विरसु विरसए ।
 उप्परि परिभमंति^२ गिज्जावलि सिव फिक्कारु^३ भासए ॥२३॥

कौन अपने सिरपर वज्रघात कराना चाहता है ? खाँड़ेकी धारके पथसे कौन जाता है ? कौन जाते हुए यमके दूतसे भेंट करता है ? कौन अपने भुजदण्डोंसे सागरको लाँघता है ? कौन यमके भैसेके सींग उपाड़ता है ? स्फुरायमान सूर्यको कौन तोड़ता है ? कौन सोते हुए सिंहको खलबलाता है ? कालकूटको कौन कौर लेकर खाता है ? कौन अपना हाथ सर्पके मुखमें डालता है ? धगधगाती हुई अग्निपर कौन सोता है ? तप्त लोह-पिण्डको कौन थोकता है ? उसी प्रकार कौन जिनेन्द्रके सम्मुख युद्धमें खड़ा हो सकता है ? लोग अपने घरके भीतर बड़ी बहादुरी करते हैं और महिलाओंके आगे तेरी बड़ाई करते हैं । मन्दको देखकर तू बहुत धर-पटक करता है, किन्तु यदि अब भय लगता हो तो हे मदन ! यहाँसे हट जाओ । हे देव ! अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा । जो यहाँसे भाग जायगा वही जी सकेगा । मेरा तो जो हुआ सो हुआ, जन्मभर इसका दुःख नहीं मिटेगा ।

दूतके ये वचन सुनकर ताल ठोंककर मकरध्वज अपने प्रणयशूल (स्वामिभक्त) सामन्तोंके साथ वहाँसे चल पड़ा, जैसे मानो समुद्र उछल उठा हो ॥२२॥

फुफकारते हुए सर्पको कौन रोकता है ? काक विरस काँव-काँव करने लगा । उपर गिद्धोंकी पंक्ति-मँडराने लगी । शृगाली फेकार करने लगी ॥२३॥

२२ १. ग ०कारणु २. ख तिंगु ३. क न विप्फुरंत ४. क पंचाणण ५. क आसीविसु मुहि ६. क को वि ७. ख पवधवंत ८. क न हुववहि ९. क न धिट्ठिम; ख वट्ठिम १०. ख तेरी ११. क वट्ठिम; ख वट्ठिम १२. ख घरप्फरि; ग घरप्फरि १३. ग वीहेहि ।

२३ १. क पुप्फुवंतु २. क परिभमंति ३. ख फेक्कारि ।

वस्तु—कलसु चिह्नद्वय पचणु पडिकृतु

पच्छिलद्वयं चिह्नं वृच लवद्वयं णयणु^१ चामउ^२ सुणित्थमरु ।
एकद्विउ साणु खरु वैचि मिलिवि विरसहिं गिरंतरु ॥
तं अवसचणु णिण्वि^३ तहिं उभउ श्रकद्वयं जाम ।
इत्तहि जिण-सामिय^४-वल्लु चिधद्वं दिट्ठं^५ ताम ॥२५॥

सुरविंद-णवियस्स ।	सिरि-जिणवरिंदस्स ॥
तहो सेणु ^१ संचलद्व ।	तद्वल्लोउ खलभलद्व ॥
गिरिराउ टलटलद्व ।	जलरासि भलभलद्व ^२ ॥
फणिराउ सलसलद्व ^३ ।	सुरराउ चलचलद्व ^४ ॥
धरणियल्लु खलभलद्व ।	तसजीउ भउं पडद्व ॥
परभडसहायस्स ^५ ।	तह मयणरायस्स ^६ ॥
णियवल-सउण्णाद्वं ।	चलियाद्वं सेण्णाद्वं ^७ ॥
धावंतचरभडद्वं ।	फरहरियधयवडद्वं ॥
चलवलिय हयथडद्वं ^८ ।	गुलगुलिय गयवडद्वं ^९ ॥
भुवणयल्लपूराद्वं ।	पडु पडह तूराद्वं ॥
चरवीर ^{१०} धीराद्वं ।	पुलइयसरीराद्वं ॥

५

१०

घत्ता—समरभर-पहुत्तद्वं ल्लु पयडंतद्वं णियसामिय-आणंदणद्वं ।

सम्मुहु धावंतहं तुडिय^{११} चडंतहं सुहडसंधकयमद्वणद्वं ॥२५॥

कलश फूट गया, पवन प्रतिकूल चलने लगा, पीठपर छाँक हुई, वायाँ नेत्र खूब फड़कने लगा, श्वान और खर दोनों इकट्ठे मिलकर निरन्तर विरस भोंकने लगे । ऐसे अपशकुन देखकर जब मदन वहाँ निस्तब्ध खड़ा था तभी उसे जिनस्वामीकी सेनाकी ध्वजाएँ दिखाई दीं ॥२४॥

देवोंके समूह जिन्हें नमस्कार करते हैं उन श्री जिनवरेन्द्रकी सेना आगे बढ़ रही है । त्रैलोक्य खलभला रहा है । गिरिराज (सुमेरु) टलटला रहा है । जलराशि (समुद्र) भलभला रहा है । फणिराज शंपनाग सलसला रहा है । सुरराज (देवेन्द्र) चलायमान हो रहा है । धरणी तल खलभला रहा है । त्रस जीव भूमिपर गिर रहे हैं । उसी प्रकार अपने उत्तम भटों सहित मदन राजकी भी निज बलसे पूर्ण सेनाएँ चल पड़ीं ।

उनमें सुभट दौड़ रहे हैं । ध्वजापट फहरा रहे हैं । घोड़ोंके समूह चुलबुला रहे हैं । गज पंक्तियाँ गुलगुला रही हैं । जोरके नगाड़े और तूर्य भुवनतलको पूर रहे हैं । श्रेष्ठ चीर और धीर योद्धा पुलकित शरीर हो रहे हैं । समरके उन्मादसे प्रेरित होकर कोशल प्रकट करते हुए अपने स्वामीकी आनन्ददायी, सम्मुख दौड़ते व तेजीसे चढ़ाई करते हुए सुभट-समूहका सम्मर्दन करनेवाले सैन्य आगे बढ़ रहे हैं ॥२५॥

२४ १. क वयणु २. क व्रावीं; ग वावउ ३. ख णिवेवि ४. क सामी; ग सामि ५. क ग दिट्ठउ ताम्व ।

२५ १. क ग तहु सेनु २. क छलछलद्व ३. क ग सलवलद्व ४. क ग चलवलद्व ५. क सहाइस्स ६. क राइस्स ७. क ग चलिया सिन्नाइ ८. ख हयथट्ट ९. ख गयवट्ट १०. क वरवीर ११. ख ग तुडिहि ।

दुवई—णिसुणिवि सुहडसंघकोलाहलु रइ थरहरिय णियमणे ।
मयरद्धयहु पुरउ थाएप्पिणु पुणु विण्णवइ तक्खणे ॥२६॥

वस्तु—देव दुद्धरु समरि जिणराउ
किं सिद्धिए वरतियए^१ तुम्ह^२ कुसलि वहु वहु^३ वरेसहु ।
जीवंतहु^४ सीयलउ देवदेव पाणिउ पिपसहु^५ ॥
वारिवि मयरद्धउ भणइ जीविज्जेइ^६ छलस्सु ।
तं णउ मंगमि इत्थु^७ जए जहिं पइसारु खलस्सु^८ ॥२७॥

पहिलउ गउ रयणाइं ^१ लएप्पिणु ।	कंठह धरिवि दूव घल्लेप्पिणु ॥
भट्टु लुणुणउ तिहुअणि विक्खायउ ।	अण्णु वि उप्परि चप्पिवि आयउ ॥
एयहु सिद्धिहिं कारणि भंजमि ।	एत्तिउ ^२ छलु छहुंतु ण लज्जमि ॥
पिच्छि पिच्छि ^३ संगामु पहुत्तउ ।	जोयहु ^४ सुरवरणियहु महंतउ ॥
अज्जु णियंतहं सुरवरविदहं ।	किण्णर-जक्ख-फणिं-णरिंदहं ॥ ५
इव्वहिं जिणहं रणंगणि दुद्धर ।	लायमि ^६ थरहरंत संघिवि ^७ सर ॥
वहु दियहइं ^८ गज्जंतउ अच्छइ ।	महु कर्मि पडिउ ^९ अज्जु कहिं ^{१०} गच्छइ ॥
ता सुहडत्तु ताम पंडियगुणु ।	ताम सीलु संजमु संचियधणु ॥
ता गज्जिज्जइ भुवणव्भंतरि ।	ता सुकम्म सयल ^{११} वि सोहहिं णरि ॥

सुभट समूहके कोलाहलको सुनकर रति अपने मनमें थर्रा उठी और मकरध्वजके सम्मुख खड़ी होकर उसी क्षण प्रार्थना करने लगी ॥२६॥

हे देव ! समरमें जिनराज दुर्जेय हैं । सिद्धिको वरनेसे क्या लाभ ? यदि आप कुशल रहे तो बहुत वधुओंको वर लेंगे । हे देव देव ! जीवित रहिये और टंडा पानी पीजिये । इसपर मकरध्वजने रोकते हुए रतिसे कहा—जिस तिस प्रकार छल करके ऐसे जगत्में जीवित रहना मैं नहीं माँगता जहाँ खलका प्रवेश हो ॥२७॥

मदन बोलता गया—पहले तो वह जिनेन्द्र रत्नोंको ले गया और उसने दूतको गला पकड़कर निकाल दिया । उसने हमारे त्रिभुवन-विख्यात भट (वन्दी) को मूँड़ डाला और अब मेरे ऊपर चढ़कर आया है । मैं सिद्धिके कारण इसे भंग करूँगा । उसका इतना छल छोड़ते क्या मुझे लाज नहीं आयेगी । देख ! इस प्रारम्भ हुए संग्रामको देख और देवोंके महान् समूह को भी देख । आज समस्त सुरवर-वृन्दों, किन्नरों, यक्षों, फणिन्द्रों और नरेन्द्रोंके देवते हुए अभी मैं रणंगणमें दुर्द्धर और थर्राते हुए वाणोंका संधान करके उस जिनेन्द्रपर छोड़ता हूँ । बहुत दिनोंसे यह गरजता रहा है । आज मेरे पंजेमें पड़कर कहाँ जायगा ? तभी तक सुभट्ट और तभी तक पण्डित गुण, तभी तक शील, संयम और संचित धन है, तभी तक सुवनके अन्दर गरजा जाता है और तभी तक मनुष्यमें समस्त सुकर्म शोभा देते हैं, तभी तक महा गुण और

२७ १. ख वरतियइं २. ख अम्ह ३. क विहु ४. ग जीवंतहं ५. ख पिपेसहु ६. जीविज्जइ ७. ग एत्थु
८. ख ग खल्लसु ।

२८ १. रइणाइं २. क ग इत्तिउ ३. क पिच्छि पिच्छि; ख पेच्छि पेच्छि ४. क जोयहु ५. क लायमि ६. क वारिवि ७. क संघिवि ८. क दियह; ख दिययहं ९. ख कर १०. क पडिउ ११. ख सयल १२. ग सुकम्म सयल ।

घत्ता—ता रहइ महागुणु वरसिंहासणु^{१२} ता किज्जइ तवयरण वर। १०

उब्भिय मयरद्धउ हउं रणि कुद्धउ जाम ण लायमि^{१३} हियइ^{१४} सर ॥२८॥

दुवई—ता मयरद्धयस्स सो वंदिणु दावइ समुहु जिणवरं ।

पिच्छहि^१ देवदेव आवंतउ किं वोल्लहि^२ मडप्फरं ॥२९॥

वस्तु—अरे रे पेच्छहि एहु सम्मत्तु

एहु संजमु उच्छरिउ एह पंच वय रण महावल ।

इय तत्त धावहिं समुहं^१ एय णाण पालंति^२ णियल्लु ।

एहु^३ आवंतउ को धरइ फरहत्थउ^४ णिव्वेउ ।

पेच्छहु जिणसामियहं वल्लु सामंतहं णउ छेउ ॥३०॥

वंदिणेण जा जिणवल्लु दाविउ^१ ।

मिलियई संगरि पुल्लविसट्टई^३ ।

जय-कारणि णिट्ठुर पहरंतइं ।

सुहड- पमुक्क-हक्क-लल्लकइं ।

हुंकरंति^५ समुहत्थिय दासइं ।

सुरकामिणि अवलोइय वीरिं ।

अग्गिवाण थक्केण दइच्चं ।

मयरद्धयहु सेण्णु ता धाविउ^२ ॥

जिणवरं-मयण-वल्लइं आभिट्टईं ॥

सामि-पसाय-दायं सुमरंतइं ॥

पहरिय इक्कमिक्क गयसंकइं ॥

दिण्णघायं कंदरक्यतासइं ॥ ५

सम्महु दिण्ण पयइं अइधीरिं ॥

मिच्छत्तं मयरद्धयभिच्चं ॥

उत्तम सिंहासन है एवं तभी तक श्रेष्ठ तपश्चरण किया जाता है, जब तक मैं मकरध्वज उठकर और रणमें क्रुद्ध होकर हृदयमें अपने बाण नहीं छेद देता ॥२८॥

उसी समय उस बन्दीने मकरध्वजको सम्मुख आते हुए जिनवरको दिखाकर कहा—हे देव देव ! उन्हें आते हुए देखिये ! मद भरी बातें क्या बोल रहे हैं ? ॥२९॥

अरे अरे ! देखो ! यह सम्यक्व है, और यह संयम उल्ल रहा है । ये रणमें महा बलवान् पाँच व्रत हैं । ये सम्मुख तत्त्व दौड़ रहे हैं, और ये अपने लल (चातुर्य) का पालन करते हुए ज्ञान हैं । और यह जो फहराता हुआ निर्वेद आ रहा है उसको कौन रोकेगा ? देखो इस जिन-स्वामीके बलको ! जिसमें सामन्तोंकी सीमा नहीं है ॥३०॥

इस प्रकार जब उस बन्दीने जिनेन्द्रके बलको दिखलाया तब मकरध्वजका सैन्य भी उनकी ओर दौड़ पड़ा । जिनवर और मदनके सैनिक संग्राममें मिल गये और पुलकित होकर परस्पर भिड़ गये । वे अपने-अपने स्वामीके प्रसाद और दायका स्मरण करते हुए विजयके लिए निष्ठुर प्रहार करने लगे । सुभट हाँके और ललकारें छोड़ने लगे और निःशङ्क होकर एक दूसरेपर प्रहार करने लगे । वे वीर योद्धा अपने सम्मुख स्थित शत्रु योद्धाओं (दासों) के प्रति हुंकार करते हुए ऐसे प्रहार करने लगे जिनसे कायरोंको त्रास होने लगा । उनका पराक्रम सुरांगनाएँ देख रही थीं । वे अति धैर्यपूर्वक आगेको अपने पैर बढ़ाने लगे । उसी समय मकरध्वजके धुरन्धर योद्धा मिथ्यात्व

२८ १२. क ग बहु सीहासणु १३. क लाइमि १४. हियय ।

२९. १. ख पेच्छहि; ग पिच्छहं २. क ग वुल्लहि ।

३०. १. ख धावेहिं समु २. ख पालंति ३. क इहु; ख यह ४. क ग खरहत्थउ ।

३१. १. दावियउ २. ख धाविंयउ ३. क ख पुलइ ४. क जिणवर ५. क पसाइदाइ; ख पसाइदाण

६. क हुंकरंत ७. क घाइ ८. क ग बहुवीरि

जिणह सेणु किउ पारावत्तउ । संकसहिउ णासउ सयणत्तउ ॥
 णिययसामिधोरत्तउ अक्खइ^१ । धावंतउ घर सुहु आकंखइ ॥
 दिक्खिक्खि रस-वस-कहम तसियउ^{१०} । मूढउ होइ कुमज्जहि वसियउ ॥ १०
 बहु मिच्छुत्तघाय^{११} लिहकंतउ । णाणा णरहु सरणु पइसंतउ ॥
 घत्ता—णउ करइ^{१२} पउत्तउ संकिं जुत्तउ अइयारेण पवत्तियउ^{१३} ।
 अप्पउ ण संभालइ आण ण पालइ मिच्छुत्तेण धियत्तियउ ॥३१॥

दुवई—ता गयणयले धियह सुरविदहं तहिं^१ वंभाणु भासए ।
 सुरवइ पिक्खु पिक्खु^२ तुह णाहह वलु भज्जंतु दीसए^३ ॥३२॥

वस्तु—भणइ सुरवइ जित्थु मिच्छुत्तु
 तहिं णासइ जिणहं वलु वंभ वंभ खणमज्झि^१ होसइ ।
 जहिं सुहइ सम्मत्तु एहि णिव्वेए^२ सहु समुहु पइसइ^३ ॥
 णिस्संका सा तिहि वलिण समुहु भिडंति पयंड^४ ।
 दावमि सम्मत्तेण स हु संजायउ^५ सयखंड ॥३३॥

हंसोसणु पुणु वोलणह^१ लग्गु । जइ कह वि सक मिच्छुत्तु भग्गु^२ ॥
 ता^३ केम जिणिव्वउ मोहमल्लु । मोहु जि तइलोयह हियइ सल्लु ॥

ने स्थिर होकर अग्निबाण छोड़े और जिनेन्द्रके सैन्यको पीछे हटा दिया । वह सेना सशक्त होकर भाग उठी । कोई योद्धा अपने स्वामीके धीरत्वको तो प्रशंसा करता है, किन्तु स्वयं घरकी ओर दौड़ता हुआ सुखकी आकांक्षा करता है । कोई रुधिर और वसाकी कर्दम (कीचड़) को देखकर भयभीत हुआ मूढ़ हो गया और कुमार्गमें जा पड़ा । कोई मिथ्यात्वके बहुतसे प्रहारोंसे लुकता हुआ (छिपता हुआ) नाना लोगोंकी शरणमें गया । वह प्रतीति नहीं फर पा रहा था, शक्तासे युक्त था एवं अतिचारसे प्रवर्त्तन कर रहा था । वह अपनेको न सन्हाल पा रहा था और न आज्ञाका पालन कर रहा था । मिथ्यात्वसे वह इतना आतंकित हो गया था ॥३१॥

तब वहाँ गगनतलमें स्थित देववृन्दोंके सम्मुख ब्रह्मा बोला—हे सुरपति ! देखो, देखो ! तुम्हारे नाथका बल भग्न होता दीख रहा है ॥३२॥

तब सुरपति बोला—जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँसे जिनेन्द्रका बल भागने ही वाला है । हे ब्रह्मा ! अब देखो, एक क्षणमें क्या होता है ? वहाँ सम्यक्त्व निर्वेदके साथ आकर प्रवेग करेगा और उसके निःशंकादि बली और प्रचण्ड योद्धा सामने आकर भिड़ेंगे । तब मैं तुम्हें उनके (मिथ्यात्वके) सम्यक्त्वके द्वारा सौ टुकड़े हुए दिखला दूँगा ॥३३॥

हंसासन (ब्रह्मा) फिर बोलने लगे—हे शक्र ! यदि किसी प्रकार मिथ्यात्व भग्न हो ही गया तो भी मोह मल्ल किस प्रकार जीता जायगा ? मोह ही तो त्रैलोक्यके हृदयका मल्ल है ।

३१ १. क अखय १०. क भासियउ ११. क पाए १२. क ग करहि १३. पवत्तियउ ।

३२ १. क तुह २. ख पेच्छु पेच्छु ३. दीसइ ।

३३ १. ख खणिमज्ज; ग खणि मज्जि २. क पिक्खेई; ग पिक्खेई ३. क पयणउ; ख पयणउ ४. क पयणउ ५. क ग संजाय ।

३४ १. ख वल्लण लग्गउ ग वोलणह २. ख मिच्छुत्तु व भग्गउ ३. ख ही ४. ख त्रैलोक्ये हियइ

मोहेण जि संसयकूवि^१ छुद्धु^२ । मोहेण जीउ दिढवंधि वद्धु^३ ॥
 मोहु जि पाडइ जीवउल्लु^४ णरइ । मोहु जि दावइ वहु दुक्खघरइ^५ ॥
 मोहेण कम्म^६ णउ संवरन्ति^७ । मोहेण जीव भवि भवि^८ मरन्ति ॥ ५
 परवलदलवट्टणु गंधहत्थि । जिणवलि मोहस्स ण मल्लु^९ अत्थि ॥
 जसु आउह^{१०} वत्तीसंतराय । चउवीस गंध संदिण्णघाय ॥

घत्ता—तं वयणु सुणेप्पिणु इंदु हसेचिणु भणइ वंभ साहेव्वउ^{११} ।
 केवल-अहिणारणे जिणवरवारणे खणह मज्झि मारेव्वउ^{१२} ॥३४॥

दुवई—जइ कह कह च सक्क रणि जिप्पइ णारिणि^१ मोहु दुद्धरो ।
 ता धावंतु^२ मयणरायस्स ण जिप्पइ चित्त-सिधुरो^३ ॥३५॥

वस्तु—सहसलोयण दिट्ठ मइं वहुव^१
 ते गंजिय^२ जेम रणि मयण वत्त णउ^३ कहण आवइ ।
 पुणु संमुहु णउ चवइ कणलग्गि^४ अक्खइ पयावइ ॥
 हरि संकरु हउं तिणि विं जण जुज्झइ चत्थिय तेण ।
 हरु पभणइ हउं मयणअरि वुत्तिउ भुवणजणेण ॥३६॥

मोहने ही जीवको संशयके कूपमें डाला है, और मोहने ही जीवको दृढ़ बन्धनमें बाँधा है। मोह ही जीव समुदायको नरकमें पड़वाता है, मोह ही नाना दुःखके घरोंको दिखलाता है। मोहके कारण ही कर्मोंका संवरण (निवारण, रोक) नहीं होता। मोहके कारण ही जीव भवभवमें मरणको प्राप्त होते हैं। वह शत्रुके बलका नाश करनेवाला गन्ध-हस्ती है। जिनेन्द्रकी सेनामें मोहके बराबरका कोई मल्ल नहीं है, क्योंकि उसके आयुध वत्तीस अन्तराय हैं और चौबीस ग्रन्थ (परिग्रह) उसके प्रहार रूप। ब्रह्माके वचनको सुनकर इन्द्र हँसकर बोला—हे ब्रह्मा! जरा ठहरिये। जिनेन्द्रके केवलज्ञान रूपी वाणसे उस मोहमल्लका एक क्षण मात्रमें अन्त हो आयगा ॥३४॥

ब्रह्मा बोला—हे शक! यदि किसी प्रकार रणमें ज्ञानके द्वारा दुर्द्धर मोहको जीत भी लिया गया तो भी मदनराजका दौड़ता हुआ चित्त रूपी हाथी नहीं जीता जा सकेगा ॥३५॥

हे सहस्र लोचन! मैंने ऐसे बहुतोंको देखा जिनको मदनने रणमें ऐसा परास्त किया कि बात कहनेमें नहीं आती। फिर सम्मुख न बताकर व कानमें लगकर प्रजापतिने कहा—हरि, शंकर, और मैं ये तीनों जन उस मदनसे जूझनेके लिए चले। हरि बोले, मुझे भुवन भरके लोगोंने मदनका अरि (शत्रु) कहा ही है ॥३६॥

३४ ५. क ग संसियकूवि ६. क वंधबंधु; ख दिढिवंधि वद्धु; ग वंधवद्धु ७. ख जीउल्लु ८. क ग दुक्खु धरइ; ख दुक्खुधरइ ९. ख कम्म १०. संवरन्ति ११. क ग जीउ १२. ख समहु १३. क आउउ १४. ख हसेचिणु पभणइ वंभु सहेव्वउ १५. ख खणमज्जे मारिव्वउ ।

३५ १. ख णारणे २. क धावंत ३. क चित्तु सिधुरो ।

३६ १. ख ग मइमहुव २. ख गज्जिय ३. ख णव ४, ख चलइ कंतलग्गि ५. ख हरिसंकरहउ तेण्वि ।

तहो वलेण तिण्णि वि उच्छल्लिय । मयरद्धयहं उवरि संचल्लिय ॥
 तिडिपिडंतु हरु धावइ अग्गइ । हेडि करंतु जणहणु वग्गइ ॥
 ताहं वलेण हउं वि गल्लगज्जिउ । सम्मुहु जुज्झंतउ णउ लज्जिउ ॥
 तिण्णि वि पत्त मयणसंगरि भउ ।
 दिक्खवि तेण वंतु विसहद्धउ । थरहरंतु वच्छत्थलि विद्धउ ॥ ५
 पाडिउ घुम्ममाणु संगरि धरि । गउरिए दिण्णु^१ वाउ तहिं अवसरि ॥
 पुणु उच्छल्लिउ मउलियणेत्तउ । णियमंदिरि गंगाजलिं सित्तउ ॥
 विद्धउ णारायणु बहुवाणहिं । कहव ण कहव ण मेलिउ पाणहिं ॥
 महु भत्तारु देव रक्खिज्जहिं । एम भणेवि लच्छि माणिज्जहिं^२ ॥
 दुहि वाणेहि वच्छत्थलि ताडिउ । विरसमाणु हउं महियलि पाडिउ ॥ १०
 लिहक्खिवि रिच्छिहिं^३ अइओ थक्कउ । तिणं^४ कारणि मारेव्वउ चुक्कउ ॥
 रक्खिउ तेण ताइं सोमुत्तियं^५ । ता दिवसाउं जायं^६ सुरवइ पिय ॥
 जा पसूय सा वेयण जाणइ । अणण हसेइ मूढ ण वियाणइ ॥

घत्ता—अम्हइं इय दिक्ख लाइय सिक्ख फलु दिट्ठउ अणुहुत्तउ^७ ।

तुव दावमिं^८ लग्गउ मयणह भग्गउ णासेसइ जिणु गुत्तउ^९ ॥३७॥ १५

दुवई—सुरवइ भणइ अज्जु जिणणाहें^१ मयणु ण हणिउ जइ रणे ।

भूव-भविस्स-कालिं^२ वट्टं^३ तए^४ जायउ अजउंतिहुवणे ॥३८॥

उनके बलपर हम तीनों उछल उठे और मकरध्वजके ऊपर चल पड़े। तड़फड़ाता हरि आगे दौड़ने लगा, होड़से जनार्दन भी कूदने लगे। उनके बलसे मैं भी गाल बजाने और गर्जने लगा और सम्मुख युद्ध करनेमें न लजाया। इस प्रकार हम तीनों मदनके साथ संग्राममें उतरे। मदनने वृषभध्वज (शिव) को आता देख वक्षस्थलमें वेधा, जिससे वे थर्रा उठे और चक्र खाकर संग्राममें धरातलपर गिर पड़े। उस अवसरपर गौरीने उनके ऊपर हवा की और फिर उनको मुकुलित नेत्र मूर्छित अवस्थामें ही वहाँसे हटाया और अपने मन्दिरमें पहुँचकर गङ्गाजलसे सींचा। उधर नारायण भी अनेक वाणोंसे विद्ध हुए और किसी प्रकार उनके प्राण नहीं छूटे (छूटनेसे बचे)। तब लक्ष्मी यह कहकर मनाने लगी कि हे देव ! मेरे भर्तारकी रक्षा कीजिये। मैं भी दो वाणोंसे वक्षस्थलमें ताड़ित होकर चीखता-चिल्लाता महीतलपर जा पड़ा। रिक्षी (रीडनी) ने आच्छादित करके छुपा लिया। इस कारणसे मैं मारा जानेसे बच गया। चूँकि उस मुमूर्तिने मेरी रक्षा की इसीलिए उसी दिनसे वह, हे सुरपति, मेरी प्रिया हो गयी। जिसने प्रभृति की है वही उसकी वेदना जानती है। अन्य मूढ जो नहीं जानती वह हँसती है। हमने यह देखा और भीख ली। मदनसे झगड़ा करनेका फल देखा और अनुभव किया। मैं तुम्हें दिखा दूँगा कि मदनमें युद्धमें लगनेपर घायल होकर जिन भाग जायेंगे ॥३७॥

सुरेन्द्रने कहा—यदि आज जिननाथने रणमें मदनका ह मन नहीं किया तो वह भूत, वर्तमान और भविष्य कालके लिए त्रिभुवनमें अजेय हो जायगा ॥३८॥

३७ क ख दिण २. क ग भणेविणु लच्छिय णियउउं ३. ए दिक्खिक्खि विरिण्णु ४. ह व विणि ५. क ग सुमुत्तिय ६. क दिवसाउः ग दिवसाउ ७. क ग जाइ ८. ए विट्ठउ अणुहुत्तउ ९. क गउरिए, ग दावमि १० क जिणमुत्तउ ।

३८ १. ख ग जिणणारहें २. क ग भूवभविस्स कालि ३. वट्टउ ४. तए ५. क गउउ ।

वस्तु—जाम^१ णियवलु दिट्ठु भज्जंतु ।

ता धाविउ सम्मुहउ वलि रे वलि रे मिच्छत्त णिग्गुण ।
मइं पत्तइं दंसणिण अत्थि सत्ति ता जुज्झि दुम्मण^२ ॥

पिच्छंतहं णियपरवलहं गयणंगणि देवाहं ।

इक्क परज्जिय होउ जउ मयण^३ णरिद-जिणाहं ॥३६॥

ता मिच्छत्तु भणइ रे दंसण ।

पंचिदिय-भड-मोह-सहायहो ।

अरे सम्मत्त पयाउ पयासहि ।

ता सम्मत्त भणइ जिणसेविरु ।

बोह्महि^३ तं जि जं जि मणि भावइ^४ ।

ता मिच्छत्त कोव्विससंसिय ।

दंसणेण विवरीयहिं तज्जिय ।

मूढत्तय मग्गणेहि णमंसिय^१ ।

तो मिच्छत्तं समरि रउइ^{११} ।

तिहुवण-जण-मण-दंत-गुरुक्की^{१२} ।

ता णीसंकसत्ति जालेप्पिणु^३ ।

लद्धउ बहुवहि^१ दिवसहि दुज्जण ॥

को जिप्पइ मयरद्धयरायहो ॥

खं तो तुहुं मरेसि लहु णासहि ॥

सेणावइ जो भडु अग्गिमधुरु^२ ॥

चवइ तुंडु तणु दुक्खइं पावइ^५ ॥

मूढत्तय वाणावलि पेसिय ॥

पुणु छुडयदण वाण विसज्जिय ॥

अंतरालि घल्लिय^१ विद्धंसिय ॥

संकासत्ति लइय साणंइं ॥

धगधगंत सम्मत्तहो मुक्की ॥

अंतयालि घल्लिय णासेप्पिणु^४ ॥

५

१०

जब सम्यग्दर्शनने अपने सैन्यको भग्न होते देखा, तब वह दौड़कर सम्मुख आया और बोला—रे मिथ्यात्व निर्गुण ! हट जा । अब मैं सम्यग्दर्शन आया हूँ । यदि तुझमें शक्ति हो तो रे दुर्मन, मुझसे जूझ ! आज अपने और पराये सैन्योंके तथा गगनांगनमें देवोंके देखते हुए मदन नरेन्द्र और जिनेन्द्रमेंसे किसी एकका पराजय और दूसरेका जय हो जाय ॥३६॥

यह सुनकर मिथ्यात्व बोला—रे दर्शन ! रे दुर्जन ! तुझे मैंने आज बहुत दिनोंमें पाया है । जिसके पंचेन्द्रिय भट हों और मोह सहायक हो उस मकरध्वज राजाको कौन जीत सकता है ? अरे सम्यक्त्व ! दिखला अपना प्रताप । तू निश्चयसे मरेगा । यदि जीवित रहना चाहे तो जल्दी यहाँसे भाग जा ! तब जिनेन्द्रका सेवक जो धुरन्धर भट और सेनापति था वह सम्यक्त्व बोला— जो मनमें आवे सो बोल ले । किन्तु याद रख, मुख बोलता है और दुःख पाता है शरीर । तब मिथ्यात्वने कोप-विषसे संसिक्त मूढता-त्रय रूप वाणावलि प्रेषित की । उधरसे उनके विपरीत दर्शनने तर्जना करते हुए पडायतन रूप वाण विसर्जित किये । उन वाणोंने मूढता-त्रयको बीचमें ही नवाकर विध्वस्त कर डाला । तब समरमें रौद्र उस मिथ्यात्वने आनन्दसे शंकाशक्ति हाथमें ली और त्रिभुवनके लोगोंके मनको दमन करनेमें महान् उस धगधगाती हुई शक्तिको सम्यक्त्वपर छोड़ा । तब

३९ १. क जामु; ग जाम्व २. ख दुम्मय ३. ख मयणु ।

४० १. ख बहुवहि २. ख^१धरु ३. क ग वुल्लहि ४. ख भावहि ५. ग चलइ ६. ख पावहि ७. ग को वि ८. ख विवरियह ९. ख णमग्गिय १०. ख घल्लेवि; ग घल्लिवि ११. क मिच्छत्तहि समरि रउइहि १२. ख दंसमुरुक्की १३. ख जाणेप्पिणु १४. क ग णासेविणु ।

कंखा^१ -पमुह लइय दिव्वावहु ।

णिक्कंखाइं व करिय परंमुहु^२ ॥

अट्टमयाउह णेइ कुदंसणु ।

संवेयाइहिं वरइ^३ सुदंसणु ॥

घत्ता—दिक्खि वि सम्मत्ते रणि पहरंते बहुपहरणउ अभंगे ।

सो हउ वच्छत्थलि पाडिउ महियलि तत्ते^४ महारुइ रंगे ॥४०॥

१५

दुवई—जा मिच्छत्तु सत्तु रणि पाडिउ ता इंदे पवोत्तिउ ।

पिच्छसु^१ वंभ सेणु सम्मत्ते मयरद्धयहो^२ पेत्तिउ ॥४१॥

वस्तु—ताम जिणवरसेणिण भउ रोलु

संजायउ जय जय सहिउ आहयाइं तूरइं^३ गहीरइं ।

पिच्छेविणु^४ णियवलु सरिण हम्ममाणु सम्मत्तवीरइं^५ ॥

पुच्छिउ मोहु महत्तु^६ पुणु महु वलु किं भज्जेइ^७ ।

पाडिउ अग्गिमखंधु^८ तउ तिं परवलु^९ गज्जेइ ॥४२॥

अक्खिउ मोहिं^१ मयणहं जामहिं ।

णरय-गइए^२ धाहाविउ तामहि ॥

हा मिच्छते मोहिउ^३ कायउ ।

हा मिच्छत्त काइं तउ जायउ ॥

हा पहु पइं विणु महु घरु सुणणउ ।

हा हा णिप्फलु गउ तारुणणउ ॥

सम्यक्त्वने निःशंक शक्तिको प्रज्वलित कर धीचमें ही उसे नष्ट कर डाला । फिर इधर मिथ्यात्वने कांक्षादिक दिव्य आयुध लिये, तो वहाँसे सम्यग्दर्शनने निःकांक्षा आदि लेकर उन्हें पराङ्मुख कर दिया । फिर कुदर्शनने अष्ट मद रूप आयुध चलाये, जिन्हें सम्यग्दर्शनने संवेगादिक द्वारा निवारण किये । जब सम्यक्त्वने रणमें प्रहार करते हुए देखा कि मिथ्यात्वके पास भी अभंग रूपसे बहुतसे प्रहरण हैं, तब तत्त्व-महारुचि रूप आयुधसे वक्षस्थलमें प्रहार करके उसे रंगभूमिमें धराशायी कर दिया ॥४०॥

इस प्रकार जब मिथ्यात्व शत्रु रणमें गिरा दिया गया तब इन्द्र बोला, देखिये ब्रह्माजी ! मकरध्वजके सैन्यको सम्यक्त्वने पेल डाला ॥४१॥

उस समय जिनवरकी सेनामें हर्ष-ध्वनि उठ खड़ी हुई । जय ! जय ! शब्द सुनाई दिये और गम्भीर तूर्य वजने लगे । जब स्मर (कामदेव) ने देखा कि सम्यक्त्व वीर द्वारा अपने सैन्यका वध हो रहा है, तब उसने अपने महाभट मोहसे पूछा कि मेरी सेना क्यों भग्न हो गई है ? तब मोहने कहा कि तुम्हारी सेनाके अग्रिम स्कन्धको गिरा दिया गया है, और इसीसे शत्रु बल गरज रहा है ॥४२॥

जब मोहने मदनसे यह बात कही, तब उसी समय नरक गति धात देकर गेने लगी । हाय ! मिथ्यात्वने यह क्या मूढ़ता की ? हाय मिथ्यात्व ! तुम्हारा यह क्या हुआ ? ते प्रभु, आपके बिना मेरा घर सूना हो गया । हाय ! हाय ! मेरा तारुण्य भी निष्फल गया । हाय !

४० १. क संखा १६. ख पंमुह १७. क ख चरर १८. क मत्त ।

४१ १. ख पेत्तिउ २. ख मयरद्धयउ ।

४२ १. ख जिणवर २. क तंलम; ग तंलर ३. ख पेत्तेविणु ४. ख जिणवर ५. क म मय मय

६. ख अग्गिमिखंधु ८. क परिदणु ।

४३ १. क मोहिं २. क ख परयगाए ३. ख मोहिं; ग मोहिउ ४. क वहु ।

हा विणट्टु पासंड सहासइं । हा पंच वि दंसणइं हयासइं ॥
 हा हा दंसण तुहुं दयवंतउ । णाहु ण रक्खिउ रणि पहरंतउ ॥ ५
 वारिय मोहें ताम तुरंती । णिसुणहिं वत्त थक्कं चिलवंती ॥
 म्हारी कि ण सत्ति परियाणहि । अम्हइं मारियाइं वहु जाणहि ॥
 तुव पहु दंसणघाइं पणट्टुउ । अच्छइ कुच्छिय-पहहिं पट्टुउ ॥
 जीवमाणु आयणिवि सुंदरि । गय विसण्णमण थक्किय णियवरि ॥
 इत्तहि मोहु णरिंदु पधायउ । जलि थलि महियलि कहमि ण मायउ ॥ १०
 णियवल्लु धीरवंतु गउ तेत्तहि । अच्छइ णाणु सुंदसणु जेत्तहि ॥

घत्ता—पणविवि मयरद्धउ अमरिसं कुद्धउ णं गउ स्तीहि समावडिउ ।
 तइल्लोयहं सल्लउ मोहु महल्लउ केवल्लणाणिहि अत्तिमडिउ ॥४३॥

दुवई—पंच महव्वयाइं पंचिदिय पडिभड-हणण-मल्लया ।
 अट्ट-रउद् भिडिय सुहमाणे^१ जोयहुं तिण्णि सल्लया ॥४४॥

वस्तु—सत्त तत्तहं भिडिय भय सत्त
 आयारहं पंचहं वि तह व पंच आसव महावल ।
 पुणु वसण धम्मिण खलिय दोस अट्टुदस गुणहिं^२ परवल ।
 सोल कसाय^३ महातवहं दंडत्तय सुंडाहं^४ ।
 तह^५ अवंभ णव णवचिहि वि वंभह उदंडाहं ॥४५॥

तुम्हारे बिना पाखण्ड महाशय विनष्ट हो गये और पाँचों ही दर्शन हताश हो गये । हाय ! हाय !
 सम्यग्दर्शन ! तुम तो दयावन्त हो ! तुमने प्रहार करते हुए रणमें मेरे नाथकी रक्षा नहीं की ?
 नरक गतिको इस प्रकार विलाप करते हुए देखकर मोहने तुरन्त उसे रोका और कहा—विलाप
 छोड़ और मेरी बात सुन ! क्या तू हमारी शक्तिको नहीं जानती ? हमने बहुत जनोंको मार
 गिराया है । तेरा पति सम्यग्दर्शनके आघातसे यहाँसे प्रणष्ट होकर कुत्सित पथों (कुपन्थों) में
 प्रविष्ट होकर रह रहा है । पतिको जीता हुआ सुनकर वह सुन्दरी विपादयुक्त मनसे जाकर अपने
 घरमें रहने लगी । यहाँ वह मोह नरेन्द्र ऐसा दौड़ा कि वह जलमें, थलमें, व भूतलपर कहीं भी
 न माया । अपने बलको धैर्य वँधाते हुए वह वहाँ पहुँचा जहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान थे । वह
 मकरध्वजको प्रणाम करके क्रोधसे ऐसा उद्दीप्त हुआ जैसे गज सिंहसे मिल पड़ा हो । फिर वह
 त्रैलोक्यका शल्य, मोह महल्ल (मल्ल) केवलज्ञानसे जा भिड़ा ॥४३॥

शत्रु भटोंका हनन करनेवाले मल्ल रूप पंचेन्द्रिय पाँच महाव्रतोंसे भिड़ गये । आर्त्त, रौद्र,
 ध्यान, शुभ-ध्यान (अर्थात् धर्म और शुक्ल ध्यान) से तथा तीनों शल्य योगसे ॥४४॥

सात भय सात तत्त्वोंसे भिड़ गये । महाबलवान पाँच आस्रव पाँचों आचारोंसे, फिर
 व्यसन धर्मसे, प्रबल अठारह दोष गुणोंसे, सोलह कपाय महातपोंसे, तीन दण्ड मुण्डोंसे और उसी
 प्रकार नौ अब्रह्म (अब्रह्मचर्य) नौ प्रकारके उद्दण्ड ब्रह्मचर्यसे ॥४५॥

४३ ५. क णिसुणिय ६. क ग थक्कु ७. ख ग घाय ८. ख ग पहिहि ९. ख अमरसि ।

४४ १. क ग सरझाणें ।

४५ १. क ग गुणहि २. क कसाइ ३. क सुंडाहं ४. ख दह; ग तह वंभ ।

राय-रोस खमदमहं महाभड ।	आसव बंध गुणहं दह लंपड ॥
चारित्तहं तह भिडिय असंजम ।	णिज्जर-गुणहं कम्म कयघणतम ॥
गारव तिण्णि भिडिय सिवपंधहं ।	अणय पधाइय णयहं पयत्थहं ॥
अण्णु वि जे जसु समुहु पइट्ठा ।	ते तसु सयलु वि रणि आभिट्ठा ॥
तहिं अवसरि पुच्छिउ आणंदे ।	सिद्धिरूउ सरवदउ जिणंदे ॥
अमहहं वलु कारणे कि णट्टउ ।	मयरद्धय-सेण्णहो संतट्टउ ॥
उवसम-सेट्ठिय-भूमिहि लग्गउ ।	ते कज्जेण जिणेसर भग्गउ ॥
एवहिं खाइय-भूमि चडावहि ।	परवलु उच्छरंतु विहडावहि ॥
तो परणइ-सहाव-संगूढउ ।	खवगसेट्ठि जिणवलु आरूढउ ॥

५

घत्ता—रहवर-संघट्टंहि हयवरथट्टंहि गुलगुलंत-मयगल-घडंहि ।
चिंधइं फरहरियइं सम्मुहसरियइं दाविय घाय महाभडंहि ॥४६॥

१०

दुवई—जिणवर-सेण्णु णिपवि^१ धावंतउ मोहणरिंदु^२ कोविओ ।
सम्मुहु वहु पया वि चल्लेविणु पुणु तमु खंभु रोविओ^३ ॥४७॥

वस्तु—अरे रे केवलणाण धावेहि
जिम फुसिय महु लीहयइं^१ वलि रे वलि रे सम्मुहु म थक्कहि ।
गलगज्जि^२ मा एम^३ तुहु जाहि जाहि दूरेण सक्कहि ॥

महाभट राग और द्वेष क्षमा और दमनसे । दस लम्पट आलव और बन्ध गुणोंसे । असंयम चारित्रसे भिड़े । सघन अन्धकार उत्पन्न करनेवाले कर्म निर्जरा गुणसे भिड़ गये । तीन गारव शिव पन्थसे भिड़ गये, और अनय प्रशस्त नयोंपर दौड़ पड़े । अन्य सुभट भी जिसके सम्मुख पड़े वे सब उनसे रणमें आ भिड़े । उस अवसरपर जिनेन्द्रने आनन्दपूर्वक सिद्धि रूप स्वर्ग-दय ज्ञानीसे पूछा कि हमारा बल किस कारणसे नष्ट हुआ और मकरध्वजके सैन्यसे संव्रम्न हुआ ? तब उस ज्ञानीने बताया कि हे जिनेश्वर ! तुम्हारा बल उपशम श्रेणीकी भूमिपर जा लगा था । इस कारण वह भग्न हुआ । अब उसे क्षायिक भूमिपर चढ़ाइये, जिससे वह आगे बढ़ता हुआ मनु-बलको विघटित कर सके । तब परिणति स्वभावसे संगूड़ वह जिनबल क्षयक श्रेणीपर आगद हुआ । फिर श्रेष्ठ रथोंके संघट्टोंने, उत्तम घोड़ोंके समूहोंने, गुलगुलाते हुए हाथियोंके समूहोंने एवं महाभयोंने ध्वजाएँ उड़ाते हुए सम्मुख बढ़कर अपने-अपने घात दिखलाए ॥४६॥

इस प्रकार जिनवरकी सेनाको आक्रमण करते हुए देखकर मोह मग्न कृपित हुआ । उसने कुछ पद सम्मुख चलकर फिर तम (अज्ञान) रूप खन्भ रोसा ॥४७॥

वह बोला अरे रे केवलज्ञान ! भाग जा ! जैसा तू मेरी मारकी रणमें आ गया है (स्पृष्ट हुआ है) अतएव तू लौट ! मेरे सम्मुख मत खड़ा रह । इस प्रकार गात मत बका ।

४७ १. क न^१ सिण्णु णिपवि २. क मोह परिणतः न मोह परिणु ३. ख तम संघु सविदो ।

४८ १. क मूलोत्तम २. ख गलगज्जि ३. क पन्थः न एव ।

तं आयण्णिवि^४ केवलण बुल्लिय बुल्लि^५ सुत्तिक्ख ।
 पभण्णिउ अरे अरे मोह तउ^६ इव्वहि लाइमि^७ सिक्ख ॥४८॥
 आसा-धणहरु लट्ठि^८ लपप्पिणु । गारव तिण्णि कंड कड्डे^९ प्पिणु ॥
 थरहरंत चाणावलि पेसिय । रयणत्तयसरंहि चिद्ध^{१०} सिय ॥
 करिवि समाहिटाउं करि णाणं । विद्भु मोहु उरि^{११} उवसम-वाणं ॥
 थक्कु मुहुत्तु पक्कु^{१२} विहलंघलु । छंडिवि मुच्छ^{१३} मुणेविणु णियवलु ॥
 पणर पमाय महासर मेल्लिय । छुच्चासय^{१४} किरियहि पडिपेत्तिय ॥ ५
 णाणं णिम्ममत्तु सरु संधिवि । मोडिय चावलट्ठि खणि विधिवि^{१५} ॥
 मोहि^{१६} मयवारण पडिपेत्तिय । गुलगुलंत सम्मुहु उच्छल्लिय ॥
 करि समाहि^{१७} पुणु आसा तज्जइ । असिवर-घायहि अणुदिणु भंजइ ॥
 णियमयभरिण^{१८} ण काइ मि दिक्खइ । अप्पा परसंतउ उवलक्खइ ॥

घत्ता—द्विखिवि णिव्वेयइं असरिसतेयइं णियमयगलघड चोइय^१ । १०

पिल्लिप्पिणु दंतिहि^२ सोणिमिसंतिहि^३ उवसमखग्गं घाइय ॥४९॥

दुवई—उवसम-खग्ग-घाय-दोहाविय मयगलघड पणट्टिया ।

हुव सयखंड खंड विवरम्मुहु णिव्वेयहु सुतट्टिया ॥५०॥

जा ! जा ! दूर हट जा ! मोहके ये वचन सुनकर केवलज्ञानने सुतीक्ष्ण बोल बोले । उसने कहा,
 अरे अरे, मोह ! तुझे मैं अभी सिखलाता हूँ ॥४८॥

तब मोहने लोभ (आशा) रूप धनुष यष्टिको लेकर, तीन गारव रूप वाणोंको काड़कर
 थराती हुई चाणावली प्रेषित की । किन्तु उसे ज्ञानने रत्नत्रय रूप वाणोंसे विध्वस्त कर दिया ।
 फिर ज्ञानने समाधिस्थानको हाथी बनाकर उपशम वाणसे मोहके उरस्थलको वेध दिया । मोह एक
 मुहूर्त्तमात्र विहल खड़ा रहा । फिर मूर्च्छाको छोड़ और अपने बलको जानकर उसने पन्द्रह प्रमाद
 रूप महावाण छोड़े । किन्तु ज्ञानने पड़ आवश्यक क्रियाओं द्वारा उनको पीछे ढकेल दिया ।
 फिर ज्ञानने निर्ममत्व वाणको साधा और उससे वेधकर एक क्षणमें मोहकी चापयष्टिको मोड़
 दिया । तब मोहने मद (रूप) हाथियोंको आगे पेशा । वे गुलगुलाते हुए सम्मुख उछले । तब
 समाधि रूपी हाथीने आशाका तर्जन क्रिया और वह मोह तीक्ष्ण तलवारके घातोंसे प्रतिदिन भग्न
 होने लगा । अपने मदके भारसे मोह कुछ भी नहीं देखता था । वह केवल स्वयं अपने शत्रुको
 लक्ष्य करता था । ऐसी दशा देख कर अमाधारण तेजवाले निर्वेदमें अपने हाथियोंके व्यूहको
 प्रेरित किया और उन्हें मोहके श्रोणिभागसे मिसमिसाते हुए हाथियोंके बीच पेलकर उनका उपशम
 खड्गसे घात कर डाला ॥४९॥

उस उपशम खड्गके आघातसे कट कर वह मद रूप हाथियोंका व्यूह प्रणष्ट हो गया ।
 वे निर्वेदसे अति त्रस्त होकर सौ-सौ टुकड़ियोंमें पराङ्मुख हुए ॥५०॥

४८ ४. क आइण्णवि ५. क बुल्लु; ख बोल्लु ६. क तूं ७. ख लाइम; ग लायमि ।

४९ १. ख लुट्ठि २ क रिउ ३. क इक्क; ख पेकु ४. ख छावासय ५. ख मोडिय चाव लट्ठि खणे वंधिवि ।
 लगउ सम्मुहु सरु आसंविधि । ६. क ग मोहिय ७. ग कारि समहि ८. क मइभरिण ९. ख बोल्लिय
 १०. क ग दंतहि ११. ख सोणिमिसंतहि ।

५० १. क ग णिव्वेएहु ।

जिणसेणु चलवलिउ । पयडीहिं खलभलिउ ॥
कह कहव रसमसइ । भयवेचिरं तसइ ॥

१५

घत्ता—केवल-अहिणाण^१ जिणवर-वाणइं पंच लेवि दिव्वाउहइं ।
जे णियचारित्तइं हय परचित्तइं मोहहु मित्तिय सम्मुहइं ॥५२॥

दुवई—ता तं पयडिंविदु चूरेण्णिणु मोहहु लग्गु उरयले ।
सुरणरजणहं समरि^१ जोचंतहं पाडिउ धरणिमंडले ॥५३॥

वस्तु—लहइ चेषण मोहु खणि जाम
अणयारु करयलि करिवि असिचरेण आहउ फुरंतिण ।
अणुकंप^१-वसुणंदणइं पडिखलेइ^२ णाणिं तुरंतिण ॥
णिम्ममत्तु मुग्गरु करिवि भामिउ गयणि फुरंतु ।
दिण्णु घाउ सिरि^३ जज्जरिउ पाडिउ विरसु रसंतु ॥५४॥

वहुघायहिं भंजिउ णासमाणु । गउ मोहु^१ महावलु खीयमाणु ॥
तं पिच्छिवि वंदिणु गयउ तित्थु । अच्छइ जुज्जणमणु कामु जित्थु ॥
तं भणिउ देव^३ तइलोय-गोहु । गउ घायहिं^५ भज्जिवि^६ सो जु^६ मोहु ॥

तव उन प्रकृतियोंके कारण जिनेन्द्रका सैन्य चलायमान हुआ और उसमें खलवली मच गई । वह नाना प्रकारसे मिसमिसाने लगा, भयसे काँपते हुए त्रस्त होने लगा । तव केवलज्ञानने जिनेन्द्रके निज चारित्र रूप तथा परार्थ-चिंतनका हनन करने वाले दिव्य आयुध पाँच वाणोंको लेकर मोहके सम्मुख छोड़ा ॥५२॥

उन पंच वाणों द्वारा प्रकृतिसमूहको चूर्ण करके ज्ञान मोहके उरस्थलमें प्रहार करने लगा । इस प्रकार केवलज्ञानने देवों और मनुष्योंके देखते-देखते समरमें मोहको धरातलपर गिरा दिया ॥५३॥

किन्तु एक क्षणमें ज्योंही मोहको चेतना मिली, त्योंही उसने अनाचारको हाथमें लेकर स्फुरायमान उत्तम खड्गका आघात किया । उसका ज्ञानने तुरन्त ही अनुकम्पा वसुनन्दक लेकर प्रतिस्खलन किया । फिर निर्ममत्वरूप मुद्गर लेकर उसे आकाशमें चमकाते हुए घुमाया और सिरपर आघात किया, जिससे मोह जर्जरित हो उठा और वह चीत्कार करता हुआ गिर पड़ा ॥५४॥

अनेक घातोंसे भग्न होकर, क्षीण और विनष्ट होता हुआ वह महाबलवान् मोह वहाँसे चला गया । उसे देखकर वन्दी वहाँ गया जहाँ युद्धकी कामना करता हुआ काम विद्यमान था । उसने कामसे कहा—हे देव, वह त्रैलोक्य-प्रसिद्ध योद्धा मोह अपने शत्रुके आघातोंसे भग्न होकर

५१ १२. क ग अहिहाणि ।

५३ १. ग सवरि ।

५४ १. ख अणुकंपा २ ख पलिखलेइ ३ क ग सिरु ।

५५ १. ख मोह २. ख जुज्जणु^१ ३. क देवु ४. क घाईहिं; ख घायहं ५. ख भज्जिय ६. ख जि ।



अण्णु वि जिणसेण्हु सयलु भग्गु । सामंतभइण णासणह लग्गु ॥
जाणंतु वि अहिमुहि हत्थु छुहहि । लइ णासु देव^१ चारहडि मुवहि ॥ ५
तं वयणुं सुणेप्पिणुं रइय वुत्तु । इहु वंदिणु बोत्तइ देव जुत्तु ॥
जिम^२ खट्ट बुणिज्जइ^३ एकु अंगु । इयरु वि हवेइ सयमेव चंगु ॥
छुडु भंजिउ भडु ता छंडि गाहु । मणसिय णासंतह^४ अत्थि लाहु ॥
लहु घरिणि भणइ पेच्छुहि वराइ^५ । जिणु पत्तु^६ ण छुट्टइ अज्ज माइ ॥
हो मयण चणय जिम^७ कसमसंति । तिम खाहि म एवहिं मरहि^८ भत्ति ॥
जिम तासिय केसव वंभ^९ ईस । तिम जिणहु ण आवइ जिणु रईस ॥ १०
भज्जेसहि जिणह हो णाह पहरि । दु वलीयहु तमु वीसमइ अहरि ॥
तुहुं वालहं^{१०} लग्गेवि खडफडेहि । जइ भिडहि जिणहु णिच्छइ पडेहि ॥

घत्ता—अम्हहं रंडत्तणु जिण-सुहडत्तणु तुज्ज मरणु विक्खायउ ।
जउ^{१८} दंसणणाणहं भुवणि पहाणहं^{१९} अज्जु देव संजायउ ॥५५॥ १५

दुवई—ता मयणेण वुत्तु किं ण मुणहु हरि हर^१ जित्त दुद्धरे ।
एवहि तिक्ख पंचवाणावलि लायमि जिणहो संगरे ॥५६॥

भाग गया । और भी आपका समस्त सैन्य जिनेन्द्रकी सेनाके सामन्तके भयसे भागने लगा है । आप जानते हुए भी सर्पके मुखमें हाथ डाल रहे हैं । हे देव ! अपनी शूरवीरताको छोड़िये और शीघ्र यहाँसे भागिये । बन्दीके ये वचन सुनकर रति बोली—हे देव ! यह बन्दी बहुत उपयुक्त बात बोल रहा है । जिस प्रकार खाटका जब एक अङ्ग बुना जाता है, तब दूसरा अंग भी स्वयमेव सुधरता जाता है । जब आपका भट भग्न हो गया, तब आप भी अपने आपको छोड़िये । हे मनसिज ! भाग जानेमें ही लाभ है । कामदेवकी लघु गृहिणी (प्रीति) भी बोली—हे नाथ ! अपनी भलाइयोंकी ओर देखिये । जिनेन्द्र आ पहुँचा है; हे माता ! वह आज किसीको नहीं छोड़ेगा । हे मदन ! जो चने (लोहेके) कसमसाते हैं, उन्हें मत खाइये; जबकि उनके खानेमें भट मौत आती है । आपने जिस प्रकार केशव, ब्रह्मा और महेशको व्रत कर टाला था उस प्रकार, हे रतीश ! जिनेन्द्र जीतनेमें नहीं आयेगा । हे नाथ ! एक प्रहारमें ही आप जिनेन्द्रसे भग्न हो जायेंगे । बलवान् (सूर्य)से छिपकर ही अन्धकार विश्राम पाता है । आप काल (मदनोन्मत्त नाग)में लगनेके लिए छुटपटा रहे हैं । यदि आप जिनेन्द्रसे भिड़े तो निश्चय ही पट जायेंगे । हे देव ! यदि भुवनमें प्रधान दर्शन और ज्ञानकी आज जीत हो गई तो हमारा गर्व (वैधव्य), जिनेन्द्रका सुभटत्व और आपका मरण विख्यात हो जायगा ॥५५॥

(रति और प्रीतिके ऐसे वचन सुनकर) मदन बोला—क्या तुम नहीं जानती कि मैं हरि और हर जैसे दुर्द्धर योद्धाओंको भी जीत चुका हूँ ? उसी प्रकार अब मैं संग्राममें अपनी तीक्ष्ण पंचवाणावलि जिनेन्द्रपर चलाता हूँ ॥५६॥

५५ ७. क देव ८. क न सुणेप्पिणुं ९. क जिम; न जिम्ब १०. क वणिज्जइ ११. क चणयिण १२. क म वराय १३. क जिण पत्तु; ख जिण पत्त १४. न जिम्ब १५. क हरिण १६. क म जिम्ब १७. क वरु न वरु १८. ख वत्त १८. क जो १९. ख दंसणणावलि भुवण पहाणति ।
५६ १. क हर ।

वस्तु—मयणु मोहणु तह य वसियरणु

उस्मायउ थंभणु वि कुसुमवाण संधिवि सरासणि ।

इय भणिवि मयगल चडिवि धावमाणु पत्तउ रणंगणि ॥

तुरय तुरय^३ जिणवर चलहि अज्जु पयासहि थामु^४ ।

पच्छइ परिणहि^५ सिद्धि तिय पढमु देहि संगामु ॥५७॥

तेण उर घणविसयपडिवक्खसिल्लेण ।

भवजणिय^२-मयपडल-पडिवहणपूरेण ।

पयडंत-सिवमग्ग-तिरियण^३-करंडेण ।

देविद-परिघुलिय-मणिमउडचरणेण ।

चय^५-णिवह-भरमार-णिववह-पयंडेण ।

भव्वयणमुह^६-कुमुय-पडिवोह-चंदेण ।

रे मयण पाविट्टु जा जाहि ओसरहि ।

ता भक्ति कोवग्गिजाला-पलित्तेण ।

मयवंत^१-गुणणिलय-जिण-इकमल्लेण ॥

जण-जणिय-भवसत्ति-तिमिरेकसूरेण ॥

संसारजलचलिय^४-सायर-तरंडेण ॥

गुरुणरय-णिवडंत^५-जीवउल-धरणेण ॥

दुकम्म-दुट्टुगिरिकुलिस-दंडेण ॥ ५

हकारिओ कामराओ जिणिदेण ॥

अच्छेहि जुवईहि मज्झम्मि मा मरहि ॥

जियसंभु^७-हरि-चंभ-भडवाय^८-चित्तेण ॥

इतना कहकर कामदेवने मदन, मोहन तथा वशीकरण, उन्मादन और स्तम्भन इन पाँच पुष्पवाणोंको अपने धनुषपर संधाना और मदनोन्मत्त हाथीपर चढ़कर दौड़ता हुआ रणांगणमें पहुँचा । फिर पुकार कर बोला रे जिनवर ! तुरन्त जल्दी चल । आज अपना पराक्रम प्रकाशित कर । सिद्धि स्त्रीका पीछे परिणयन करना । पहले मुझे संग्राम दे ॥५७॥

तव जिनेन्द्रने भी कामराजको हकारा । वे जिनेन्द्र तीव्र विषयोंको चूर करनेके लिए शिलाके समान थे । वे ज्ञानवान् व गुणनिधान ऐसे एक मल्ल थे जो अभिमान रूप मदनोन्मत्त हाथियोंको शृंखलाओंसे बाँधकर जीतनेमें समर्थ थे । वे संसार परिभ्रमणसे उत्पन्न मदरूप मृत्तिका-पटल (धूलि-पटल) को धोकर बहा डालनेके लिए जलके पूरके समान थे । जन्म-जन्ममें उत्पन्न भव-शक्ति दर्शनावरणी ज्ञानावरणी कर्म रूपी अन्धकार (अज्ञान)को विनष्ट करनेके लिए एक अद्वितीय सूर्य थे । शिव-मार्गको प्रकट करनेवाले रत्नत्रयकी पिटारी थे । वे संसाररूपी क्षुब्ध जल-वाले सागरको तरनेके लिए नौकाके समान थे । उनके चरणोंमें देवेन्द्रके मणिमुकुट भी घिसटते थे । वे घोर नरकोंमें पड़ते हुए जीव-समूहका उद्धार करने वाले थे । व्रतोंके समूहके महान् भारको निवाहनेमें प्रचण्ड थे । दुःखदायी दुष्ट अष्ट कर्मों रूप पर्वतको विध्वंस करनेके लिए वज्रदण्ड थे । तथा भव्य जनोके मुख रूपी कुमुदोंको प्रफुल्लित करनेके लिए चन्द्रके समान थे । ऐसे जिनेन्द्रने कामराजको हकारा । रे मदन, पापिष्ठ ! जा ! चला जा ! दूर हट ! युवतियोंके साथ रह ! वीचमें ही मत मर : (जिनेन्द्रके ऐसे वचन सुनकर) जो कामदेव शम्भु , हरि और ब्रह्मा-

५७ १. क भणवि; ख भणेवि २. क धावमाण; ख धाउमाण; ३. ख ग उरइ उरइ ४. ख थाउ ५. ख परणहि ।

५८ १. क मयवंतु २. क गं जिणियं ३. खं तिरियणं ४. क खं चरियं ५. खं णिवडंति ६. ख चयं ७. क ख गं मुहुं ८. ख जे संभु ९. क भडवाइ ।

घत्ता—जिण-सम्मूहु मुक्कउ भोर्य^१-गुरुक्कउ वाणजालु जिण-भरसियहु^{११} ।
तहु थाणु ण पावइ अण्णहि धावइ पुडइणि^{१२} विंदु व सरत्तियहु ॥५८॥

१०

दुवई—णहयलि सुरसमूहु पच्छायउ णर भुवणम्मि भंपिया^१ ।
पायालम्मि असुरणायाहिव मयणसरहि^२ कंपिया^३ ॥५९॥

वस्तु—ताम कामिण समरि^१ कुद्धेण
पच्चारिउ जिणु धवलु^२ जेम दूय हय गलि धरेविणु ।
परिणेसहि^३ सिद्धि तिय जेम भट्टु घल्लिउ लुणेविणु^४ ॥
जिम आयउ^५ उप्परि चडिवि तेम^६ पयासहि थामु ।
तिहुयणमल्लु^७ भणेवि महु किं ण वियाणहि णामु ॥६०॥

वस्तु—लच्छिवल्लहु गयउ^१ जलमज्झि
पइसेविणु^२ महु भइण^३ गयउ गंग लंघेवि^४ संकरु ।
हउं थेरु वंभणु भणइ मेरुअहि थक्कइ दिवायरु ॥
सुरवइ सग्गह मग्गि^५ ठिउ महु भयभीयउ^६ तट्टु ।
महि फाडिवि धरणिंदु गउ^७ अम्हहं कवणु गरिट्ठु ॥६१॥

को जीत लेनेके कारण अपने मनमें वीरताका गर्व रखता था, उसने कोपाग्निकी ज्वालासे प्रदीप्त होकर रोष पूर्वक तुरन्त ही जिनेन्द्रके सम्मुख भारी चोट करनेवाला अपना वाणजाल छोड़ा । किन्तु वे वाण अपने उद्दिष्ट स्थानको न पाकर अन्य ओर ही दौड़ पड़े, जिस प्रकार पुरैणके पत्तेपर जल-विन्दु स्थिर नहीं होता ॥५८॥

नभस्तलमें देवोंका समूह छा गया । भुवनपर मनुष्य आच्छादित हो गये और पानालमें असुरेन्द्र और नागेन्द्र कामदेवके उन वाणोंसे काँप उठे ॥५९॥

तब कामदेवने समरमें क्रुद्ध होकर धुरन्धर जिनेन्द्रको फटकारा । जिस प्रकार तूने मेरे दूतोंको गला पकड़कर निकाल दिया और सिद्धि महिलाके परिणयनका विचार ठाना, जिस प्रकार मेरे सुभट (वन्दी) को मूड़कर फँका और जिस प्रकार मेरे ऊपर चढ़कर आया; उन्ही प्रकार अब अपना पराक्रम दिखला । क्या तू मेरा त्रिभुवन-मल्ल कहे जानेवाला नाम नहीं जानता ॥६०॥

मेरे भयसे लक्ष्मीवल्लभ (नारायण-हरि) ने जलके बीच प्रवेग कर लिया, शबर महाका लौंघकर भाग निकला । ब्रह्मा कहने लगा—मैं तो बुढ़ा हूँ, दिवाकर मेरु पर्वतपर जा गया । उन्ही प्रकार मुझसे भयभीत और त्रस्त होकर सुरपति स्वर्गके मार्गमें जा खड़ा हुआ; और परमेन्द्र पृथ्वीको फाड़कर उसमें घुस गया । मेरे सामने कौन बलवान् है ? ॥६१॥

५८ १०. क भोर्य ११. क ग अमरिसह ख अमरिसह १२. ख पुडय १

५९ १. ख कंपियं २. प्रतिपु 'उपस' ३. ख वंदिं १

६० १. क समर २. क ग जिणधवहु ३. क परिणसह ४. क पुणेदिणु ५. क वणो ६. क मयण ७. ख त्तिमणि मल्लु १

६१ १. क गयो २. क पयसेविण ३. क ग भयण ४. क ग गयेह ५. ख नम्मियिण ६. ग भयभीयउ ७. क गयो ८. क महु महो गंकोवस्सु; ग महु महु गंकोवस्सु १

वस्तु—लद्धि-धणहरु^१-लट्टि करि गहिवि^२
 छुज्जीव-समिइय-गुणिण सीलवाणजालेहि तासिवि ।
 मयरद्धं^३ पेसियउ^४ वाणजालु सयखंडु^५ णासिवि ॥
 पुणु बुल्लायउ जिणवरिण अरि सरवाहरउदु ।
 जिणचक्खिहि पडि मरहि^६ जह तिल्लियहं^६ वल्लद्द ॥६२॥

वस्तु—तुज्झ चंडिम उवरि थेराहं
 गोवालहं गोवद्धिं अमह रोसु^१ इक्कु ण मुरुक्कइ ।
 वामेण चलणेण तहु^२ फुसमि लीह जो तुज्झु संकइ ॥
 हिंडाविउ^३ इयरहं रणिण संजायउ अपमाणु ।
 भंपइ ता भुवणयलु^४ तमु जाम^५ ण दिक्खइ भाणु ॥६३॥

वस्तु—चउकसायहं पयहं चल्लंतु^१
 उदंड-संसारकरु^२ रायरोस-चिप्पुरिय-दंतउ ।
 दोआसावंध-सुइ अट्टरुद्ध-लोयण-णियंतउ ॥
 घडहडंतु दुण्णयरविण^३ मयभिंभल्लिउ मएण ।
 मणकरिं^४ जिणवर-संमुहउ चोयउ मयरद्धेण ॥६४॥

तव जिनेन्द्रने लब्धिरूपी धनुर्यष्टि हाथमें लेकर, षट्काय जीवोंकी रक्षा रूप समिति-गुणके द्वारा शील रूपी बाण-जालसे उसे त्रस्त करके मकरध्वज द्वारा प्रेषित वाण-जालको सौ टुकड़े रूपसे नष्ट करके फिर जिनवरने अपने रौद्र वाणवर्षा वैरीको पुकारकर कहा—तू जिनेन्द्रकी चक्कीके चक्रमें पड़कर उसी प्रकार मरेगा जैसे तेलीका वैल ॥६२॥

तेरी प्रचण्डता थेरों (वृद्ध ब्रह्मा), गोपालों (नारायण) और गोपति (पशुपति शिव) के उपर ही चल सकती है । हमारा तुम्हसे एक रोम भी नहीं मुरक (मुड़) सकता । उसकी रेखाको मैं बायें पैरसे छूता हूँ (उसके रूपको बायें पैरसे लात मारता हूँ) जो तुम्हसे शङ्कित होता है । इतर (तुच्छ) योद्धाओंसे रण करके तू भ्रान्त हुआ है और अपनेको सीमासे अधिक बड़ा समझने लगा है । (किन्तु याद रख !) अन्धकार तभी तक भुवनतलको झाँपकर रख पाता है जबतक भानु दिखाई नहीं देता ॥६३॥

(जिनेन्द्रके उक्त वचनोंसे उत्तेजित होकर) मकरध्वजने जिनेन्द्रके सम्मुख मनरूपी हस्ती-को प्रेरित किया । वह (हस्ती) चार कषाय रूप पैरोंसे चल रहा था, उसके संसार रूप उद्वृण्ड सूँड थी, राग और द्वेष रूपी उसके दो दाँत विस्फुरायमान थे । आशावन्ध रूपी दो कान थे, वह आर्त और रौद्र ध्यान रूपी लोचनोंसे देखकर चलता था और दुर्नयकी ध्वनिसे घड़घड़ाता एवं मदके उन्मादसे विह्वल था ॥६४॥

६२ १. ग धणहरु २. क कर गहवि ३. क पेसिय ४. ख खंड ५. ख जिण चल्लहि पडिमामरहि
 ६. ख जिह तिल्लिहं ।

६३ १. ख ग रोम २. क ग तुहुं ३. क ग हिंडाविहु ४. क भुवणयल ५. क ग जाम्व ।

६४ १. ख कसायहं चल्लंतु २. क ग उदंड संसार करु; ख उदंडु संसार करु ३. क राइ ४. क दुण्णय रविणु; ख दुण्णय रविण ५. ख भिंभल्लिउ मयणमि करि ।

वस्तु—ता जिणिदिण लेइ समभाउ

दिढ मुगगरु करि^१ धरिउ मणगइंदु चूरेवि घल्लिउ ।

दिक्खिअरि अरि करि हयउ ता दवत्ति^२ रइच्चित्तु सल्लिउ ॥

पभणिउ करुणु^३ रुवंतियहु अज्ज वि लहु णासेहि ।

जीवसेसु^४ मयणुद्धरिउ वलु भज्जंतु णिपहि^५ ॥६५॥

जिम जिम सिय-भेरीरव गज्जहिं ।

तिम तिम पंच कुदंसण भज्जहिं ॥

जिम जिम पंच महव्वय^१ दुक्कहिं ।

तिम तिम पंचिंदिय मणि संकहिं ॥

जिम जिम धम्मणिवह संचल्लहिं ।

तिम तिम कम्मणिवह मणि सल्लहिं ॥

जिम जिम सत्त तत्त चम्मक्कहिं ।

तिम तिम सत्त महाभय संकहिं^३ ॥

जिम जिम पायच्छित्त पयट्टहिं^४ ।

तिम तिम सल्लत्तय ओहट्टहिं ॥ ५

जिम जिम चारित्तोहु पयासइ ।

तिम तिम दिढ पमायवलु णासइ ॥

जिम जिम पंचायार फुडक्कहिं ।

तिम तिम आसवदार दडक्कहिं ॥

जिम जिम संजमु सम्मुहु धावइ ।

तिम तिम पाउ ण अप्पउ दावइ ॥

जिम जिम धम्म सुक्कु^५ परिसक्कहिं ।

तिम तिम अट्टरउइ धसक्कहिं ॥

अवल्लोइवि णियवलु भज्जंती ।

संथवेइ पिय वलुणु रुवंती ॥ १०

घत्ता—इत्तहिं आवेप्पिणु अवहिणि खयगुणु^६ तेर्यसमाणु जिणेसरु ।

सामिय^७ आसण्णउ लग्गु^८ पवण्णउ लहु हणेहि संधिय सरु ॥६६॥

तव जिनेन्द्रने समभाव रूप दृढ़ मुद्गरको हाथमें लेकर उस मनगजेन्द्रको चूर-चूर कर डाला । तव अरिके द्वारा हाथीका घात हुआ देखकर तुरन्त रतिके चित्तमें शल्य सा लगा । उसने करुणतासे रोते हुए कहा—हे मदन ! अभी भी शीघ्र भागिये ! देखिये तो अपने भागते हुए बलको, जिसमें अब केवल आपका जीवमात्र शेष रह गया है ॥६५॥

जैसे-जैसे स्याद्वाद भेरीकी ध्वनि गर्जती, तैसे-तैसे पाँच कुद्दर्शन भग्न होने लगे । जैसे-जैसे पाँच महाव्रत आये, तैसे-तैसे पञ्चेन्द्रिय मनमें शक्ति हुई । जैसे-जैसे धर्मोंके नमूदा चरे, तैसे-तैसे कर्मोंके समूहोंके मनमें शूल उठा । ज्यों-ज्यों सात तत्त्व चमके, त्यों-त्यों सत् महाभय शक्ति हुए । ज्यों-ज्यों प्रायश्चित्त प्रवर्तित हुए, त्यों-त्यों शल्यत्रय हटने लगे । जैसे-जैसे चारिकोंका समूह प्रकट हुआ, तैसे-तैसे प्रमादोंका दृढ़ बल नष्ट होने लगा । जैसे-जैसे पाँच आचार परके, तैसे-तैसे आस्रवोंके द्वार दरके । जैसे-जैसे संयम सम्मुख बढ़ा, तैसे-तैसे पाप अपनेको नगी दिखाने लगा (अर्थात् छिपाने लगा) । जैसे-जैसे धर्म और शुक्लध्यान आगे बढ़े, तैसे-तैसे धर्म और गौड ध्यान धसके । अपने बलको इस प्रकार भग्न होते हुए देखकर कामदेवकी शिव पत्नी यमका मदक करती हुई अपने पतिको ढाड़स देने लगी । इतनेमें ही अवधिने ध्यायिकरण नेज्या जिनेन्द्रकी खबर दी—हे स्वामी ! लनका समय समीप आ गया है । अब शीघ्र ही संन्यास करके मर-दान का हनन कीजिए ॥६६॥

६५ १. ख कर २. क तामवत्ति; ग ता शवत्ति ३. क पभणि करत्ति; ४. रुवंतियउ हयउ म पभणि करत्तु ५. क जीवसेसु ५. ख णिपहि ।

६६ १ क मयणुद्धरि २. क पम्मणिवह मणु ३. ख जिम जिम पंच महव्वय दुक्कहिं ४. ख पयच्छित्त पयट्टहिं ५. ख पाउ जि अप्पउ दावइ ६. ख सुक्कु ७. ख चारित्तो ८. क लहु हणेहि ९. क सामी १०. क ग लख ।

दुवई—केवलणाण-पहरभीणंगउ गिवडउ^१ होइ लक्खए ।
एत्तहि^२ मोहु सरउ समरंगणि^३ दुज्जयभेउ अक्खए^४ ॥६७॥

वस्तु—ताम एत्तहिं जिणवरिंदेण
णिसुणेवि अवहिहिं^१ वयणु कामएउ पभणितु तुरंतितण ।
अरे मयण गलगज्जिएण घरह मज्झि किं तेण खत्तिण ॥
तं णिसुणेवि मयरद्धएण मोहहु उवपसेण ।
ता चावीस परीसहउ भायउ वहुरोसेण ॥६८॥

दे आपसु भणंतिउ आयउ ^१ ।	विज्जउ जलि थलि गयणि ण मायउ ^२ ॥
पेसियाउ मयणं दुव्वारउ ।	धाविउण असिवर-करधारउ ^३ ॥
वहुरूवइं दूसाइं धरंतउ ।	णाणाविह भावइं ^४ तोडंतउ ॥
छुह-तण्हाविसेस-दुव्वासहि ।	भंपिउ जिणु दुहरोयसहासहि ॥
अच्चेलत्तु-महंतु ^५ -मण्हाणाहिं ।	दंसमसय-उवसग्ग-पहाणाहिं ॥
सीय-उण्ह-खरफरुस-वियारहिं ।	अज्जेवण-असयण-मलधारहिं ॥
इय द्विक्खिवि जिणणाहिं आइय ।	णिज्जर भत्ति विज्ज संपाइय ॥
णिज्जर दिक्खेविणु संतट्टउ ।	णिय णिय पाण लएवि पणट्टउ ॥
ता मणपज्जएण विण्णत्तउ ।	देव विवाह-समउ संपत्तउ ॥
भीणंगउ जा मोहु ण णिहणहि ।	ताम ण सिद्धिवरंगण ^६ परिणहि ॥

५

१०

इस समय केवलज्ञानके प्रहारोंसे क्षीणांग मोह व स्मर समरांगणमें लक्ष्यके भीतर आ पड़े हैं । अब आप दुर्जय भेद प्रकट कीजिये अर्थात् अचूक निशाना लगाइये ॥६७॥

तब इतनेमें ही जिनवरेन्द्रने अवधिके वचन सुनकर तुरन्त कामदेवसे कहा—अरे मदन ! जो घरके भीतर मात्र गरजे, उस क्षत्रीसे क्या लाभ ? यह सुनकर मकरध्वजने मोहके उपदेशसे उसी समय बाईस परीषहोंका बड़े रोषके साथ ध्यान किया ॥६८॥

वे विद्याएँ 'आज्ञा दीजिये !' कहती हुई आईं । वे जल, स्थल और आकाशमें आती नहीं थीं । उन दुर्वार विद्याओंको मदनने प्रेषित किया । वे हाथमें तीक्ष्ण खड्ग धारणकर दौड़ पड़ीं । वे बहुतसे रूप धारण करने लगीं, नाना दूषण उत्पन्न करने लगीं । नाना प्रकारसे सद्भावनाओंको तोड़ने लगीं । क्षुधा और तृषा रूपी विशेष दुर्वासनाओंसे एवं सहस्रों दुःखदायी रोगोंसे, महान् अचेलत्व व अस्नान, दंशमशक जैसे प्रधान उपसर्गोंसे, शीत, उष्ण, कर्कश स्पर्श जैसे विकारोंसे, अभोजन, अशयन, मलधारण आदिसे जिनन्द्रको भ्रॉप लिया । उन परीषहोंको इस प्रकार आये हुए देखकर जिननाथने भ्रष्टसे निर्जर विद्या संपादित की । निर्जराको देखकर वे परीषह (कामदेवकी विद्याएँ) संतस्त हो उठीं और अपने-अपने प्राण लेकर भागीं । तत्पश्चात् मनःपर्ययने सूचना की—हे देव ! विवाहको समय आ गया । किन्तु जब तक आप इस क्षीणाङ्ग मोहका पूर्ण रूपसे हनन न कर डालेंगे, तब तक सिद्धि वीराङ्गनाका परिणय नहीं कर सकेंगे । इसके पराजित हो

६७ १. क णियडो; ग णियडउ २. क इत्तहि; ख एत्तहें ३. ख सरहो समरंगणे ४. क ग अक्खए ।

६८ १. ख आवहि; क अइहिहि ।

६९ १. क आयो; ग आइउ २. क मायो ३. क धाविउ णं असिवर धारउ; ग धावियउ णं असिवरधारउ ४. क णाणाविहु भवाइ; ग भवाइ ५. क मंदंतु; ख मंदत्तु ६. क वरगणि ।

एण परज्जिएण^९ ण विसेसइ । मयणु कुमग्गइ लहु पेसेसइ ॥
 तां गिरत्थ देक्खविय जिणिंदे । णासणत्तु किल मुण्डिं जिणिंदे ॥
 घत्ता—तहिं समइ हसेप्पिणु^{१०} जिणु वोल्लिउ पुणु दूव विसज्जिय ति वृल्लिण^{११} ।
 मयरद्धय धावहि काइं विरावहि जुज्झहि जुज्झहि तो^{१२} वल्लिण^{१३} ॥६६॥

दुवई—णियघरिणीहि पुरउ गलगज्जहि सर संधिय सरासणे^१ ।
 पसुवइ-थेर^२ जिणवि भडवाइण जिह धाविउरणंगणे ॥७०॥

वस्तु—भट्ट^१ पेसिवि^२ भणइ जइ^३ सग्गि
 जिणु णासिवि पइसरइ^४ अंकुडेण^५ मारेमि^६ कड्डिवि ।
 पायालि कुदालियइं उवहिमज्झि जलणिवहुं सोसिवि ॥
 तं आयण्णिवि कुसुमसर^७ मोहें पभणिउ एम ।
 असणिविज्ज तिहुवणि वलिय णियमणि भायहि^८ देव ॥७१॥

ता भाइय मयणेण तुरंती । आइय तिहुवणु कवलु करंती ॥
 पिच्छिवि अइसएण^१ चुम्माणउ । पुच्छिउ^२ कि मणासिय तुम्हाणउ ॥
 सरिण बुत्तु परमेसरि^३ पइ विणु । कालु कयंतु व रुद्धउ महु जिणु ॥

जानेपर उसकी कोई विशेषता नहीं रहेगी और उसे मदन शीघ्र ही कुमार्गमें भेज देगा । तब जितेन्द्रिय जिनेन्द्रने अपने उन शत्रुओंको निरर्थक (अर्थात् तुच्छताको प्राप्त) हुए देख उन्हें विनष्ट कर देना ही ठीक समझा । उसी समय हँसते हुए जिनेन्द्र पुनः बोले—तुमने छलसे दूतोंको तो भेजा । अब हे मकरध्वज ! चलो (आगे आओ) देर क्यों करते हो ? तो अब जूझो, एक बलवान्से जूझो ! ॥६६॥

तू अपनी गृहिणियोंके सन्मुख गरजता है, तथा धनुषपर बाण सन्धान करके पशुपति और स्थविरको जीतकर वीरताके मदमेंसे उसी प्रकार अब रणांगणमें दौड़ आया है ॥७०॥

अपने भटोंको भेजकर बातें मारता है कि यदि जिनेन्द्र भागकर रवगमें भी जा घुसेगा, तो वहाँसे भी अंकुशके द्वारा काढ़कर मारूँगा । यदि पातालमें घुस जायगा तो कुदाली से खोदकर निकाल लूँगा । और यदि समुद्रमें जा घुसेगा तो समस्त जलको सोखकर बाहर निकाल कर मार डालूँगा । जिनेन्द्रके इन वचनोंको सुनकर मोहने कामदेवसे इस प्रकार कता—हे देव ! अशनि विद्या त्रिभुवन भरमें बलवान् है; उसीका मनमें ध्यान कीजिये ॥७१॥

तब मदनने तुरन्त उसीका ध्यान किया, और वह त्रिभुवनका कदल करती हुई आरंभ । उसके अतिशयसे भ्रान्त हुए कामदेवसे उसने पूछा—हे मनसिज ! तुम्हारी क्या आज्ञा है ? मदनने उत्तर दिया—हे परमेश्वरी, तुम्हारे बिना यह जिनेन्द्र मेरे ऊपर काल व उसकाजके समान नष्ट है ।

६९ ७. ख परिज्जिएण ८. ख पेसेसइ ९. क मग्गहि १०. ख हसेप्पिणु ११. क ति वृल्लिण १२. क तो १३. वल्लिय ।

७० १. क सरसंपहिं २. क पसुवइ थेर; ख पसुवइ थेरि ।

७१ १. ख भट्टि २. क पेसिवि ३. ख जे ४. क पयसरइ ५. क अंकुडेण ६. ख मारेमि ७. क कुसुमसर ८. क भायहि ।

७२ १. क असणइदि २. ख वलिय ३. ख परमेसर ।

मेरउ माणु दप्पु^४ दारेव्वउ । पइ^५ विणु अज्जु परइं मारेव्वउ ॥
 तिण-तरुवर-धण्णाहि जिम^६ पावसु । तिम तुहु अम्हहं सव्वहं आवसु^७ ॥ ५
 तुह^८ जएण हउं जय जयवंतउ । णं तो णासेसमि भज्जंतउ ॥
 तं णिसुणेवि चयणु जिण^९-सम्महु । धाचिय कोहु करेण्णिणु सम्मुहु ॥
 भक्खाभक्ख वि आकोसंती । सायरि सरि^{१०} जलाइं सोसंती ॥
 दिक्खिवि यंति^{११} जिणिदि दुम्मण^{१२} । आहाकम्म विसज्जिय मगण ॥
 णाणा^{१३} अंतराय अवमोयण । भूवच्छट्टु वि चंदावायण^{१४} ॥ १०
 पयठाण वाणइं णासंती । जिणवि पधाइय ताम तुरंती ॥
 दुज्जय इत्ति दिट्टु जिणणाहे । पयंतर^{१५} -मगण-संवूहि^{१६} ॥
 विधिवि अवस महासर पेसिय । अट्टदिवस उववास विसेसिय^{१७} ॥
 पंचाणं णिक्खीलिय तामस । रसपरिचाइ वि दुसम दुवालस ॥
 पक्खमासरिउ-अयण^{१८} सिलीमुह । वारिसयइ पेसिय तहो^{१९} बहुविह ॥ १५
 जिणवर वाणजालु भिदंतउ । दुट्टहि लग्गु वम्म^{२०} तोडंतउ ॥

वृत्ता—मोहिं उवलक्खिय साहिय दक्खिय णासहि मयण तुरंतउ ।

वलु सयलु वि मारिउ अम्हहं हारिउ जिणवरिदु^{२१} संपत्तउ ॥७२॥

तुम्हारे बिना मेरा मान, दर्प भग्न कर दिया जायगा और आज ही मैं शत्रुके द्वारा मारा जाऊँगा । जिस प्रकार तृण, तरुवर तथा धान्यके लिए पावस है, उसी प्रकार तुम्हीं हम सबकी आधार हो । तुम्हारी विजयमें मेरी जयजयकार है और नहीं तो भग्न होकर मारा जाऊँगा । कामदेवका यह वचन सुनकर वह अग्नि देवी क्रोध करके जिनेन्द्रके सम्मुख दौड़ी । वह भक्ष्य और अभक्ष्य सबको अपने मुँहमें डालने लगी एवं सागरों और सरिताओंके जलको सोखने लगी । उस दुष्टमनाको आती देख जिनेन्द्रने आधाकर्म-रूप वाण छोड़े तथा नाना प्रकारके तप रूप अवमौदर्य, अन्तराय अर्थात् एकोपवास और पष्टभक्त अर्थात् वेला एवं चान्द्रायण आदि वाण भेजे । इन सब स्थान सम्बन्धी वाणोंको नष्ट करती हुई जीतकर वह विद्या तुरन्त आगे बढ़ी । उस दुर्जेयको जिननाथने आती हुई देखा । तब उन्होंने उसे एकान्तर रूप वाणोंके समूहसे वेधकर अपने दुर्निवार (अवश) महावाण छोड़े; जैसे आठ दिनके उपवास, पाँचों इन्द्रियोंके तामसिक स्वभावको निष्कूलित कर देनेवाले रस परित्याग आदि असाधारण वारह, पक्ष व मासोपवास, ऋतुउपवास, अयण व वर्षोपवास आदि नाना प्रकारके वाण छोड़े । इस प्रकारका यह जिनेन्द्रका वाण-जाल इस दुष्टाके वर्म-कवच अथवा मर्मस्थलको भेदकर तोड़ने लगा । जब मोहने देखा कि वह कुशल विद्या भी पराजित हो गई, तब उसने मदनसे कहा—हे मदन ! अब तुरन्त यहाँसे भागो ! हमारा समस्त बल मारा गया और हार गया और जिनवरेन्द्र आ पहुँचा ॥७२॥

७२ ४. ख दप्पु माणु ५. क पय ६. क जिम्व ७. ख आउसु ८. ख तुहु ९. ख जिणु १०. ख साइरसर^०
 ११. क अंति १२. क दुम्मणु १३. प्रतिपु 'णाणे' १४. क भूवच्छट्टु अउवि वंदावण १५. क एवंतर
 १६. क संवूहइं १७. क विसोसिय १८. क अणइं १९. क वारिसाइ तहो पेसिय २०. क वम्म
 २१. क ख जिणवरिद ।

दुवई—विज्ज विणट्टु णियवि वाणावलि मेल्लंतउ^१ णिरंतरं^२ ।
हउं पडिखलमि^३ देव तुहुं णासहि तावहि होइ अंतरं ॥७३॥

वस्तु—असणि पाडिय णियवि मयणेण
जा^१ जोवइ सम्मुहउ जिणु ण वाण^२ मेल्लंतु^३ थक्कइ ।
वयमग्गण^४-पहयतणु मयणु थाणु वंधउं ण सक्कइ ॥
विवरम्महु होएवि पुणु बहुभयभीयउ भग्गु ।
णासहं लग्गउ णियवि रणु जिणवल्लु पुट्टिहिं लग्गु ॥७४॥

५

भयतट्टु णासेइ रणरंगि^१ सरु जाम । जिणसिण्णु तह पुट्टि पुणु लग्गु खणि ताम ॥
अइभीणमोहेण आचंतु पडिखल्लिउ । तं णियवि परिधाविओ भाणु अइवल्लिउ ॥
चउभेयवाणेहिं सयखंडु करि छित्तु^३ । संपत्तु पंचत्तु धरणियलि णिक्खित्तु ॥
पुणु लग्गु जिणसेणु पहि मयणरायस्स । अइतुरिउ जंतस्स विहडप्फ-हवस्स ॥
णउ वाणु संभरइ णउ हत्थि ठिउ चाउ । णियपियउ वल्लहउ संभरइ णउ जाउ ॥ ५
तेहम्मि समयम्मि विण्णविउ बहुजणिहिं^५ । णामाहि तह गुत्तसंजुत्त वेयणिहिं ॥
पडिखलहुं जायंतु जिणणाह-वल्लरासि । ता होसप अंतरं देव लहु णासि ।

मोहने उस विद्याको विनष्ट हुई देखकर मदनसे कहा—हे देव ! अब मैं निरन्तर वाणा-
वलि छोड़ता हुआ जिनेन्द्रके सैन्यको रोकता हूँ, तब तक आप भाग जाइए । इतना अवसर अभी
मिल सकता है ॥७३॥

अशनिको गिराई गई देखकर मदनने जो सम्मुख देखा तो जिनेन्द्र वाण छोड़ते रुकते ही
नहीं थे । उनके व्रत रूप वाणोंसे आहत-तन होकर मदन अपने स्थानपर आसनवद्ध न रह सका ।
तब वह पराङ्मुख होकर अति भयभीत हुआ भाग उठा । उसको रण छोड़कर भागनेमें लगा देखकर
जिनेन्द्रका बल उसके पीछे लग गया ॥७४॥

जैसा जैसा स्मर भयसे त्रस्त होकर रणांगणसे भागता था, तैसे तैसे जिनेन्द्रका सैन्य उसी
क्षण उसके पीछे लगता था । अतिक्षीण हुए मोहने उस सैन्यको आगे बढ़नेसे रोका । यह देख-
कर अतिवली ध्यान आगे बढ़ा और अपने चतुर्भेद रूप वाणोंसे उसे सौ टुकड़े करके फेंक दिया ।
वह मृत्युको प्राप्त होकर भूमिपर गिर पड़ा । तब पुनः जिनेन्द्रका सैन्य मदनराजके पीछे लगा ।
मदनराज और भी तेज भाग रहा था, और विह्वल हो उठा था । न उसे वाणका स्मरण था और
न उसके हाथमें चाप ठहरता था । वह अपनी प्यारी वल्लभाओंको भी स्मरण नहीं कर पाता था ।
उसी समयमें नाम, गोत्र व वेदनीयकी नाना प्रकृतियोंने उससे प्रार्थना की—हम जिननाथक सैन्य-
समूहको आगे बढ़नेसे रोकते हैं, जिससे कुछ अन्तराय हो जायगा । हे देव ! आप जल्दी

७३ १. क मिल्हंतउ २. ख णियवरं ३. ख पडिखलमि ।

७४ १. क ख जो २. ख वाणु ३. क मिल्हंतु; ग मिल्लंतु ४. क ख ग मग्गणु ।

७५ १. क ग रणरंगि २. ख णियडि ३. क जित्तु ४. क वाण ५. क जणिहि ।

मेरु माणु दप्पु^४ दारेव्वउ । पइ^५ विणु अज्जु परइं मारेव्वउ ॥
 तिण-तरुवर-धण्णहि जिम^६ पावसु । तिम तुहु अम्हहं सव्वहं आवसु^७ ॥ ५
 तुह^८ जएण हउं जय जयवंतउ । णं तो णासेसमि भज्जंतउ ॥
 तं णिसुणेवि चयणु जिण^९-सम्महु । धाविय कोहु करेण्णिणु सम्मुहु ॥
 भक्खामक्ख वि आकोसंती । सायरि सरि^{१०} जलाइं सोसंती ॥
 दिक्खिवि यंति^{११} जिणिदिं दुम्मण^{१२} । आहाकम्म विसज्जिय मगण ॥
 णाणा^{१३} अंतराय अवमोयण । भूवच्छट्टं वि चंदावायण^{१४} ॥ १०
 एयटाण वाणइं णासंती । जिणवि पधाइय ताम तुरंती ॥
 दुज्जय इत्ति दिट्ठ जिणणाहें । एयंतर^{१५} -मगण-संव्वहि^{१६} ॥
 विधिचि अवस महासर पेसिय । अट्टदिवस उववास विसैसिय^{१७} ॥
 पंचाणं णिक्खीलिय तामस । रसपरिचाइ वि दुसम दुवालस ॥
 पक्खमासरिउ-अयण^{१८} सिलीमुह । वारिसयइ पेसिय तहो^{१९} बहुविह ॥ १५
 जिणवर वाणजालु भिदंतउ । दुट्ठहि लग्गु वम्म^{२०} तोडंतउ ॥

वृत्ता—मोहिं उवलक्खिय साहिय दक्खिय णासहि मयण तुरंतउ ।
 वलु सयलु वि मारिउ अम्हहं हारिउ जिणवरिदु^{२१} संपत्तउ ॥७२॥

तुम्हारे बिना मेरा मान, दर्प भग्न कर दिया जायगा और आज ही मैं शत्रुके द्वारा मारा जाऊँगा । जिस प्रकार तृण, तरुवर तथा धान्यके लिए पावस है, उसी प्रकार तुम्हीं हम सबकी आधार हो । तुम्हारी विजयमें मेरी जयजयकार है और नहीं तो भग्न होकर मारा जाऊँगा । कामदेवका यह वचन सुनकर वह अशनि देवी क्रोध करके जिनेन्द्रके सम्मुख दौड़ी । वह भक्ष्य और अभक्ष्य सबको अपने मुँहमें डालने लगी एवं सागरों और सरिताओंके जलको सोखने लगी । उस दुष्टमनाको आती देख जिनेन्द्रने आधाकर्म-रूप वाण छोड़े तथा नाना प्रकारके तप रूप अवमौदर्य, अन्तराय अर्थात् एकोपवास और पष्टभक्त अर्थात् वेला एवं चान्द्रायण आदि वाण भेजे । इन सब स्थान सम्बन्धी वाणोंको नष्ट करती हुई जीतकर वह विद्या तुरन्त आगे बढ़ी । उस दुर्जेयको जिननाथने आती हुई देखा । तब उन्होंने उसे एकान्तर रूप वाणोंके समूहसे वेधकर अपने दुर्निवार (अवश) महावाण छोड़े; जैसे आठ दिनके उपवास, पाँचों इन्द्रियोंके तामसिक स्वभावको निष्क्रीलित कर देनेवाले रस परित्याग आदि असाधारण वारह, पक्ष व मासोपवास, ऋतुउपवास, अयण व वर्षोपवास आदि नाना प्रकारके वाण छोड़े । इस प्रकारका यह जिनेन्द्रका वाण-जाल इस दुष्टाके वर्म-कवच अथवा मर्मस्थलको भेदकर तोड़ने लगा । जब मोहने देखा कि वह कुशल विद्या भी पराजित हो गई, तब उसने मदनसे कहा—हे मदन ! अब तुरन्त यहाँसे भागो ! हमारा समस्त बल मारा गया और हार गया और जिनवरेन्द्र आ पहुँचा ॥७२॥

७२ ४. ख दप्पु माणु ५. क पय ६. क जिम्म ७. ख आउसु ८. ख तुहु ९. ख जिणु १०. ख साइसर^०
 ११. क अंति १२. क दुम्मणु १३. प्रतिपु 'णाणे' १४. क भूवच्छट्टं अउवि चंदावण १५. क एवंतर
 १६. क संव्वहइं १७. क विसोसिय १८. क अणइं १९. क वारिसाइ तहो पेसिय २०. क वम्म
 २१. क ख जिणवरिद ।

दुवई—विज्ज विण्हणियवि वाणावलि मेहंतउ^१ गिरंतरं^२ ।
हउं पडिखलमि^३ देव तुहुं णासहि तावहि होइ अंतरं ॥७३॥

वस्तु—असणि पाडिय गियवि मयणेण
जा^१ जोवइ सम्मुहउ जिणु ण वाण^२ मेहंतु^३ थक्कइ ।
वयमग्गण^४ प्हयतणु मयणु थाणु वंधउं ण सक्कइ ॥
विवरम्मुहु होएवि पुणु बहुभयभीयउ भग्गु ।
णासहुं लगगउ गियवि रणु जिणवल्लु पुट्टिहिं लग्गु ॥७४॥

५

भयतट्टु णासेइ रणरंगि^१ सरु जाम । जिणसिण्णु तह पुट्टि पुणु लग्गु खणि ताम ॥
अइभीणमोहेण आवंतु पडिखलिउ । तं गियवि^२ परिधाविओ भाणु अइवलिउ ॥
चउमेयवाणेहिं सयखंडु करि छित्तु^३ । संपत्तु पंचत्तु धरणियलि णिक्खित्तु ॥
पुणु लग्गु जिणसेण्णु पहि मयणरायस्स । अइतुरिउ जंतस्स विहडप्फ-ह्वस्स ॥
णउ वाणु^४ संभरइ णउ हत्थि ठिउ चाउ । गियपियउ वल्लहउ संभरइ णउ जाउ ॥ ५
तेहम्मि समयम्मि विण्णविउ बहुजणिहिं^५ । णामाहि तह गुत्तसंजुत्त वेयणिहिं ॥
पडिखलहुं जायंतु जिणणाह-वलरासि । ता होसए अंतरं देव लहु णासि ।

मोहने उस विद्याको विनष्ट हुई देखकर मदनसे कहा—हे देव ! अब मैं निरन्तर वाणा-
वलि छोड़ता हुआ जिनेन्द्रके सैन्यको रोकता हूँ, तब तक आप भाग जाइए। इतना अवसर अभी
मिल सकता है ॥७३॥

अशनिको गिराई गई देखकर मदनने जो सम्मुख देखा तो जिनेन्द्र वाण छोड़ते रुकते ही
नहीं थे। उनके व्रत रूप वाणोंसे आहत-तन होकर मदन अपने स्थानपर आसनबद्ध न रह सका।
तब वह पराङ्मुख होकर अति भयभीत हुआ भाग उठा। उसको रण छोड़कर भागनेमें लगा देखकर
जिनेन्द्रका बल उसके पीछे लग गया ॥७४॥

जैसा जैसा स्मर भयसे त्रस्त होकर रणांगणसे भागता था, तैसे तैसे जिनेन्द्रका सैन्य उसी
क्षण उसके पीछे लगता था। अतिक्षीण हुए मोहने उस सैन्यको आगे बढ़नेसे रोका। यह देख-
कर अतिवली ध्यान आगे बढ़ा और अपने चतुर्भेद रूप वाणोंसे उसे सौ टुकड़े करके फेंक दिया।
वह मृत्युको प्राप्त होकर भूमिपर गिर पड़ा। तब पुनः जिनेन्द्रका सैन्य मदनराजके पीछे लगा।
मदनराज और भी तेज भाग रहा था, और विह्वल हो उठा था। न उसे वाणका स्मरण था और
न उसके हाथमें चाप ठहरता था। वह अपनी प्यारी चल्लभाओंको भी स्मरण नहीं कर पाता था।
उसी समयमें नाम, गोत्र व वेदनीयकी नाना प्रकृतियोंने उससे प्रार्थना की—हम जिननाथके सैन्य-
समूहको आगे बढ़नेसे रोकते हैं, जिससे कुछ अन्तराय हो जायगा। हे देव ! आप जल्दी

७३ १. क मिल्हंतउ २. ख गियवरं ३. ख पडिखलमि ।

७४ १. क ख जो २. ख वाणु ३. क मिल्हंतु; ग मिल्हंतु ४. क ख ग मग्गणु ।

७५ १. क ग रणरंगि २. ख गियडि ३. क जित्तु ४. क वाण ५. क जणहिं ।

इय भणिवि किर अद्धि^६ थक्कंति^७ पहि जाम। परितुट्ठु^८ णियसत्तितेण खणि ताम ॥
 भाणेण मयरद्धओ पुरउ णिहिट्ठु। णासेहि कुपहेहि परसमई सुपहिट्ठु ॥
 वंभाणु बुल्लविओ^९ देवराएण। पिच्छेहि अइहारियं मयणराएण। १०

घत्ता—तहिं समइ समुज्जलु भूसिउ केवलु जिणवरेण^{१०} आणंदि^{११}।
 मोडिय^{१२} मयरद्धउ उब्भिय-वरधउ पणविउ मुणिवरविंदि ॥७५॥

दुवई—फारफणाफड-विप्फरिय^१ घणमणि^२-फुरियतिहुवणो।
 संपत्तउ फणिंदु लहु दससय^३-रसणा-थुणिय-जिणगुणो ॥७६॥

वस्तु—हंसगमणय हंसवाहिणिय
 संजुत्तउ वालियइ^२ णवविसट्ट-कंदुट्ट-चयणइं।
 घणधोर^३-उण्णयथणइ तसियवालसारंगणयणइं ॥
 फणिफणमउडंकियसिरइं रत्तुप्पलकंतीय^४।
 णायकण्ण परिवारसिहु^५ आइय बहुभत्तीय^६ ॥७७॥

चक्कवट्टि जयकारु करंतउ। आयउ णिय-परियण-संजुत्तउ ॥
 सुरवइ चल्लिउ परमाणंदि^१। अइरावइ चडि जय जय सई ॥

भागिए। ऐसा कहकर जब वे अर्द्ध मार्गमें जा अड़ीं, तब क्षण भरके लिए मदन अपनी शक्तियोंके तेजसे परितुष्ट हुआ। ध्यानने मकरध्वजके सम्मुख होकर निर्देश किया—अब तू खूब प्रसन्न होकर परसमयमें कुपथोंसे भाग जा। अब देवराजने ब्रह्माको बुलाया और कहा, देख लीजिये, मदन-राजकी अत्यन्त हार हो गई। उस समय जिनवरने आनन्दपूर्वक समुज्ज्वल केवलज्ञान रूप भूषण धारण किया। उन्होंने मकरध्वजको परास्त कर दिया था और अपनी उत्तम धर्मध्वजा ऊँची फहरा दी थी। अतएव उन्हें मुनिवर-समूहने प्रणाम किया ॥७५॥

उसी समय अपने विशाल फणोंके आटोपको फैलाये, सघन मणियोंसे त्रिभुवनको चमकाता हुआ फणी नागेन्द्र वहाँ आ पहुँचा और तुरन्त अपने सहस्र जिह्वाओंसे जिनेन्द्रके गुणोंकी स्तुति करने लगा ॥७६॥

वह नागेन्द्र हंसगामिनी, हंसवाहिनी एवं नये फूले हुए नील कमल सदृश मुखवाली बालिकासे संयुक्त था। सघन, स्थूल व उन्नत स्तनोंवाली, त्रस्तवालमृगनयना, नागफणोंके मुकुट सिरपर धारण किये हुए नागकन्याएँ परिवार सहित बड़े भक्तिभावसे वहाँ आईं ॥७७॥

चक्रवर्ती भी जयकार करता हुआ अपने परिजनोंसे संयुक्त आया। सुरपति ऐरावत हाथी-पर चढ़कर जय-जय शब्द करता हुआ परम आनन्दसे चल पड़ा। घनस्तनी देवांगनाओंका समूह

७५ ६. ख ग अद्ध ७. क थक्कंत. ८. क समय ९. ख वोलाविओ १०. ख ग जिणवरिद ११. क आणंदिइं १२. क मोडउ; ग मोडिउ।

७६ १. क फणाफडकविकारिय; ख फणाफप्पविप्फारिय २. क घणमिव ३. ख फणिंदु दोदससय।

७७ १. क ग वाहणिय २. क ग चालियइ ३. क ख घणधोर ४. क ख ग कंतीय ५. क णाइकण-परिवार सिहु ६. क ख ग बहुभत्तीय।

७८ १. क परमाणंदिइं। इसके पश्चात् ख प्रतिमें निम्न पाठके साथ ग्रंथ समाप्त हुआ है—

चल्लिउ सुरकामिणियणु घणथणु ।	तरलकडक्ख-भार-भर-लोयणु ^३ ॥	
दरविहसंतरयण-दसणुज्जलु ।	विप्फुरंत ^४ -मणिगणमयकुंडलु ॥	
घुलियहार ^५ -सोहिय-वच्छत्थलु ।	भंकरंत ^६ णोउर-चलणुज्जलु ॥	५
अमुणियमगलग्ग-जुव्वणभर ^७ ।	कलरव-परिसेसिय-माहवियरु ॥	
पउलोमिणिहिं सहिउ परिवाडिहिं ।	इय परियरियउ अच्छरकोडिहिं ॥	
जय जय कारु करंतु पहुत्तउ ।	सुरवइ चलण-जुयलु पणवंतउ ॥	
पुणरवि समवसरणु विरइज्जइ ।	सुक्कभाणु घडथावउ किज्जइ ॥	
पुण्णदिवसुं दुंदुहिसरु भासइ ।	सिद्धि-वरंगण ^९ वयणु पयासइ ॥	१०
तवसिरीए सिरि कलसु लइज्जइ ।	सरसईए सुमहुरु गाइज्जइ ॥	
दयरयणहं रंगावलि किज्जइ ।	खंतिए दीवयपंति धरिज्जइ ॥	
अक्खदाणु अक्खयहं रइज्जइ ।	तिहुवण लच्छिए सेसु भरिज्जइ ॥	

घत्ता—तुंबुरु णारहिं^{१०} जणिआणंदिहिं^{१०} थाणमाण-पयडणयरिहिं ।

किण्णरिहिं कुमारिहिं वीणासारिहिं गायउ सत्तमहासरिहिं ॥७८॥

१५

तरल कटाक्षोंके भारसे अपने लोचनोंको भरता हुआ वहाँको चल पड़ा। हत्की मुस्कानसे उनके दाँत रत्नोंके समान चमक रहे थे। नाना मणियोंसे जड़े हुए उनके कुण्डल विस्फुरायमान हो रहे थे। चलायमान हारोंसे उनके वक्षस्थल शोभित थे। चरणोंमें नूपुरोंकी झंकार हो रही थी। अज्ञात भावसे वे यौवनसे भरपूर थीं। वे अपने कलरवसे (भौरोंकी गुंजारसे) युक्त माधवी लताओंको जीत रही थीं। वे सब अपनी परिपाटीक्रमसे इन्द्राणी सहित चल रही थीं। ऐसी करोड़ों अप्सराओंसे घिरा हुआ खूब जय-जयकार करते हुए इन्द्रने आकर उन्हें प्रणाम किया। फिर समवसरणकी रचना होने लगी। शुक्लध्यान रूप घटस्थापन किया गया। उस पुण्य दिवसने दुन्दुभीका स्वर उद्भासित किया और सिद्धिरूपी वराङ्गनाने अपना मुख प्रकट किया। तपः-श्री ने सिरपर कलश लिया; सरस्वतीने सुमधुर गान किया; दया आदि रत्नोंकी रंगावली की गई। क्षमाने दीपक-पंक्ति धारण की। पीड़ितोंको अभयदान दिया गया, और त्रिभुवनको लक्ष्मीने आशीषसे भर दिया। तुम्बुरु और नारदने आनन्द उत्पन्न करते हुए स्वर्गके स्थान और प्रमाण प्रकट करनेमें चतुराई दिखलाते हुए एवं किन्नर कुमारियोंने वीणाका अनुसरण करते हुए सप्त महास्वरोमें गीत गाये ॥७८॥

२. ख

वंदिउ रिसजिणहु सयलजणो ।
कामु जिणिवि मोक्खे संपत्तउ ।
अत्तिदिय-सुवत्तइ^१ अखुहुंजइ ।
तासु सुवत्तमहिमा को पावइ ।

चल्लिउ सुरकामिणि याणंदे ॥
सत्तु मित्तु त्तमु भाविंवि नियमणे ॥
सिद्धिवह्मुहेहि अणुरत्तउ ॥
णाणो लोयालोउ विजुंजइ ॥
अम्हारिसु जटमइ कि भावइ ॥

घत्ता—इय मयण-जिणोत्तर-जुज्जु मइं त्तोवे वि पभणिउ ।

णियमइ-अणुसारेण गुरुमुहाउ जह णिणुणिउ ॥

३. क तरल कडक्ख तारतरलोयणु ४. ग विप्फुरंतु ५. क हार ६. क न भंकरंतु ७. क यौवन भर;
ग जु घणभर ८. पुण्य ९. क सिद्धवरंगणु १०. क वापंदहि ।

दुवई—असुरणरिदणेण सुक्खणिहिं बहुविहतालसंचयं ।
पयडिय-पयडसइ-पडुपाडहिं णवरसभाव णच्चियं ॥७९॥

वस्तु—पडहमइलसंखकाहलहिं
वज्जंत-ढंकारवहिं जक्खचमर-चालिय-सहासहिं ।
विष्फुरिय-भामंडलहिं कुसुमणियर-महमहियवासहिं^१ ॥
चउदुवार-चउतोरणहिं^२ छत्तत्तयहिं^३ रवण्णु ।
जिणु सोहइ मागहरचिण सिंघासणहं णिसण्णु ॥८०॥

एव विवाहु करेचि महाजिणु ।	संचल्लिउ मोक्खहं कीलणमणु ॥
तामहिं तउसिरीए विण्णत्तउ ।	पच्छइ होसइ देव अजुत्तउ ॥
मयरद्धउ जइ मेलि करेचिणु ।	तं चारित्तणयरुं णासइ पुणु ॥
तं णिसुणिवि सुवलेहु विसज्जिवि ।	विसइसेणु पेसिउ गणि गज्जिवि ॥
तवसिरीए पमुहउ पुणु पेसिउ ।	संजमसिरि दय देव विहसिउ ॥
पभणियाउ तुम्हइं पालेसइ ।	गणहरु मुणिवरिंदु आवेसइ ॥
जो पंचिदिय पडिभइ-मोडणु ।	कउयडत्तदिढकम्मविहोडणु ॥
सल्लत्तय-पव्वय-सोयावणि ^४ ।	संसय-दुहि-भवियण ^३ -चित्तामणि ॥
अइवलरायरोसमुसुमूरणु ।	अट्टरउइ-अट्टमय-चूरणु ॥

असुरेन्द्र और नरेन्द्रोंने बहुविध तालसे युक्त स्पष्टतः पदघातका शब्द करते हुए नवरस-पूर्ण सुखदायी भाव-नृत्य किया ॥७९॥

नगाड़ों, मार्दल (मृदङ्ग), शङ्ख व काहल एवं वजते हुए ढक्काकी ध्वनियोंसे, यक्षों द्वारा चालित सहस्रों चमरोंसे, विस्फुरायमान भामण्डलोंसे, फूलोंके गुच्छोंकी महकती हुई सुवाससे, चार द्वार और चार तोरणोंसे एवं छत्रत्रयसे रमणीक जिनेन्द्र मागधोंके स्तुतिगान सहित सिंहासन पर विराजकर शोभायमान हुए ॥८०॥

इस प्रकार वे महाजिनेन्द्र विवाह करके मोक्षकी क्रीडामें मन लगाकर चल पड़े । उसी समय तपःश्रीने प्रार्थना की—हे देव ! आपके पीछे यहाँ बड़ा अनर्थ होगा । जगमें मकरध्वज पापोंका मेल करके पुनः उस चारित्र-नगरका नाश कर डालेगा । यह सुनकर उन्होंने अपनी दिव्यध्वनिरूप गर्जना द्वारा श्रुतज्ञानका लेश देकर वृषभसेन गणिको भेजा । फिर उन्होंने तपःश्री प्रमुख संयमश्री, दया आदि देवियोंको भी भेजा, और उनसे कहा—गणधर मुनिवरेन्द्र आवेंगे और तुम्हारा पालन करेंगे । वे पञ्चेन्द्रिय रूपी शत्रु योद्धाओंको मारनेमें समर्थ होंगे । कड़कड़ाते हुए दृढ़ कर्मोंको विनष्ट कर सकेंगे । शल्यत्रय रूप पर्वतके लिए वज्र रूप होंगे । संशयसे दुखित भव्यजनोंके लिए चिन्तामणि रूप होंगे । अतिबलवान् रागद्वेषको नष्ट कर सकेंगे । आर्त और रौद्र ध्यान तथा आठ मर्दोंको चूर कर सकेंगे । चार कपाय रूप अंधकारको दूर करने-

८० १. ग^१पासहिं २. क^२तोरणइं ३. ग छत्तत्तयह ।

८१ क ग चारिणयरु २. क सोहावणि ३. क संसइ दुहि भवियणि ।

चउकसाय-तिमिरभर-दिणेसरु ।	कयरयणत्तय ^५ -संगह-ईसरु ॥	१०
पंन्नासव-भयसत्तहं मारउ ।	दुद्धर-मयरद्धय-संहारउ ॥	
विसहसेणु मुणिवरु अच्छेसइ ।	तं चारित्तणयरु रक्खेसइ ॥	
इय भणेवि गउ मोक्खहु जिणवरु ।	विसहसेणु पालइ संजममरु ॥	
मइं अमुणंतइं काइं मि साहिउ ।	मुणिवर तं खमंतु ऊणाहिउ ॥	
जिणवरिंद-पयपंकय-भसलें ।	णर-विज्जाहर-गणहर-कुसलें ॥	१५
मयणपराजय विरइय वरहं ।	हरएवि रंजिवि वुहयणहं ॥	

घत्ता—गुणदोसपयाउ अक्खिउ भाउ मइं छुलेण विरइय कहं ।
भव्वयणपियारी हरिजसणेरी णंदउ चउविहसंगहं ॥८१॥

इस मयणपराजयचरिए हरिएवकइविरइए मयणराजपराजयं णाम दुज्जओ
संधी परिच्छेओ समत्तो ॥२॥



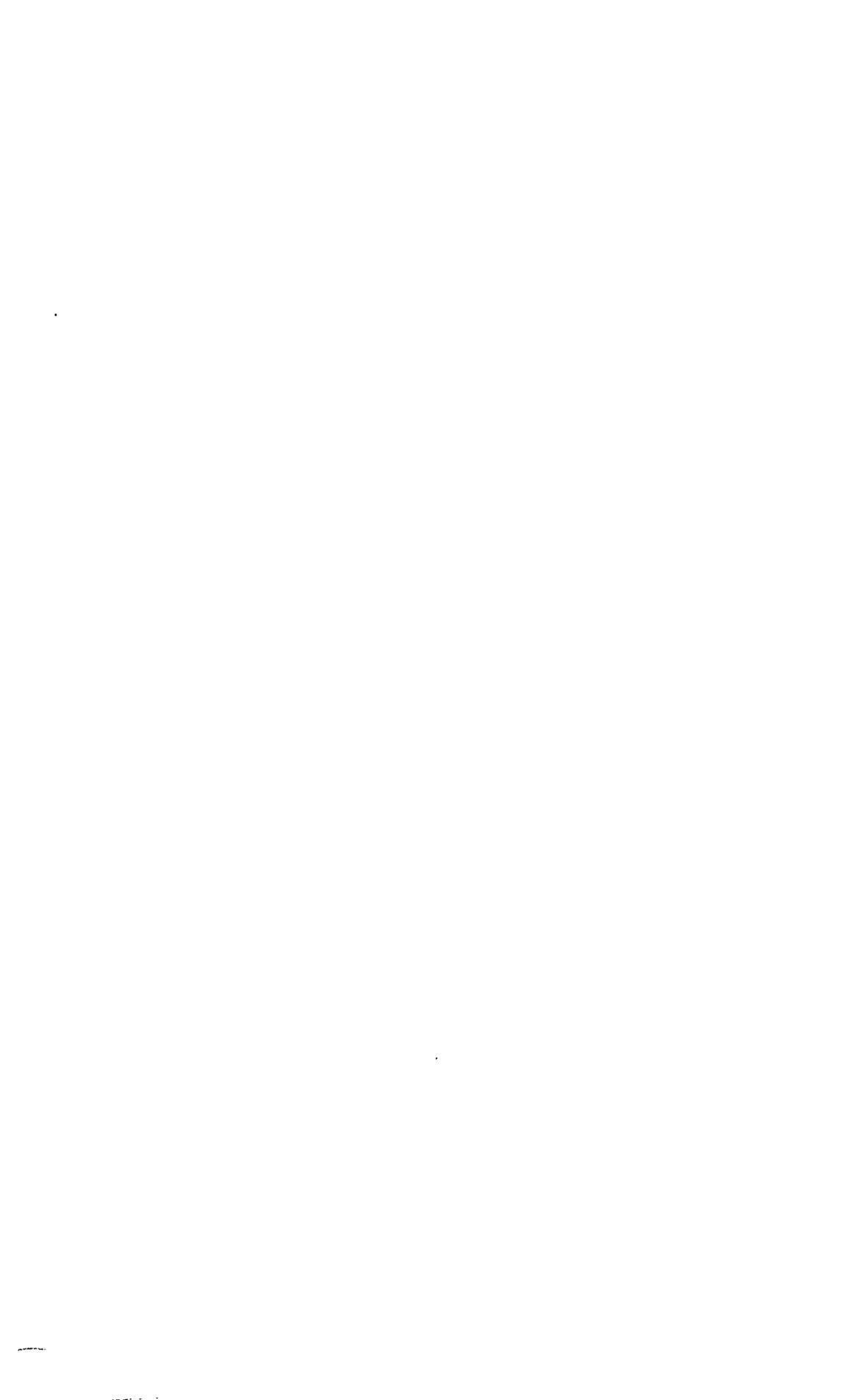
के लिए सूर्य होंगे । रत्नत्रयका संग्रह करने वाले ईश्वर होंगे । पाँच आस्रव और सप्तभयोंके विना-
शक एवं दुर्धर मकरध्वजके संहारक होंगे । ऐसे वृषभसेन मुनिवर रहेंगे और उस चारित्र नगरको
रक्षा करेंगे । इतना कहकर जिनवर मोक्षको गये और वृषभसेन संयमका भार पालते रहे ।

मुझ अज्ञानीने यहाँ जो कुछ भी कहा है उसमें जो कुछ हीनाधिक हो उसे मुनिवर क्षमा
करें । इस मदनपराजयको जिनवरेन्द्रके चरण-कमलोंके भ्रमर, नर, विद्याधर और गणधरोंकी
कुशल चाहने वाले हरदेवने उत्तम बुधजनोंके मनोरंजनार्थ रचा । अपना गुणों व दोषोंसे उत्पन्न
भाव मैंने प्रकट किया है । मेरी योग्यतानुसार विरचित यह कथा भव्यजनोंको प्यारी, हर्षकी जननी
होती हुई चतुर्विध संघको आनन्द रूप होवे ॥८१॥

इस प्रकार हरिदेव कृत मदनपराजयचरित्रमें मदनपराजय नामक द्वितीय
सन्धि परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२॥



परिशिष्ट



परिशिष्ट—१

(अथर्ववेद, काण्ड ३, सूक्त २५)

(ऋषि-भृगुः देवता-कामेपुः मित्रावरुणौ । छन्द-अनुष्टुप्)

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शमने स्वे । इपुः कामस्य या भीमा तथा विध्यामि त्वा हृदि ॥१॥
आधीपर्णा कामशल्यामिपुं सङ्कल्प-कुल्मलाम् । तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥२॥
या प्लीहानं शोषयति कामस्येपुः सुसन्नता । प्राचीनपक्षा व्योषा तथा विध्यामि त्वा हृदि ॥३॥
शुचा विद्धा व्योषया शुष्कात्यामि सर्प मा । मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥४॥
आजामि त्वाजन्या परिमातुरथो पितुः । यया मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥५॥
न्यत्रै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् । अथैनामक्रतुं कृत्वा भमैव कृणुतं वशे ॥६॥

परिशिष्ट—२

(सुत्तनिपात-पधानसुत्त)

तं मं पधान-पहितत्तं नदिं नेरंजरं पति । विपरक्कम्म ज्ञायन्तं योगक्खेमस्स पत्तिया ॥१॥
नमुची करुणं वाचं भासमानो उपागमि । किस्सो त्वमसि दुब्बण्णो सन्तिके मरणं तव ॥२॥
सहस्सभागो मरणस्स एकसं जीवितं तव । जीव भो जीवितं सेय्यो जीवं पुब्जानि काहसि ॥३॥
चरतो च ते ब्रह्मचरियं अग्गिहुत्तं च जूहतो । पहूतं चीयते पुब्जं किं पधानेन काहसि ॥४॥
दुग्गो मग्गो पधानाय दुक्करो दुरभिसंभवो । इमा गाथा भणं मारो अट्ठा बुद्धस्स संतिके ॥५॥
तं तथावादिनं मारं भगवा एतद्व्रवी । पमत्तवन्धु पापिम येनत्थेन इधगतो ॥६॥
अणुमत्तेनपि पुब्जेन अत्थो मरुहं न विज्जति । येसं च अत्थो पुब्जानं ते मारो वत्तुमरहति ॥७॥
अत्थि सद्धा ततो विरियं पब्जा च मम विज्जति । एवं मे पहितत्तं पि किं जीवमनुपुच्छसि ॥८॥
नदीनमपि सोतानि अयं वातो विसोसये । किं च मे पहितत्तस्स लोहितं नूपसुस्सये ॥९॥
लोहिते सुस्समानग्निह पित्तं सेरुहं च सुस्सति । मंससु खीयमानेसु भिय्यो चित्तं पसीदति ॥
भिय्यो सति च पब्जा च समाधि मम तिट्ठति ॥१०॥

तस्स मे' वं विहरतो पत्तस्सुत्तम-वेदं । कामे नापेक्खते चित्तं पस्स सत्तस्स सुद्धतं ॥११॥
कामा ते पठमा सेना दुतिया अरति विज्जति । ततिया खुप्पिपासा ते चतुर्थी तण्हा पवुच्चति ॥१२॥
पंचमं धीनमिदं ते छट्ठा भीरु पवुच्चति । सत्तमी विचिकिच्छा ते मक्खो धम्मो ते अट्ठमो ॥१३॥
लाभो सिलोको सक्कारो मिच्छालद्धो च यो यसो । यो चत्तानं समुक्कसे परं च अवजानति ॥१४॥
एसा नमुचि ते सेना कण्हस्साभिप्पहारिणी । न तं असूरो जिनाति जेत्वा च लभते सुत्तं ॥१५॥
एस मुजं परिहरे धिरत्थु इध जीवितं । संगामे मे मतं सेय्यो यं चे जीवे पराजितो ॥१६॥
पगादा एत्थ दिस्सन्ति एके समण-ब्राह्मणा । तं च मग्गं न जानन्ति येन गच्छन्ति सुव्वता ॥१७॥
समन्ता धजिनिं दिस्वा युत्तं मारं सवाहनं । युद्धाय पच्छुग्गच्छामि मा मं टाना अचावधि ॥१८॥
यं ते तं न प्पसहन्ति सेनं लोको सदेवको । तं ते पब्जाय गच्छामि आमं पत्तं व अस्सना ॥१९॥
वसिं क्खवान संकप्पं सतिं च सुप्पतिट्ठितं । रट्ठा रट्ठं विचरिस्सं सावके विनदं पुयु ॥२०॥
ते अप्पमत्ता पहितत्ता मम सासनकारका । अकामस्स ते गमिस्सन्ति यत्थ गन्त्वा न म्हाचरे ॥२१॥
सत्त वस्सानि भगवन्तं अनुवन्धि पदे पदे । ओतारं नाधिगच्छिस्सं मंहुदस्स मत्तामतो ॥२२॥
मेद्वण्णं व पासाणं वायसो अनुपरियगा । अपेत्य मृदु विन्देम अपि अस्सादनाग्गिया ॥२३॥
अलद्धा तत्थ अस्सादं वायसे त्तो अपक्कमि । काको न सेलमासज निविज्जामेन गोत्तमं ॥२४॥
तस्स सौकपरेतस्स वीणा कच्छा अनस्सथ । ततो सो दुम्भनो यस्सो तत्थेदन्तरथायथ ॥२५॥

परिशिष्ट—३

(जातकट्ट-वराणा-निदानकथा)

मारपराजयो

तस्मिं समये मारो देवपुत्रो सिद्धत्थकुमारो मरुहं वसं अतिक्रमितुकामो न दानि'स्स अतिक्रमितुं दस्सामीति मारवल्लस्स सन्तिकं गन्त्वा एतमर्थं आरोचेत्वा मारघोसन्नं नाम घोसापेत्वा मारवल्लं आदाय निक्खमि । ...मारो पि अत्तनो परिसं आह—ताता, सुद्धादन-पुत्तेन सिद्धत्थेन सदिसो अन्न्यो पुरिसो नाम नत्थि । मर्यं सम्मुखा युद्धं दातुं न सक्खिस्साम, पच्छाभागेन दस्सामा ति ।

महापुरिसो पि तीणि पस्सानि ओलोकेत्वा सव्वदेवतानं पलातत्ता सुञ्जानि अद्दस । पुन उत्तरपस्सेन मारवल्लं अञ्जोत्थरमानं दिस्वा अयं एत्तको जनो मम एककं संधाय महन्तं वायामं परक्कमं करोति । इमास्मिं ठाने मरुहं माता वा पिता वा भाता वा अन्नो वा कोचि जातको नत्थि । इमा पन दस पारमियो व मरुहं दीघरत्तं पुट्टपरिजनसदिसा । तस्मा पारमियो व फलकं कत्वा पारमियत्थेनेव पहरित्वा अयं वल्लकायो मया विद्धसेतुं वट्टतीति दस पारमियो आवज्जमानो निरसीदि ।

अथ मारो देवपुत्रो एतेनेव सिद्धत्थं पलापेस्सामीति वातमण्डलं समुट्टापेसि । तं खणं येव पुरत्थिमादिभेदा वाता समुट्टहिंत्वा अद्दद्योजनद्वियोजन-तियोजनपमाणानि पव्वतकूटानि पदालेत्वा वनगच्छस्वखादीनि उम्मूलेत्वा समन्ता गामनिगमे लुण्णविचुण्णं कातुं समत्था पि महापुरिसस्स पुञ्जतेजेन विहतानुभावा बोधिसत्तं पत्वा चीवरकण्णमत्तं पि चालेतुं नासक्खिसु । ततो उदकेन तं अउज्जोत्थरित्वा मारेस्सामीति महावस्सं समुट्टापेसि । तस्सानुभावेन उपरुपरि सतपटल-सहस्सपटलादिभेदा वलाहका वलाहका उट्टहिंत्वा वस्सिसु । बुद्धिधारावेगेन पठवी छिद्दा अहोसि । वनरूक्खादीनं उपरिभागेन महाओघो आगन्त्वा महासत्तस्स चीवरे उस्सावविन्दुट्टानमत्तं पि तेमेतुं नासक्खि । ततो पासाणवस्सं समुट्टापेसि । महन्तानि महन्तानि पव्वतकूटानि धूपायन्तानि पज्जलन्तानि आकासेनागन्त्वा बोधिसत्तं पत्वा दिव्वमालागुणभावं आपज्जिसु । ततो पहरण-वस्सं समुट्टापेसि । एकतोधारा उमतोधारा असि-सत्ति-सुरप्पादयो धूपायन्ता पज्जलन्ता आकासेनागन्त्वा बोधिसत्तं पत्वा दिव्वपुप्फानि अहेसुं । ततो अंगारवस्सं समुट्टापेसि । किंसुकवण्णा अंगारा आकासेनागन्त्वा बोधिसत्तस्स पादमूले दुव्वपुप्फानि हुत्वा विकिरिसु । ततो कुक्कुलवस्सं समुट्टापेसि । अच्चुल्लो अगिगवण्णो कुक्कुलो आकासेनागन्त्वा बोधिसत्तस्स पादमूले चन्दनलुण्णं हुत्वा निपति । ततो वालुकावस्सं समुट्टापेसि । अतिसुखमवालुका धूपायन्ता पज्जलन्ता आकासेनागन्त्वा बोधिसत्तस्स पादमूले दुव्वपुप्फानि हुत्वा निपतिसु । ततो कललवस्सं समुट्टापेसि । तं कललं धूपायन्तं पज्जलन्तं आकासेनागन्त्वा बोधिसत्तस्स पादमूले दिव्वविलेपनं हुत्वा निपति । ततो इमिना भिसेत्वा सिद्धत्थं पलापेस्सामीति अन्धकारं समुट्टापेसि । तं चतुरंगसमन्नागतं विय महातमं हुत्वा बोधिसत्तं पत्वा सुरियप्पमाविहतं विय अन्धकारं अन्तरधायि ।

एवं मारो इमाहि नचहि वात-वस्स-पासाणपहरणङ्गार-कुक्कुल-वालुका-कललन्धकारधुट्टीहि बोधिसत्तं पलापेतुं असक्कोन्तो, किं भणे तिट्ठथ, इमं कुमारं गण्हथ, हनथ, पलापेथा ति परिसं आणापेत्वा मर्यं पि गिरिमेखलस्स हत्थिनो खन्धे निसिन्नो चक्कायुधं आदाय बोधिसत्तं उपसंक्रमित्वा, सिद्धत्थ उट्टाहि एतस्मा पल्लंका नायं तुय्हं पापुणाति, मरुहं एसो पापुणातीति आह । महासत्तो तस्स वचनं सुत्वा अबोच—मार नेव तथा दस पारमियो पूरिता, न उपपारमियो, न परमत्थपारमियो, नापि पञ्च महापरिच्चाणाः परिच्चत्ता, न जाणत्थचरिया, न लोकत्थचरिया, न बुद्धत्थचरिया पूरिता, नायं पल्लंको तुय्हं पापुणाति, मरुहे'व्वं'सो पापुणातीति । मारो कुद्धो क्रोधवेगे असहन्तो महापुरिसस्स चक्कायुधं विस्सज्जेसि । तं तस्स दस पारमियो आवज्जेन्तस्स उपरिभागे मांलावितानं हुत्वा अट्टासि । तं किर खरधारं चक्कायुधं अञ्जदा तेन कुद्धेन विस्सट्टं एकघनपासाणे श्रम्भे'व्वंसकलीरे'व्विद्वि-छिन्दन्तं गच्छति । इदानी पन तस्मिं मालावितानं हुत्वा ठिते

अवसेसा मारपरिसा इदानी पल्लङ्गतो बुट्टाय पलायिस्सतीति महन्तमहन्तानि सेलकूटानि विस्सज्जेसुं । तानि पि महापुरिसस्स दसपारमियो आवज्जेन्तस्स मालागुणभावं आपज्जित्वा भूमिथं पत्तिसु । देवता चक्कवालमुखवट्टियं ठिता गीवं पसारत्वा सीसं उक्खिपित्वा नट्टो वत भो सिद्धत्थकुमारस्स रूपगपत्तो अत्तभावो, किं नु खो करिस्सतीति ओलोकेन्ति ।

ततो महापुरिसो पूरितपारमीनं बोधिसत्तानं अभिसंबुज्झन-दिवसे पत्तपल्लङ्को मय्हं पापुणातीति वत्वा ठितं मारं आह—मार, तुय्हं दानस्य दिन्नभावे को सक्खी ति । मारो इमे एत्तका सक्खिनो ति मारबलाभिमुखं हत्थं पसारत्ति । तस्मिं खणे मारपरिसाय अहं सक्खी अहं सक्खी ति पवत्तसद्धो पठवी-उट्टीयनसद्द-सदिसो अहोसि । अथ मारो महापुरिसं आह—सिद्धत्थ, तुय्हं दानस्स दिन्नभावे को सक्खी ति । महापुरिसो तुय्हं ताव दानस्य दिन्नभावे सचेतना सक्खिनो, मय्हं पन इमस्मिं ठाने सचेतनो कोचि सक्खी नाम नत्थि, तिट्ठतु ताव मे अवसेस अत्तभावेसु दिन्नभावे अयं अचेतना अपि धनमहापठवी सक्खी ति चीवरगढमन्तरतो दक्खिखणहत्थं अमिनीहरित्वा महापठविया अभिमुखं हत्थं पसारत्ति । महापठमी अहं ते तदा सक्खी ति विरावसतेन विरावसतसहस्सेन विरावसतसहस्सेन मारवलं अवत्थरमाना विय उन्नदि । मारपरिसा दिसा विदिसा पलायि । द्वे एकमग्गेन गता नाम नत्थि । सीसामरणानि चैव निवत्थवत्थानि च पहाय संमुखसंमुखदिसाहि येध पलायिंसु ।

ततो देवसंधा पलायमानं मारवलं दिस्वा मारस्स पराजयो जातो, सिद्धत्थकुमारस्स जयो, जय-पूजं करिस्सामा ति नागा नागानं सुपण्णा सुपण्णानं देवता देवतानं ब्रह्मानो ब्रह्मानं पेसेत्वा गंधमाला-दिहत्था महापुरिसस्स सन्तिके बोधिपल्लकं अगमंसु । एवं गतेसु च पन तेसु—

जयो हि बुद्धस्स सिरीमतो अयं
मारस्स च पापिमतो पराजयो ।

उग्घोसयुं बोधिमण्डे पमोदिता
जयं तदा नागगणा महेसिनो ॥१॥

जयो हि बुद्धस्स सिरीमतो अयं
मारस्स च पापिमतो पराजयो ।

उग्घोसयुं बोधिमण्डे पमोदिता
सुपण्णसंधा पि जयं महेसिनो ॥२॥

× × × ×
जयं तदा देवगणा महेसिनो ॥३॥

× × × ×
जयं तदा ब्रह्मगणा पि तादिनो ॥४॥ ति

अवसेसा दससु चक्कवालसहस्सेसु देवता मालानंधविलेपनेहि पूजयमाना नानप्पकारा धुतियो वदमाना अट्टंसु ।

परिशिष्ट—४

(अश्वघोष कृत बुद्धचरित)

(त्रयोदश सर्ग मार-पराजय)

तस्मिन्विमोक्षाय कृतप्रतिज्ञे राजपिबंदाप्रभवे महर्षी ।
तत्रोपविष्टे प्रजहर्षे लोकस्तत्रास सद्धर्मरिपुस्तु मारः ॥१॥
यं कामदेवं प्रवदन्ति लोके चित्रायुधं पुण्यशरं तथैव ।
कामप्रचाराधिपतिं तमेव मोक्षद्विपं मारमुदाहरन्ति ॥२॥

तस्यात्मजा विभ्रमहर्षदर्पास्तिस्रोऽरतिप्रीतितृपदच कन्याः ।
 प्रपच्छुरेनं मनसो विकारं स तांश्च ताश्चैव वचोऽभ्युवाच ॥३॥
 असौ मुनिर्निश्चयवर्म विभ्रत्सत्वायुर्धं बुद्धिशरं विकृष्य ।
 जिगीपुरास्ते त्रिपयान्मदीयान्तस्मादयं मे मनसो विपादः ॥४॥
 यदि ह्यसौ मामभिभूय याति लोकाय चाख्यात्यपवर्गमार्गम् ।
 शून्यस्ततोऽयं विपयो ममाद्य वृत्ताच्च्युतस्येव विदेहभर्तुः ॥५॥
 तद्यावदेवैप न लब्धचक्षुर्मद्गोचरं तिष्ठति याचदेव ।
 यास्यामि तावद् घृतमस्य भेत्तुं सेतुं नदीवेग इवातिवृद्धः ॥६॥
 ततो धनुः पुष्पमयं गृहीत्वा शरान् जगन्मोहकरांश्च पञ्च ।
 सोऽध्वत्थमूलं ससुतोऽभ्यगच्छदस्वास्थ्यकारी मनसः प्रजानाम् ॥७॥
 अथ प्रशान्तं मुनिमासनस्थं पारं तितीर्षुं भवसागरस्य ।
 विपज्य सच्यं करमायुधाग्रे क्रीडन् शरणेदमुवाच मारः ॥८॥
 उत्तिष्ठ भोः क्षत्रिय मृत्युभीत चरस्व धर्मं त्यज मोक्षधर्मम् ।
 वाणैश्च यज्ञैश्च विनीय लोकं लोकात्पदं प्राप्नुहि वासवस्य ॥९॥
 पन्था हि निर्यातुमयं यशस्यो यो वाहितः पूर्वतर्मनरन्दैः ।
 जातस्य राजर्षिकुले विशाले भिक्षाकमश्लाघ्यमिदं प्रपत्तुम् ॥१०॥
 अथाद्य नोत्तिष्ठसि निश्चितात्मन् भव स्थिरो मा विमुचः प्रतिज्ञाम् ।
 मयोद्यतो ह्येप शरः स एव यः शूर्पके मीनरिपौ विमुक्तः ॥११॥
 स्पृष्टः स चानेन कथंचिदेदः सोमस्य नप्ताप्यभवद्विचित्तः ।
 स चामवच्छन्तनुरस्वतन्त्रः क्षीणे युगे किं वत दुर्वलोऽन्यः ॥१२॥
 तत्क्षिप्रमुत्तिष्ठ लभस्व संज्ञां वाणो ह्ययं तिष्ठति लेलिहानः ।
 प्रियाविधेयेषु रतिप्रियेषु यं चक्रवाकेष्विव नोत्सुजामि ॥१३॥
 इत्थेवमुक्तोऽपि यदा निरास्थो नैवासनं शाक्यमुनिर्विभेद ।
 शरं ततोऽस्मै विससर्ज मारः कन्याश्च कृत्वा पुरतः सुतांश्च ॥१४॥
 तस्मिन्स्तु वाणेऽपि स विप्रमुक्ते चकार नास्थां न धृतेश्चचाल ।
 दृष्ट्वा तथैनं त्रिपसाद् मारश्चिन्तापरीतश्च शनैर्जगाद् ॥१५॥
 शैलेन्द्रपुत्रां प्रति येन विन्दो देवोऽपि शम्भुश्चलितो बभूव ।
 न चिन्तयत्येप तमेव वाणं किं स्यादचित्तो न शरः स एषः ॥१६॥
 तस्मादयं नार्हति पुष्पवाणं न हर्षणं नापि रतेर्नियोगम् ।
 अर्हत्ययं भूतगणैरसौम्यैः संत्रासनातर्जनताडनानि ॥१७॥
 सस्मार मारश्च ततः स्वसैन्यं विघ्नं शमं शाक्यमुनेश्चिकीर्षन् ।
 नानाश्रयाश्चानुचराः परीयुः शलद्रुमप्रासगदासिहस्ताः ॥१८॥
 वराहमीनाश्वखरोष्ट्रवक्त्रा व्याघ्रक्षिंसिंहद्विरदाननाश्च ।
 एकैक्षणो नैकमुखास्त्रिशीर्षा लम्बोदराश्चैव षुपोदराश्च ॥१९॥
 अजानुसक्था घटजानवश्च दंष्ट्रायुधाश्चैव नखायुधाश्च ।
 करंक्वक्त्रा बहुमूर्तयश्च भगनार्धवक्त्राश्च मरामुखाश्च ॥२०॥
 भस्मारुणा लोहितविन्दुचित्राः खट्वाङ्गहस्ता हरिभूष्मकेशाः ।
 लम्बस्त्रजो वारणलम्बकर्णाश्चर्माभ्वराश्चैव निरम्बराश्च ॥२१॥
 श्वेतार्धवक्त्रा हरितार्धकायास्ताम्राश्च धूम्रा हरयोऽसिताश्च ।
 व्यालोत्तरासङ्गभुजास्तथैव प्रसुष्टघण्टाकुलमेखलाश्च ॥२२॥

तालप्रमाणाश्च गृहीतशूला दंष्ट्राकरालाश्च शिशुप्रमाणाः ।
 उरभ्रवक्त्राश्च विहङ्गमाक्षा मार्जारवक्त्राश्च मनुष्यकायाः ॥२३॥
 प्रकीर्णकेशाः शिखिनोऽर्धमुण्डा रक्ताम्बरा व्याकुलवेष्टनाश्च ।
 प्रहृष्टवक्त्रा भृकुटीमुखाश्च तेजोहराश्चैव मनोहराश्च ॥२४॥
 केचिद् व्रजन्तो भृशमाववल्गुरन्योऽन्यमापुप्लुविरे तथान्ये ।
 चिक्रीडुराकाशगताश्च केचित्केचिच्च चेरुस्तरुमस्तकेषु ॥२५॥
 ननर्त कश्चिद् भ्रमयंस्त्रिशूलं कश्चिद्विपुस्फूर्जं गदां विकर्षन् ।
 हर्षेण कश्चिद् वृषवन्ननर्द कश्चित्प्रजज्वाल तनूरुहेभ्यः ॥२६॥
 एवंविधा भूतगणाः समन्तात्तद्बोधिमूलं परिवार्यं तस्थुः ।
 जिघृक्षवश्चैव जिघांसवश्च भर्तुर्नियोगं परिपालयन्तः ॥२७॥
 तं प्रेक्ष्य मारस्य च पूर्वरात्रे शाक्यर्षमस्यैव च युद्धकालम् ।
 न द्यौश्चकाशे पृथिवी चक्रम्पे प्रजज्ज्वलुश्चैव दिशः सशब्दाः ॥२८॥
 विष्वग्भवौ वायुरुदीर्णवेगस्तारा न रेजुर्न वमौ शशाङ्कः ।
 तमश्च भूयो विततान रात्रिः सर्वे च संचुक्षुभिरे समुद्राः ॥२९॥
 महीभृतो धर्मपराश्च नागा महामुनेर्विघ्नममृष्यमाणाः ।
 मारं प्रति क्रोधविवृत्तनेत्रा निःशश्वसुश्चैव जजृम्भिरे च ॥३०॥
 शुद्धाधिवासा विबुधर्षयस्तु सद्धर्मसिद्धयर्थमभिप्रवृत्ताः ।
 मारेऽनुकम्पां मनसा प्रचक्रुर्विरागभावान्तु न रोपमीयुः ॥३१॥
 तद् बोधिमूलं समवेक्ष्य क्रीर्णं हिंसात्मना मारवलेन तेन ।
 धर्मात्ममिलोक्तविमोक्षकामैर्बभूव हाहाकृतमन्तरीक्षे ॥३२॥
 उपप्लवं धर्मविधेस्तु तस्य दृष्ट्वा स्थितं मारवलं महर्षिः ।
 न चुक्षुभे नापि ययौ विकारं मध्ये गवां सिंह इवोपविष्टः ॥३३॥
 मारस्ततो भूतचमूसुदीर्णामाज्ञापयामास भयायं तस्य ।
 स्वैः स्वैः प्रभावैरथ सात्य सेना तद्दुर्धैर्यभेदाय मतिं चकार ॥३४॥
 केचिच्चलन्नैकविलम्बिजिह्वास्तीक्ष्णाग्रदंष्ट्रा हरिमण्डलाक्षाः ।
 विदारितास्याः स्थिरशङ्कुकर्णाः संत्रासयन्तः किल नाम तस्थुः ॥३५॥
 तेभ्यः स्थितेभ्यः स तथाविधेभ्यः रूपेण भावेन च दारुणेभ्यः ।
 न विव्यथे नोद्विगिजे महर्षिः क्रीडत्सु वालेभ्य इवोद्वतेभ्यः ॥३६॥
 कश्चित्ततो रोपविवृत्तदृष्टिस्तस्मै गदामुद्यमयांचकार ।
 तस्तम्म बाहुः सगदस्ततोऽस्य पुरंदरस्यैव पुरा सवज्रः ॥३७॥
 केचित्समुद्यम्य शिलास्तरुंश्च विपेहिरे नैव मुनौ विमोक्तुम् ।
 पेतुः सवृक्षाः सलिलास्तथैव वज्रावभग्ना इव विन्ध्यपादाः ॥३८॥
 कैश्चित्समुत्पत्य नभो विमुक्ताः शिलाश्च वृक्षाश्च परश्वधाश्च ।
 तस्थुर्नभस्यैव न चावपेतुः संध्याभ्रपादा इव नैकवर्णाः ॥३९॥
 चिक्षेप तस्योपरि दीप्तमन्यः कडङ्गरं पर्वतशृङ्गनात्रम् ।
 चन्मुक्तमात्रं गगनस्थमेव तत्त्वानुभावाच्छतधा पफाल ॥४०॥
 कश्चिज्ज्वलत्कर्क इयोदितः खादङ्गारवर्षं महदुन्मत्तजं ।
 चूर्णानि चार्मीकरकन्द्राणां कल्पात्यये नेरुरिय प्रदीप्तः ॥४१॥
 तद्बोधिमूले प्रविकीर्यमाणमङ्गारवर्षं तु न विस्तुलिङ्गन् ।
 नैत्रीविहारादपिस्तत्तमस्य बभूव रक्तोत्पलपत्रवर्षः ॥४२॥

शरीरचित्तव्यसनात्पैस्तैरेवंविधैस्तैश्च निपात्यमानैः ।
 नैवासनाच्छावयमुनिश्चाल स्वनिश्चयं वन्द्युमिवोपगुह्य ॥४३॥
 अधापरे निर्जिगिलुमुखेभ्यः सर्पान्विजीर्णैभ्यः इव द्रुमेभ्यः ।
 ते मन्त्रवद्धा इव तत्समीपे न शश्वसुनीत्ससृपुर्न चेलुः ॥४४॥
 भूत्वापरं वारिधरा वृहन्तः सविद्युतः साक्षानिचण्डघोषाः ।
 तस्मिन्द्रुमे तस्यसुरश्मवर्षं तत्पुष्पवर्षं रुचिरं वभूव ॥४५॥
 चापेऽथ बाणो निहितोऽपरेण जज्वाल तत्रैव न निष्पपात ।
 अनीश्वरस्यात्मनि धूयमानो दुर्मर्षणस्यैव नरस्य मन्युः ॥४६॥
 पञ्चेपवोऽन्येन तु त्रिप्रमुक्तास्तस्थुर्नभस्यैव सुनी न पेतुः ।
 संसारभीरोर्विषयप्रवृत्तां पञ्चेन्द्रियाणीव परीक्षकस्य ॥४७॥
 जिघांसयान्यः प्रससार रुष्टो गदां गृहीत्वामिसुखो महर्षेः ।
 सोऽप्राप्तकामो विचशः पपात द्रोपेप्विवानर्थकरंपु लोकः ॥४८॥
 स्त्री मेघकाली तु कपालहस्ता कर्तुं महर्षेः किल चित्तमोहम् ।
 वभ्राम तत्रानियतं न तस्थौ चलात्मनो बुद्धिरिवागमेपु ॥४९॥
 कश्चित्प्रदीप्तं प्रणिधाय चक्षुर्नत्राग्निनाभीविषवद्विधक्षुः ।
 तत्रैव नात्सीनमृपिं ददर्श कामात्मकः श्रेय इवोपदिष्टम् ॥५०॥
 गुर्वी शिलामुद्यमयंस्तथान्यः शश्राम मोघं विहतप्रयत्नः ।
 निःश्रेयसं ज्ञानसमाधिगम्यं कायकूर्मैर्धर्ममिवाप्तुकामः ॥५१॥
 तरक्षुसिंहाकृतयस्तथान्ये प्रणेदुरुच्चैर्महतः प्रणादान् ।
 सत्त्वानि यैः संसुकुलुः समन्ताद्ब्रह्माहता छाँः फलतीति मत्वा ॥५२॥
 मृगा गजाश्चार्तरवान् सृजन्तो विदुद्द्रुक्षुश्चैव निलिल्यिरं च ।
 रात्रौ च तस्यासहनीव द्विग्भ्यः खगा रुवन्तः परिपेतुरार्ताः ॥५३॥
 तेषां प्रणादस्तु तथाविधैस्तैः सर्वेषु भूतेष्वपि कम्पितेषु ।
 मुनिर्न तत्रास न संसुकोच रवैर्गरुत्मानिव वायसानाम् ॥५४॥
 भयावहेभ्यः परिपद्गणेभ्यो यथा यथा नैव मुनिर्विमाय ।
 तथा तथा धर्मभृतां सपत्नः शोकाच्च रोषाच्च ससाद मारः ॥५५॥
 भूतं ततः किञ्चिद्दृश्यरूपं विशिष्टभूतं गगनस्थमेव ।
 दृष्टुर्षये द्रग्धमचैरुष्टं मारं वभापे महता स्वरेण ॥५६॥
 मोघं श्रमं नार्हसि मार कर्तुं हिंसात्मतामुत्सृज गच्छ शर्म ।
 नैप त्वया कम्पयितुं हि शक्यो महागिरिर्मैरुखिवानिलेन ॥५७॥
 अप्युष्णभावं ज्वलनः प्रजह्यादापो द्रवत्वं पृथिवी स्थिरत्वम् ।
 अनेककल्पाचितपुण्यकर्मा न त्वेव जह्याद् व्यवसायमेपः ॥५८॥
 यो निश्चयो ह्यस्य पराक्रमश्च तेजश्च यथा च दया प्रजासु ।
 अप्राप्य नोत्थाह्यति तत्त्वमेप तमाह्वहत्वेव सहस्ररश्मिः ॥५९॥
 काष्ठं हि मथनन् लभते हुताशं भूमिं खनन्विन्दति चापि तोयम् ।
 निर्बन्धिनः किञ्चन नास्त्यसाध्यं न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम् ॥६०॥
 तल्लोकमार्तं करुणायमानो रोगेषु रागादिषु वर्तमानम् ।
 महाभिषङ् नार्हति विघ्नमेप ज्ञानोपधार्थं परिखिद्यमानः ॥६१॥
 हते च लोके बहुभिः कुमारैः सन्मार्गमन्विच्छति यः श्रमेण ।
 स दैशिकः क्षोभयितुं न युक्तं सुदेशिकः सार्थं इव प्रनष्टे ॥६२॥

सत्त्वेषु नष्टेषु महान्धकारे ज्ञानप्रदीपः क्रियमाण एषः ।
 आर्यस्य निर्वापयितुं न साधु प्रज्वाल्यमानस्तमसीव दीपः ॥६३॥
 दृष्ट्वा च संसारमये महौघे मग्नं जगत्पारमविन्दमानम् ।
 यश्चेदमुत्तारयितुं प्रवृत्तः कश्चिन्तयेत्तस्य तु पापमार्यः ॥६४॥
 क्षमाशिफो धैर्यविगाढमूलश्चारित्रपुष्पः स्मृतिर्बुद्धिशाखः ।
 ज्ञानद्रुमो धर्मफलप्रदाता नोत्पाटनं ह्यर्हति वर्धमानः ॥६५॥
 बद्धां दृढैश्चेतसि मोहपाशैर्यस्य प्रजां मोक्षयितुं मनीषा ।
 तस्मिन् जिघांसा तव नोपपन्ना श्रान्ते जगद्बन्धनमोक्षहेतोः ॥६६॥
 बोधाय कर्माणि हि यान्यनेन कृतानि तेषां नियतोऽद्य कालः ।
 स्थाने तथास्मिन्नुपविष्ट एष यथैव पूर्वं मुनयस्तथैव ॥६७॥
 एषा हि नामिर्वसुधातलस्य कृत्स्नेन युक्ता परमेण धाम्ना ।
 भूमेरतोऽन्योऽस्ति हि न प्रदेशो वेगं समाधेर्विपहेत १योऽस्य ॥६८॥
 तन्मा कृथाः शोकमुपेहि शान्तिं मा भून्महिम्ना तव मार मानः ।
 विश्रम्भितुं न क्षममध्रुवा श्रीश्वले पदे किं मदमभ्युपैपि ॥६९॥
 ततः स संश्रुत्य च तस्य तद्वचो महामुनेः प्रेक्ष्य च निष्प्रकम्पताम् ।
 जगाम मारो विमनो हतोद्यमः शरैर्जगच्चेतसि यैर्विहन्यते ॥७०॥
 गतप्रहर्षा विफलीकृतश्रमा प्रविद्धपापाणकडङ्गरद्रुमा ।
 दिशः प्रदुद्राव ततोऽस्य सा चमूर्हताश्रयेव द्विपता द्विपचमूः ॥७१॥
 द्रवति सपरिपक्षे निर्जिते पुष्पकेतौ
 जयति जिततमस्के नीरजस्के महर्षौ ।
 युवतिरिव सहासा द्यौश्चकाशे सचन्द्रा
 सुरभि च जलगर्भं पुष्पवर्षं पपात ॥७२॥
 तथापि पापीयसि निर्जिते गते दिशः प्रसेदुः प्रवभौ निशाकरः ।
 दिवो निपेतुर्मुचि पुष्पवृष्टयो रराज योपेव विकल्मपा निशा ॥७३॥

परिशिष्ट—५

ललितविस्तरे

मारदुहितृकृतं बोधिसत्त्वप्रलोभनम्

अथ ता मारदुहितरो भूयस्या मात्रया बोधिसत्त्वस्य सुलोमार्धमिमा गाथा अभापन्त—
 सुवसन्तके ऋतुवरे आगतके रतिमो प्रिया फुल्लित-पादपके ।
 तव रूप सुरूप सुशोभनको वशवर्ति-सुलक्षण विचित्रितको ॥१॥
 वयं जात सुजात सुसंस्थितिकाः सुखकारण देव-नराण यमन्तु तिकाः ।
 उत्थि लघु परिभुञ्ज सुयौवनकं दुर्लभ बोधि निवर्तय माननकं ॥२॥
 प्रेक्षसि ताव इमा मरुकन्य सुलङ्कृतिकाः तव कारण नञ्जिन भूपित आगतिवाः ।
 को रूपमिमं समवेक्ष्य न रज्जति रागरतो अपि जर्जरकाष्ठयमोपितर्जायमः ॥३॥
 केश मृदू सुरभी वरगन्धिनिका मुकुट कुण्डल पत्र विदोषित आनदिवाः ।
 सुललाट सुलेपन आननिकाः पद्म-विशुद्ध-विशाल-सुलोचनिकाः ॥४॥
 परिपूरित-चन्द्रनिभातनिकाः विन्द-सुपवचनिनाधरिकाः ।
 शङ्खकुन्दहिमशुक्ल-सुदन्तनिकाः प्रेक्ष कान्त रति-लालसिवाः ॥५॥

जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा । हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्कमिवापितम् ॥४९॥
 तद्दीयास्तोत्रदेव्यद्य पुष्करावर्तकादिषु । अभ्यस्यन्ति तटाघातं निजितैरावता गजाः ॥५०॥
 तदिच्छामो विभो सप्तुं सेनान्यं तस्य शान्तये । कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्यैव मुमुक्षवः ॥५१॥
 गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रमित् । प्रत्यानेप्यति शत्रुभ्यो बन्दीमिव जयश्रियम् ॥५२॥
 वचस्ववसिते तस्मिन्ससर्ज गिरमात्मभूः । गर्जितानन्तरं वृष्टिं सौभाग्येन जिगाथ सा ॥५३॥
 संपत्स्यते वः कामोऽयं कालः कश्चित्प्रतीक्ष्यताम् । न त्वस्य सिद्धौ यास्यामि सर्गव्यापारमात्मना ॥५४॥
 इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीनेत एवार्हति क्षयम् । विपवृक्षोऽपि संवर्ध्व स्वयं छेत्तुमसांप्रतम् ॥५५॥
 वृत्तं तेनेदमेव प्राड् मया चास्मै प्रतिश्रुतम् । वरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्पः ॥५६॥
 संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः । अंशाद्वते निपिक्तस्य नीललोहितरंतसः ॥५७॥
 स हि देवः परं ज्योतिस्तमः पारं व्यवस्थितम् । परिच्छिन्नप्रभावद्विर्न मया न च विष्णुना ॥५८॥
 उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः । शम्भोर्यतध्वमाकृष्टमयस्कान्तं लोहवत् ॥५९॥
 उभे एव क्षमे बोद्धुमुभयोर्वीजमाहितम् । सा वा शम्भोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ॥६०॥
 तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः । मोक्ष्यते सुरवन्दीनां वेणीर्वीर्यविभृतिभिः ॥६१॥
 इति व्याहृत्य विबुधान्विश्वयोनिस्तिरोदधे । मनस्याहितकर्तव्यास्तोऽपि देवा दिवं ययुः ॥६२॥
 तत्र निश्चित्य कन्दर्पमगमत्पाकशासनः । मनसा कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा ॥६३॥
 अथ स ललितयोपिद्भ्रूलता चारुदृगं रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे ॥
 सहचरमधुहस्तन्यस्तचृताङ्कुरास्रः शतमखमुपतस्थे प्राङ्गलिः पुष्पधन्वा ॥६४॥

कुमारसंभवे

तृतीयः सर्गः

तस्मिन्मघोनस्त्रिदशान् विहाय सहस्रमक्षणां युगपत्पपात ।
 प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु ॥१॥
 स वासवेनासनसंनिकृष्टमितो निपीदेति विसृष्टभूमि ।
 मर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मूर्ध्ना वक्तुं मियः प्राक्रमतैवमेनम् ॥२॥
 आज्ञापय ज्ञातविशेषं पुंसां लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति ।
 अनुग्रहं संस्मरणप्रवृत्तमिच्छामि संवर्धितमाज्ञया ते ॥३॥
 केनाभ्यसुया पदकाङ्क्षिणा ते नितान्तदोषवर्जनिता तपोभिः ।
 यावद्भवत्याहितसायकस्य मत्कार्मुकस्यास्य निदेशवर्ता ॥४॥
 असंमतः कस्तव मुक्तिमार्गं पुनर्मवक्लेशमयात्प्रपन्नः ।
 वदश्विरं तिष्ठतु सुन्दरीणामारं चितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः ॥५॥
 अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिद्विपस्ते ।
 कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोव इव प्रवृद्धः ॥६॥
 कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
 नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलजां कण्ठे स्वयं ग्राहनिपक्तवाहुम् ॥७॥
 कयासि कामिन्सुरतापराधात्पादानतः कोपनयावधृतः ।
 तस्याः करिष्यामि दृढानुतापं प्रधालराज्याशरणं शरीरम् ॥८॥
 प्रसीद विश्राम्यतु वीर ! वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुरारिः ।
 विभेतु मोघीकृतवाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताऽधराभ्यः ॥९॥
 तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
 कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥१०॥

अथोरुदेशाद्वतार्य पादमाक्रान्तिसंभावितपादपीठम् ।
 सङ्कल्पितार्थं विवृतात्मशक्तिमाखण्डलः काममिदं वभापे ॥११॥
 सर्वं सखे ! त्वय्युपपन्नमेतदुभे ममास्त्रे कुलिशं भवौश्च ।
 वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कण्ठं त्वं सर्वतो गामि च साधकं च ॥१२॥
 अवैमि ते सारमतः खलु त्वां कार्यं गुरुण्यात्मसमं नियोक्ष्ये ।
 व्यादिश्यते भूधरतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्देहनाय शेषः ॥१३॥
 आशंसता वाणगतिं वृषाङ्के कार्यं त्वया नः प्रतिपन्नकल्पम् ।
 निबोध यज्ञांशभुजामिदानीमुच्चैर्द्विपामीप्सितमेतदेव ॥१४॥
 अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुदन्ति देवाः ।
 स च त्वदेकेषुनिपातसाध्यो ब्रह्माङ्गभूर्ब्रह्मणि योजितात्मा ॥१५॥
 तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व ।
 योषित्सु तद्वीर्यनिपेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम् ॥१६॥
 गुरोर्निथोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम् ।
 अन्वास्त इत्यप्सरसां मुखेभ्यः ध्रुतं मया मत्प्रणिधिः स वर्गः ॥१७॥
 तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाव्य एव ।
 अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वां वीजाङ्कुरः प्रागुद्रयादिवाम्मः ॥१८॥
 अस्मिन्सुराणां विजयाभ्युपाये तवैव नामास्त्रगतिः कृतीत्वम् ।
 अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म ॥१९॥
 सुराः समभ्यर्थयितार एते कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम् ।
 चापेन ते कर्म न चातिहिंस्रमहो वतासि स्पृहणीयवीर्यः ॥२०॥
 मधुश्च ते मन्मथ साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।
 समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ॥२१॥
 तथेति शेषामिव भर्तुराज्ञामादाय मूर्ध्ना मदजः प्रतस्थे ।
 ऐरावतास्फालनकर्कशेन हस्तेन पस्पर्शं तद्गङ्गामिन्द्रः ॥२२॥
 स माधवेनाभिमतेन सख्या रत्या च माशङ्कमनुप्रयातः ।
 अङ्गव्ययप्रार्थितकार्यसिद्धिः स्थाण्वाश्रमं हैमवतं जगाम ॥२३॥
 तस्मिन्वने संयमिनां मुनिनां तपःसमाधेः प्रतिकूलवर्ती ।
 सङ्कल्पयोनेरभिमानभूतमान्मानमाधाय मधुर्जजृम्भे ॥२४॥
 कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समर्थं विल्लह्य ।
 दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिध्यासमियोत्समर्ज ॥२५॥
 असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धान्प्रभृत्यैव न्यपत्न्यानि ।
 पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमासिञ्जितनृपुंण ॥२६॥
 सद्यः प्रवालोद्गमचास्पत्रे नीते समाप्तिं नवचूतवाणे ।
 निवेशयामास मधुहिरैफाज्ञामाक्षराणीय मनोभवस्य ॥२७॥
 वर्णप्रकर्षे सति कणिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
 प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखो विश्वमृजः प्रयुक्तिः ॥२८॥
 बालेन्दुवक्त्राप्यविकासमादाद् दभुः पलानान्यतिलोहितानि ।
 सद्यो वसन्तेन समागतानां नन्दक्षतानीय वनन्यलीनः ॥२९॥
 लग्नहिरैफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुधीन्तिलकं प्रवाच्य ।
 राणेण बालारणकोमलेन चूतप्रवालौष्टमलंचकार ॥३०॥

मृगाः प्रियालङ्गममञ्जरीणां रजःकणैर्विघ्नितदृष्टिपाताः ।
 मदोद्धताः प्रत्यनिलं विचेरूर्ध्वनस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः ॥३१॥
 चूताङ्कुरास्वादकपायकण्ठः पुँस्कोकिलो यन्मधुरं लुक्ज ।
 मनस्विनीमानविघातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥३२॥
 हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डुरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
 स्वेदोद्गमः किंपुरुपाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥३३॥
 तपस्विनः स्थाणुवनौकसस्तामाकालिकीं वीक्ष्य मधुप्रवृत्तिम् ।
 प्रयत्नसंस्तम्भितविक्रियाणां कथंचिदीशा मनसां बभूवुः ॥३४॥
 तं देशमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने ।
 काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवदुः ॥३५॥
 मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
 शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥३६॥
 ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूपजलं करेणुः ।
 अधोपभुक्तेन विसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ॥३७॥
 गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किञ्चित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
 पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरूपश्रुचुम्बे ॥३८॥
 पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्यवालौष्टमनोहराभ्यः ।
 लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजवन्धनानि ॥३९॥
 श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
 आत्मेश्वराणां नहि जातु चित्ता समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥४०॥
 लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठापितहेमवेत्रः ।
 मुखापितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्वयनैपीत् ॥४१॥
 निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं भूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम् ।
 तच्छासनात्काननमेव सर्वं चित्रापितारम्ममिवावतस्थे ॥४२॥
 दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयाणे ।
 प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश ॥४३॥
 स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम् ।
 आसीनमालन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥४४॥
 पर्यङ्कवन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितोभयांसम् ।
 उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्गमध्ये ॥४५॥
 भुजङ्गमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम् ।
 कण्ठप्रभासंगविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥४६॥
 किञ्चित्प्रकाशास्तमितोप्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः ।
 नेत्रैरविस्पन्दितपक्षममालैर्लक्ष्यीकृतप्राणमधोमयूखैः ॥४७॥
 अवृष्टिसंरम्ममिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम् ।
 अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥४८॥
 कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।
 मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्द्रोः ॥४९॥
 मनोनवद्वारनिपिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
 यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥५०॥

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम् ।
नालक्ष्ययत्साध्वससन्नहस्तः स्वस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥५१॥
निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संशुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन ।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥५२॥
अशोकनिर्भस्मितपद्मारागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥५३॥
आवर्जिता किञ्चिद्विव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ॥५४॥
स्वस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः कंसरदामकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वी द्वितीयामिव कामुर्कस्य ॥५५॥
सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं त्रिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥५६॥
तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि हीपदमादधानाम् ।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशदांसे ॥५७॥
भविष्यतः पत्युरुमा च शम्भोः समाससाद् प्रतिहारभूमिम् ।
योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराज ॥५८॥
ततो भुजङ्गाधिपतेः फणाग्रैरधः कथञ्चिद् धृतभूमिभागः ।
शनैः कृतप्राणविमुक्तिरीशः पर्यङ्कवन्धं निविडं विभेद ॥५९॥
तस्मै शशंस प्रणिपत्य नन्दी शुश्रूषया शैलसुतामुपेताम् ।
प्रवेशयामास च भर्तुरनां भ्रूक्षेपमात्रानुमतप्रवेशाम् ॥६०॥
तस्याः सखीभ्यां प्रणिपातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्ययस्य ।
व्यकीर्यत इयम्बकपादमूले पुष्पोच्चयः पल्लवमङ्गभिन्नः ॥६१॥
उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्त्रंसयन्ती नवकर्णिकारम् ।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं घृपभध्वजाय ॥६२॥
अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति सा तथ्यमेवाभिहिता भवेन ।
न हीश्वरज्याहृतयः कदाचिन्पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥६३॥
कामस्तु वाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवद् वह्निमुग्धं विविधुः ।
उमासमक्षं हरयद्वलक्ष्यः शराग्नज्यां मुहुराममर्गं ॥६४॥
अथोपनिन्द्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण ।
विशोपितां भानुमतो मयूखैर्मन्दाकिर्नापुष्करवीजमालाम् ॥६५॥
प्रतिग्रहीतुं प्रणथिप्रियन्वान् त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च ।
सन्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त वाणम् ॥६६॥
हरस्तु किञ्चिन्परिलुप्तधैर्यैश्चन्द्रोदयारम्भ दृश्यान्वुगादिः ।
उमामुखे विम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयानाम् त्रिलोचनानि ॥६७॥
विवृषवती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्दालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरं तस्यां मुखेन पर्यस्तत्रिलोचनेन ॥६८॥
अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्रः पुनर्वर्गित्वाद् बलवत्सिन्धुः ।
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिग्भ्रुविंशानुपान्तेषु समजं दृष्टिम् ॥६९॥
सदक्षिणापाङ्गनिवृष्टमुष्टिं नतांममाकुञ्चितसम्पदात्म् ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहृतंमभ्युद्यतनाग्नयोनिम् ॥७०॥

तपःपरामर्शविबुद्धमन्योर्भूमङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य ।
 स्फुरन्नुदधिः सहसा तृतीयादक्षणः कृशानुः किल निष्पपात ॥७१॥
 क्रोधं प्रमो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
 तावत्स वह्निर्मवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥७२॥
 तीव्राभिपङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
 श्रजातमर्तुव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्वभूव ॥७३॥
 तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी घनस्पतिं वज्र इवावभज्य ।
 स्त्रीसन्निकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ॥७४॥
 शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽमिलापं व्यथं समर्थं ललितं वपुरात्मनश्च ।
 सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा शून्या जगाम भवनामिमुखी कथञ्चित् ॥७५॥
 सपदि सुकुलिताक्षीं रुद्रसंस्ममीत्या दुहितरमनुकल्प्यामद्रिरादाय दोष्याम् ।
 सुरगज इव विभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नां प्रतिपथगतिरासीद्रेगदीर्घाकृताङ्गः ॥७६॥

परिशिष्ट—७

ज्ञानार्णव (११,११-४८)

विरज्य कामभोगेषु ये ब्रह्म समुपासते ।
 एते दश महादोपास्तैस्स्याज्या भावशुद्धये ॥११॥
 स्मरप्रकोपसंभूतान् स्त्रीकृतान्मैथुनोत्थितान् ।
 संसर्गप्रभवान् ज्ञात्वा दोषान् स्त्रीषु विरज्यताम् ॥१२॥
 सिक्तोऽप्यम्बुधरघातैः प्लावितोऽप्यम्बुराशिमिः ।
 न हि त्यजति संतापं कामवह्निप्रदीपितः ॥१३॥
 मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि भास्करः ।
 न प्रोपति तथा लोकं यथा दीप्तं स्मरानलः ॥१४॥
 हृदि ज्वलति कामाग्निः पूर्वमेव शरीरिणाम् ।
 भस्मसात्कुरुते पश्चाद्भ्रोपाङ्गानि निर्द्दयः ॥१५॥
 अचिन्त्यकामभोगीन्द्रविषव्यापारमूर्च्छितम् ।
 वीक्ष्य विश्वं विवेकाय यतन्ते योगिनः परम् ॥१६॥
 स्मरव्यालविपोद्गारैर्वीक्ष्य विश्वं कदर्थितम् ।
 यमिनः शरणं जग्मुर्विवेकविनतासुतम् ॥१७॥
 एक एव स्मरो वीरः स चैकोऽचिन्त्यविक्रमः ।
 श्रवज्ञयैव येनेदं पादपीडीकृतं जगत् ॥१८॥
 एकाक्यपि नयत्येप जीवलोकं चराचरम् ।
 मनोभूर्भङ्गमानीय स्वशक्त्याऽव्याहतक्रमः ॥१९॥
 पीडयत्येव निःशङ्को मनोभूर्भुवनत्रयम् ।
 प्रतीकारशक्तेनापि यस्य भङ्गो न भूतले ॥२०॥
 कालकृदादहं मन्ये स्मरसंज्ञं महाविषम् ।
 स्यात्पूर्वं सप्रतीकारं निःप्रतीकारमुत्तरम् ॥२१॥
 जन्तुजातमिदं मन्ये स्मरवह्निप्रदीपितम् ।
 मज्जत्यगाधमध्यास्य पुरन्ध्रीकायकर्द्दमम् ॥२२॥

अनन्तव्यसनासारदुर्गे भवमरुस्थले ।
 स्मरज्वरपिपासार्त्ता विपद्यन्ते शरीरिणः ॥२३॥
 घृणास्पदमतिक्रूरं पापाढ्यं योगिदूषितम् ।
 जनोऽयं कुरुते कर्म स्मरशार्दूलचर्वितः ॥२४॥
 दिग्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्तं शङ्किताशयम् ।
 विलक्ष्यं कुरुते लोकं स्मरवैरिविजृम्भितः ॥२५॥
 न हि क्षणमपि स्वस्थं चेतः स्वप्नेऽपि जायते ।
 मनोभवशरव्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम् ॥२६॥
 जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
 लोकः कामानलज्वालाकलापकवलीकृतः ॥२७॥
 भोगिदृष्टस्य जायन्ते वेगाः ससैव देहिनः ।
 स्मरभोगीन्द्रदृष्टानां दश स्युस्ते भयानकाः ॥२८॥
 प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
 तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥२९॥
 पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भुक्तं न रोचते ।
 सप्तमे स्थान्महामूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥३०॥
 नवमे प्राणसन्देहो दशमे मुच्यतेऽसुमिः ।
 एतैर्वेगैः समाक्रान्तो जीवस्तत्त्वं न पश्यति ॥३१॥
 सङ्कल्पवशतस्तीव्रा वेगा मन्दाश्च मध्यमाः ।
 कामज्वरप्रकोपेन प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥३२॥
 अपि मानसमुत्तुङ्गनगशृङ्गाग्रवर्तिनाम् ।
 स्मरवीरः क्षणाद्धैन विधत्ते मानखण्डनम् ॥३३॥
 शीलशालमतिक्रम्य धीधनैरपि तन्यते ।
 दासत्वमन्यजस्त्रीणां संभोगाय स्मराज्ञया ॥३४॥
 प्रवृद्धमपि चारित्रं ध्वंसयत्याशु देहिनाम् ।
 निरुणद्धि श्रुतं सत्यं धैर्यं च मदनव्यथा ॥३५॥
 नासने शयने याने स्वजने भोजने स्थितम् ।
 क्षणमात्रमपि प्राणो प्राप्नोति स्मरशाल्यतः ॥३६॥
 वित्तवृत्तबलस्यान्तं स्वकुलस्य च लाञ्छनम् ।
 मरणं वा समीपस्थं न स्मरार्त्तः प्रपश्यति ॥३७॥
 न पिशाचोरगा रोगा न दैत्यग्रहराक्षसाः ।
 पीडयन्ति तथा लोकं यथाऽयं मदनज्वरः ॥३८॥
 घनासाद्य जनः कामी कामिनीं हृदयप्रियाम् ।
 विपशस्त्रानलोपायैः सद्यः त्वं हन्तुमिच्छति ॥३९॥
 दक्षो मूढः क्षमी क्षुद्रः दूरो भीरुर्गुरुलघुः ।
 तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो जनः स्यात् स्मरवञ्चितः ॥४०॥
 कुर्वन्ति वनितार्हेतोरचिन्त्यमपि साहसम् ।
 नराः कामहृत्कारविधुरीकृतमानसाः ॥४१॥
 उन्मूल्यत्यविभ्रान्तं पूज्यं धीधर्मपादपम् ।
 मनोभवमहादन्ती मनुष्याणां निरहुनः ॥४२॥

प्रकृष्यति नरः कामी बहुलं ब्रह्मचारिणे ।
 जनाय जाग्रते चौरौ रजन्यां सञ्चरन्निव ॥४३॥
 स्नुपां श्वश्रू सुतां धात्रीं गुरुपत्नीं तपस्विनीम् ।
 तिरश्चीमपि कामार्तो नरः स्त्रीं भोक्तुमिच्छति ॥४४॥
 किं च कामशरव्रातजरेण मनसि स्थितम् ।
 निमेषमपि ब्रह्माति न विवेकसुधारसः ॥४५॥
 हरिहरपितामहाद्या बलिनांऽपि तथा स्मरणं विध्वस्ताः ।
 त्यक्तत्रपा यथैते स्वाङ्गाद्वारीं न मुञ्चन्ति ॥४६॥
 यदि प्रासं त्वया मूढ नृत्वं जन्मोत्सङ्गमात् ।
 तदा तत्कुरु श्रेनेयं स्मरज्वाला विलीयते ॥४७॥
 स्मरदहनसुतीव्रानन्तसंतापविद्धं भुवनमिति समस्तं व्रीक्ष्य योगिप्रवीराः ।
 विगतविषयसंगाः प्रत्यहं संश्रयन्ते प्रशमजलधितरीं संयमारामरम्यम् ॥४८॥

कामतत्त्व (ज्ञानार्णव २१, २६)

यदि पुनरसौ सकलजगच्चमत्कारिकार्मुकास्पदनिवेशितमण्डलीकृतसरसेक्षुकाण्डस्वरसहितकुसुमसायक-
 विधिलक्ष्मीकृतदुर्लभमोक्षलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठितकठोरतरसुनिमनाः स्फुरन्मकरकेतुः कमनीयसकलललना-
 वृन्दवन्दितसौन्दर्यरतिकैलिकलापदुर्ललितचेताश्रतुरश्चेष्टितभ्रूमङ्गमात्रवशीकृतजगत्त्रयस्त्रैणसाधनो दुरधिगमा-
 गाधगहनरागसागरान्तर्दोलितसुरासुरनरभुजगयक्षसिद्धगन्धर्वविद्याधरादिवर्गः स्त्रीपुरुषभेदमिन्नसमस्तसत्त्व-
 परस्परमनःसंघटनसूत्रधारः विविधवनराजिपरिमलपरिमिलितमधुकरकुलविकसितकुसुमस्तवकतरलितकटाक्ष-
 प्रकटसौभाग्येन सहकारलताकिसलयकरोन्मुक्तमञ्जरीपरागापिष्टातकपिशुनितप्रवेशोत्सवेन मदमुखरमधुकरकुटुम्बि-
 नीकोमलालापसंवलितमांसलितकोकिलाकुलकण्ठकारसंगीतकप्रियेण मलयगिरिमेखलाघनकृतनिलयचन्द्रन-
 लतालाल्योपदेशकुशलैः सुरतभरशिवन्नपन्नगनितम्बिनीजनवदनकवलितशिखरैरपि विरहिणीनिश्वासमांसली-
 कृतकायैः केरलीकुरलान्दोलनदक्षैरुत्कस्मितकुन्तलकामिनीकुन्तलैः परिगतसुरतखेदोन्मिपितलाटीललाट-
 खेदाम्बुकाणिकापानदोहद्वन्द्विरासादितानेकनिर्झरशिशिरशीकरैर्वकुलामोदसन्दर्भनिर्भरैः परिलुण्ठितपाटला-
 सौरभैः परिमिलितनवमालिकामोदमन्दसंचरणशीलैराकुलीकृतसकलभुवनजनमनोमिर्मलयमारुतैः समु-
 ह्यसितसौभाग्येन वसन्तसुहृदाद्रमारोपितप्रतापः प्रारब्धोत्तमतपस्तपनश्रान्तमुनिजनप्राथितप्रवेशोत्सवेन
 स्वर्गापवर्गद्वारसंविघटनवज्रागलः सकलजगद्विजयवैजयन्तीकृतचतुरकामिनीभ्रूविभ्रमः क्षोभणादि-
 मुद्राविशेषशाली सकलजगद्वशीकरणसमर्थः इति चिन्त्यते तदायमात्मैव कामोक्तिविषयतामनुभवतीति
 कामतत्त्वम् ॥ १६॥

अर्थबोधक टिप्पणा

सन्धि—१

१, ३, २ इन्द्रियदलण विसहसेण—होना चाहिए इन्द्रियदलण विसहसेण । किन्तु सभी मूल प्रतियोंमें निर्विभक्तिक होनेसे उन पदोंको विभक्तिलोपनी आधुनिक भाषासम्बन्धी प्रवृत्तिके उदाहरण समझ उन्हें जैसाका-तैसा रहने दिया गया है ।

विसहसेण (वृषभसेन) प्रथम तीर्थकर आदिनाथके गणधर थे । प्रस्तुत काव्यके नायक जिनेन्द्रसे कविका अभिप्राय इन्हीं आदि तीर्थकरसे है, जैसा कि काव्यके अन्तिम कडवकसे भी स्पष्ट होता है ।

१, ३, ४ सदासह-विसेसयरु—ऐसा समासयुक्त पद होना चाहिए जो लक्षण (लक्षण) अर्थात् व्याकरण शास्त्रका विशेषण है । प्रतियोंमें ऐसे समासके मध्य भी उ विभक्ति लगी हुई पायी जाती है ।

१, ३, ५ धिट्टिम-धिट्टिय—(धृष्ट्या) उचित पाठ प्रतीत होता है । या यहाँ तृतीया विभक्तिका लोप समझना चाहिए ।

१, ४, २ मइं विग्गहु पुणु चइरु जाणिउ—यहाँ कविने श्लेष-द्वारा अपनी विद्वत्ता-सम्बन्धी विनय प्रकट की है । विग्रहसे विद्वान् समास-विग्रहका अर्थ समझते हैं, किन्तु व्याकरणका ज्ञान न होनेसे मैं तो विग्रहका एक मात्र सामान्य अर्थ वैर ही जानता हूँ, यह कविका अभिप्राय है ।

१, ४, ३ देहसरिसु परभाउ माणिउ—इसके अर्थमें कुछ अस्पष्टता है । प्रसंगको देखते हुए यहाँ भी 'परभाव' शब्दमें सम्भवतः कुछ श्लेष है । जैसे विग्रहके समासका विग्रह और वैर ये दो अर्थ कविने सूचित किये हैं, वैसे ही परभावमें व्याकरण सम्बन्धी सन्धिनियम पररूपादेशका भी संकेत हो तो आश्चर्य नहीं ।

१, ५, २ उच्छुदण्डकोवंडमंडिउ—मदनके धनुषकी यष्टि इधुदंडकी बनी है जिससे उनमें एक मिठास है । यह कल्पना कामदेवके समस्त परिग्रहके अनुकूल है ।

१, ५, ४ रइपीयहि—के स्थानपर रइ-पीइहि (रति और प्रीति सहित) पाठ अधिक शुद्ध होगा ।

१, ५, ४ सम्माणु—समानम् । यहाँ म का द्वित्व केवल छन्दके लिए उनमें पूर्व स्वरमें सुगम प्राप्त करनेके लिए किया गया है ।

१, ५, ५ वर-अस्थाणु—अर्थकी दृष्टिसे यहाँ सप्तमी विभक्ति अपेक्षित होनेसे पाठ 'अस्थाणि' होना चाहिए, किन्तु पूर्व चरणके अन्तिम पद 'सम्माणु' के साथ यमक मिलानेके लिए उसे उ विभक्तियुक्त रखा गया है ।

१, ६, १ सल्ल गारव—आदि । यहाँ कामदेवके सैनिकोंके रूपमें सब विकार गिनाये गये हैं जो जैन सदाचारमें जीवके सञ्चारित्रमें दूषण उत्पन्न करते हैं ।

शल्य—तीन है—मिथ्यात्व, माया और निदान । झूठे, ज्ञानका नाम मिथ्यात्व है । मन, वचन और कायकी वक्रताका नाम माया है, तथा अपनी धर्मनाथनाके फलस्वरूप किसी नागारिक विपदाभिलाषका नाम निदान है । ये जीवके हृदयमें काँटे-जैसे चुभते रहनेसे शल्य कहे गये हैं ।

गारव—भी तीन है—ऋद्धि, रस और सात । ऋद्धिमें, मिद्धियोंकी मत्स्व देना ऋद्धिगारव है । मीठे, खट्टे आदि पदार्थोंको आहारमें महत्त्व देना रसगारव है, तथा मद्य, आगत अग्निसे सुप्त-सृष्टियोंकी महत्त्व देना सात गारव है । ये तीनों बानें मुनियोंके लिए वर्ज्य हैं ।

कम्म—कर्मके मुख्य भेद आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोक्षणीय, अमरणीय, नाम, भाव, गोप और वेदनीय । इनमें-से पुनः प्रत्येकके क्रमशः पाँच, नौ, अष्टादश, पाँच, त्रिंशत्, चार, दो और दो भेद होनेसे कर्म-प्रकृतियोंकी संख्या १४८ हो जाती है । इनमें-से भी अनेकोंके ज्ञाना भेद होनेसे उनकी संख्या और

भो बाधक हाता ह ।

मिच्छुत्त—(मिथ्यात्व) यह यथार्थतः मोहनीय कर्मका एक भेद है । तथापि प्रधानताकी दृष्टिसे उसे यहाँ एक स्वतंत्र योद्धा स्वीकार कर उसकी प्रवृत्तताके कारण उसे कामदेवका एक प्रधान सेनापति माना गया है । मिथ्यात्व पाँच प्रकारका कहा गया है—एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान और विनय । वस्तु नाना धर्मोंकी अपेक्षा अनेकान्तात्मक है । उनमेंसे किसी एक ही धर्मको स्वीकार कर शेषके सद्भावकी अपेक्षा नहीं रखना एकान्त मिथ्यात्व है । जैसे द्रव्य सत्तामात्रकी अपेक्षा एक तथा जड़-चेतनकी अपेक्षा दो प्रकार है । तथापि उसे एक ही मानना एकान्त है । जीव और उसका शरीर इनके पृथक् दो तत्त्व होते हुए देहको ही जीव मानना विपरीत मिथ्यात्व है । वस्तु स्वरूप जैसा शास्त्रमें बतलाया है वैसा है या नहीं, शायद वह ऐसा हो या शायद वैसा हो, इस प्रकार मनकी दुविधाका नाम संशय है । वस्तुकी सर्वथा अज्ञानकारी अज्ञान है । तथा विवेकहीनतासे सभी बातोंको समान सम्मान प्रदान करना पूज्योंकी औपचारिक पूजा-अर्चा करना तथा अज्ञानपूर्वक व्रत, संयम, पालन करना वैनयिक मिथ्यात्व है ।

दोष—(दोष) जिन अठारह दोषोंसे संसारी जीव ग्रस्त हैं और मुक्तात्माएँ रहित हैं, वे ये हैं—
१. क्षुधा, २. तृषा, ३. जरा, ४. आतंक, ५. जन्म, ६. मरण, ७. भय, ८. स्मय, ९. राग, १०. द्वेष, ११. मोह, १२. चिन्ता, १३. रति, १४. निद्रा, १५. विस्मय, १६. मद, १७. स्वेद और १८. खेद ।

आसन्न—(आसन्न) जीवके साथ कर्मोंके सम्पर्क होनेको आसन्न कहते हैं । इसके मुख्य दो भेद हैं—द्रव्यासन्न और भावासन्न । जीव-प्रदेशोंके साथ कर्म-प्रदेशोंका संयोग द्रव्यासन्न है, तथा उसके कारणीभूत मिथ्यात्व, अविरति, कपाय, प्रमाद और योग भावासन्न हैं । मिथ्यात्वका स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है । हिंसादि पापोंके त्यागका अभाव अविरति है । क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कपाय हैं । कपायोंके मन्द उदय रूप स्त्री, राष्ट्र, भोजन व राज सम्बन्धी चार विकथा, चार संज्वलन कपाय, पाँच इन्द्रियोंके विषय, निद्रा और स्नेह ये पन्द्रह प्रकार प्रमादके हैं । मन, वचन और कायकी क्रियाको योग कहते हैं ।

विषय—(विषय) पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ।

क्रोध और लोभ ये दोनों कपायके ही भेद हैं ।

रुद्र—(रौद्र-आर्त) ये दोनों कुध्यान हैं । हिंसा, चोरी आदि पाप करनेमें जो चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है वह रौद्र ध्यान तथा इष्टकी प्राप्ति व अनिष्टके निवारणके लिए जो चिन्तन होता है वह आर्त ध्यान कहलाता है ।

मद—और मान एक ही अर्थके वाचक हैं । ज्ञान, पूजा-सत्कार, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इनके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली अहंकार वृत्तिका नाम मद है (दे० रत्नकरंड श्रावकाचार २४) ।

भय—सात भयोंके नाम ये हैं—(१) इह लोक भय (२) परलोक भय (३) आदान भय (४) अकस्मात् भय (५) आजीव भय (६) मरण भय (७) अश्लोक (अपयश) भय (दे० समवायांग ७) ।

व्यसन—सात हैं—शूत, मांस, सुरा, वैश्या, आखेट, चौर्य और परस्त्री इनका सेवन ।

दण्ड—तीन हैं—मन, वचन और काय इनका असद् व्यापार ।

१, ८, ३ पुण्य पुच्छुहुँ सो लग्गु—भिलाइए हिन्दी मुहावरा 'फिर वह पूछने लगा' ।

१, १०. इस पद्यमें श्लेष रूपसे सिद्धि-रमणीका स्वरूप वर्णन किया गया है जो अनुवादसे स्पष्ट है ।

१, १८-१९ यहाँ राजनीतिमें दूतके कर्त्तव्य और उसके महत्त्वका वर्णन किया गया है । दूतके द्वारा शत्रुकी शक्तिका पता लगाया जाता है, शत्रु-शैल्यका प्रमाण, उसकी सबलता व निर्बलता जानी जाती है, सैन्यमें फूट डाली जाती है, राजाके संकल्प-विकल्पका पता लगाया जाता है, तथा द्युपी और प्रगट वार्ते जानी जाती हैं ।

१, १६, ६ से १, २१, १२ तक जिनेन्द्रके चरित्रका वर्णन किया गया है । वे पहले कामदेवके साम्राज्यके अन्तर्गत भवनगरमें ही रहते थे, नाना कर्म करते थे, और मृत्युखी कोतवाल-द्वारा पुनः-पुनः

वाँधे और मारे जाते थे। इसी परिस्थितिसे विरक्त होकर किसी एक दिन वे रत्न लेकर उपशमहृषी घोड़ेपर बैठ चारित्रपुरमें चले गये और वहाँ उन्होंने तपोराज्य प्राप्त किया। वहाँ वे अब पाँच महाव्रत, सप्त तत्त्व, दशविध धर्म, पाँच ज्ञान आदि गुणरूपी योद्धाओंके साथ निवास करते हैं।

१, १६, ११ दुग्मयचित्तिहि णिरु संतत्तउ तथा १, १६, १४ तियहं विरत्तउ—यहाँ संस्कृत मदनपराजयमें 'दुर्गतिवेश्याया आश्रमे यः सततं वसति' 'दुर्गतिवेश्याया विरक्तो भूत्वा' ऐसा पाठ है। संभवतः उसका आदर्श अपभ्रंश पाठ 'दुग्गइ वेस्सहिं णिरु संसत्तउ' रहा होगा।

१, १६, १४ सुवसत्थहिं पइसेपिणु—यहाँ संस्कृत मदनपराजयमें पाठ है 'अस्मन् धृतभाण्डागारं प्रविश्य'। इसके अनुसार प्रस्तुत पाठका अर्थ 'श्रुतशास्त्रमें प्रवेश करके' ऐसा भी किया जा सकता है।

१, २०, ५ पंचहिं दिक्खि—'पंच महाव्रतसुभटा ये सन्ति तैः प्रभूतार्थरत्नसंयुक्तं राज्ययोग्यं दृष्ट्वा' (सं. म. प.)।

१, २१, ३ महावय—(महाव्रत)—व्रत पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन व्रतोंका स्वरूप दो प्रकारसे बतलाया गया है। इनका स्थूल रूपसे पालन करना अणुव्रत कहलाता है, जो गृहस्थोंके योग्य है। तथा उनका सूक्ष्मरूपसे पालन करना महाव्रत कहलाता है, जो मुनियोंके योग्य है। (देखिए त० सू० ७, १-२)।

तत्त—(तत्त्व) सात हैं—जीव, अजीव, आन्व, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष (देखिए त० सू० १, ४) इन सात तत्त्वोंके भीतर समस्त जैन दर्शनका निरूपण हो जाता है। यही विवेचन नमस्त तत्त्वार्थसूत्रमें पाया जाता है।

१, २१, ४ धम्म (धर्म)—दस प्रकारका कहा गया है—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, और ब्रह्मचर्य। (देखिए त० सू० ९, ६)।

णाण (ज्ञान) पाँच प्रकारका है—मति, धृत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। (देखिए त० सू० १, ९ आदि) इन्द्रियों और मनकी सहायतासे होनेवाले वस्तुज्ञानको मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञानके आधारसे केवल मनकी सहायता-द्वारा उत्पन्न होनेवाला ज्ञान धृतज्ञान है। ये दोनों ज्ञान परोक्ष माने गये हैं, क्योंकि वे इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होते हैं। शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। आत्माकी विवेक विशुद्धि-द्वारा सूक्ष्म, इन्द्रिय-अगोचर व दूरस्थ पदार्थोंके साक्षात् ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। दूररेके मनमें स्थित पदार्थोंके साक्षात् ज्ञानको मनःपर्यय तथा समस्त त्रिलोक और त्रिकालवर्ती पदार्थोंका साक्षात् ज्ञान केवलज्ञान कहा गया है।

सुवभाण (शुभ ध्यान)—ध्यान चार प्रकारका है—आर्त, रोद्र, धर्म और मुक्क। इनमेंसे प्रथम दो अशुभ ध्यान कहलाते हैं। (देखिए ऊपर १, ६, १ टिप्पण) धर्मध्यानमें जीव और जगत्के दृश्य व उसकी नाना अवस्थाओंका धार्मिक दृष्टिकोणसे चिन्तन किया जाता है। तथा मुक्कध्यानमें ममाधि रूपसे आत्मचिन्तन किया जाता है। ये दोनों शुभध्यान कहलाते हैं। (देखिए त० सू० ९, २७ आदि)।

१, २१, ५ तव (तप) दो प्रकार है—वाह्य और आन्वन्तर। अनसन, अन्नमोर्ष, दूति-परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन और कायकलेन ये वाह्य तपके छह प्रकार हैं, तथा प्रायश्चित्त, विनय, वेद्यावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, ये छह आन्वन्तर ध्यान हैं (देखिए त० सू० ९, १९-२०)।

चारित्त—(चारित्र)—सामान्यतः समस्त धार्मिक नियमों व क्रियाओंका परिचालन चारित्र, सच्चारित्र या सम्यक्चारित्र कहलाता है। विशेषतः मुनि चारित्रको दृष्टिसे इनके ५ भेद हैं—सामान्य, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और चपास्थात। (देखिए त० सू० ९, १८)।

पंचायार—(पंचाचार)के नाम है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और धर्म। (देखिए प्रथम-सार १, २)।

समइ—(समिति) पाँच है—ईर्ष्या, भाषा, ऐश्या, ह्यदान-निक्षेप और ध्यान। इनका परित्यक्त करना मुनिधर्मका एक आवश्यक अंग है। (देखिए त० सू० ९, ५)।

१, २१, ६ सम्मत्त—(सम्यक्त्व) अर्थात् सम्यग्दर्शन, जो धार्मिक जीवनका मूल गुण है, और जिसकी प्राप्तिसे ही जीव मोक्षका अधिकारी बनता है। विशेषरूपसे उद्युक्ता सात तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा गया है—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् (देखिए त० सू० १, २)।

१, २१, ७ णिव्वेश (निवेद)—यह सम्यक्त्वके लक्षणोंमेंसे एक है, जिसका स्वरूप है सांसारिक सुख-दुःखोंसे ग्लानि।

वाच्छल—(वात्सल्य) यह सम्यक्त्वके आठ अंगोंमेंसे है—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ-दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। साधर्मो जनोके प्रति प्रेम, श्रद्धा व आदर-सत्कारकी भावनाका नाम वात्सल्य है। (देखिए रत्नकरण्ड श्रावकाचार १७)।

१, २१, ८ छुव्वासय—(पडावश्यक)के नाम है—सामायिक, स्तुति, वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग।

१, २१, ९ शील—(शील)के जेन आचार ग्रन्थोंमें अठारह हजार भेद बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार गुणित क्रमसे प्राप्त होते हैं। मन, वचन और कायके शुभ संयोग रूप त्रियोग; इन्हींके अशुभ संयोगके नियन्त्रण रूप तीन करण; आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञा; स्पर्श, रस, गंध, चक्षु, श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियाँ; पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, सामान्य वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये दश काय जीव; तथा धमा, मार्दव, आर्जव, दौर्ब, सत्य, संयम, तप, त्याग, आर्किचन्य और ब्रह्मार्च्य ये दश धर्म; इनका परस्पर गुणा करनेसे $३ \times ३ \times ४ \times ५ \times १० \times १० = १८,०००$ शीलके भेद प्राप्त होते हैं। (मूलाचार शीलगुणाधिकार १, १२, १६)।

१, २१, १६ संज्वलण (संज्वलन)—क्रोध, मान, माया और लोभ इन कपायोंके चार-चार प्रकार हैं—अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन। इस प्रकार कपायोंके १६ भेद हो जाते हैं—इनमें कपाय तीव्रतासे मन्दताकी ओर हीन हीनतर होती जाती है। इस प्रकार संज्वलन कपायका अन्तिम हीनतम रूप है जो मुनियोंमें भी उनके दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है, तथा जिसका उपशमन ग्यारहवें और क्षय बारहवें गुणस्थानमें होता है। इसी अन्तिम अन्तरंग शत्रुको जीतकर जीव केवली होता और जिनेन्द्रपद प्राप्त करता है। (देखिए त० सू० ८, ९)।

१, २३, ६ एउ देहि (स० यातुं देहि)—हि० आने दो। यह मुहावरा मराठी एउं छा से ठीक मिलता है और उसीका पूर्व रूप है। संस्कृत व प्राकृतमें ऐसा प्रयोग नहीं पाया जाता, और प्राचीन अपभ्रंशमें भी दिखायी नहीं देता।

१, २०, ५-१०—यहाँ विरोधाभास अलंकारकी रीतिसे जिनेन्द्रकी स्तुति की गयी है, जिसका स्वरूप अनुवादसे प्रगट है।

१, २७, १-६—यहाँ कामदेवकी स्तुतिमें कहा गया है कि उसको सेवा सुरेन्द्र, चन्द्र, सूर्य, ब्रह्मा, हर, वासुदेव, गोविंद तथा अन्य अनेक महापुरुषों, विद्याधरों और धर्मेन्द्रोंकी है। यहाँ सम्भवतः उक्त देवोंकी कामासक्ति सम्बन्धी पौराणिक कथाओंकी ओर संकेत है।

१, ३०, १-२—यहाँ स्पष्ट ही संग्राममें कामदेव-द्वारा शंकर, ब्रह्मा, चन्द्र, सूर्य, विष्णु, धरणेन्द्र और सुरेन्द्रके जीते जानेका उल्लेख है।

१, ३०, ३ कुदंसण (स० कुदर्शन)—अर्थात् मिथ्यादर्शन व मिथ्यात्व, जिसके पाँच भेद हैं—एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान (दे० गो० सा० जीव० १५ और ऊपर १, ६, १ टिप्पण)।

१, ३२, ३ उट्टिउ असंजमु—यहाँ संस्कृत मदनपराजयमें पाठ है 'दूतवचनमाकर्ष्य संयमेनोत्थाय द्वयोरद्वैचन्द्रं दत्त्वा द्वाराड बर्हिनिष्कासितौ।' इससे प्रतीत होता है कि नागदेवके सम्मुख अपभ्रंश पाठ 'उट्टिउउ संजमु' रहा होगा जो इस प्रसंगमें अधिक उपयुक्त भी जँचता है।

पासंड (स० पापंड)—अन्य धार्मिक सम्प्रदाय। आदितः इस शब्दमें अनादरका भाव नहीं था। यह शब्द अशोककी धर्मलिपियोंमें भी आया है, और वहाँ उसका अर्थ भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायोंसे ही है।

कुन्दकुन्दकृत समयसार ४०८-४१४ में भी इसका अर्थ मुनि ही है। पश्चात् कालीन प्रयोगोंमें धार्मिक सम्प्रदायके अतिरिक्त अनादरका भाव भी सम्मिलित हो गया, और आजकल तो पाखंडीका अर्थ ढोंगी हो गया है और वह गालीके रूपमें प्रयुक्त किया जाता है।

१, ३३, २ कुमयनयसिद्धि (सं० कुमत-नय-सिद्धिः)—कुमतसे तात्पर्य मिथ्यामतोंसे है। कुनय-पदार्थोंके एकदेश अर्थात् किसी अंश-विशेषका बोध करानेवाले ज्ञानको नय कहते हैं। इस ज्ञानमें जब वस्तुके अन्य अनन्त गुणधर्मोंकी ओर दृष्टि रखी जाती है, तब वही ज्ञान अनेकान्तात्मक होनेसे कुनय कहलाता है, किन्तु जहाँ वस्तुकी अनेकान्तात्मकताको भुलाकर उस एकांशको ही पूर्ण सत्यके रूपमें प्रगट किया जाता है, तब वह एकान्तवाद होनेके कारण कुनय हो जाता है। कुसिद्धि—अर्थात् कुत्सित साधनाएँ। आत्म कल्याणके ध्येयको छोड़ जो मन्त्र-तन्त्र आदि द्वारा सांसारिक सिद्धियोंको प्राप्ति को जाती है, वे सब कुसिद्धियाँ हैं।

१, ३३, ५ पंचिन्द्रिय (सं० पञ्चेन्द्रिय) अर्थात् स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र जिनका वश करना साधारण व्यक्तिके लिए बड़ा कठिन होता है।

अट्टरउद्द—आर्त रौद्र नामक दो अशुभ ध्यान (देखिए ऊपर १, ६, १ व १, २१, ३ टिप्पण)। यहाँ उल्लिखित शल्य, दोष, व्यसन, गारव और पंचास्त्रव, इनके लिए देखिए ऊपर १, ६, १ टिप्पण।

१, ३३, ७ दंडत्तय (सं० दण्डत्रय)—मन-वचन-कायकी कुत्सित क्रिया। जब जीवके ये तीन करण अर्थात् मन, वचन और काय क्रियाशील होते हैं, और आत्मामें स्पन्दन उत्पन्न करते हैं तब उन्हें त्रियोग कहा जाता है। जब वे ही त्रिकरण कुत्सित प्रवृत्तिका संवरण करते हैं, तब वे त्रिगुप्ति कहलाती है।

१, ३३, ८ पुण्यपाप (सं० पुण्य-पाप)—जीव कल्याणमें हिनकारी प्रवृत्तियोंको पुण्य व अहितकारी प्रवृत्तियोंको पाप कहा जाता है। (देखिए त० सू० ६, ३)।

१, ३३, ६ दर्शनमोह (सं० दर्शनमोह)—जैन कर्मसिद्धान्तमें ज्ञानावरणादि आठ कर्म माने गये हैं, जिनमें मोह या मोहनोय कर्म प्रधान माना गया है। वह दो प्रकारका है—दर्शनमोह और चारित्रमोह। अनन्तानुबन्धो कपायोंके कारण समयसदृष्टिका प्राप्त न होना दर्शनमोह है, और नञ्चाग्निमें प्रवृत्ति न होना चारित्रमोह है। (देखिए त० सू० ८, ९)।

१, ३३, १० तमवारि—का अर्थ कुछ अस्पष्ट है। अनुमानतः उनका अर्थ है अज्ञान मयी कर्मव्यय के द्वार (तम = अन्धकार = अज्ञान; वारि = द्वार)। यह भी ही नकता है कि उनत पाठ अनुद्भूत ही और शुद्ध पाठ 'तमवादि' अर्थात् तम = मिथ्यात्व आदि ही।

१, ३३, १० रायरोस (सं० रागरोप)—रोप = द्वेष, ये ही दो मूल-कपाय हैं और दोष तमरा कपायोंके प्रकार उन्हींके भेद-प्रभेद हैं।

१, ३३, ११ अण्णाणत्तय (सं० अज्ञानत्रय)—ज्ञानके मति, ध्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केरल ये पांच भेद कहे गये हैं, उनमें प्रथम तीन सम्प्रकृद्दर्शन महित होनेपर नञ्ज्ञानरूप तथा इनके अभावमें कुत्सित या अज्ञान रूप माने गये हैं।

१, ३३, १२ दो आसावन्धण (सं० आसावन्धन)—तन्मभयतः इतलोह और पत्तयोम-सम्बन्धी आशाओंसे अभिप्राय है।

अवभण (सं० अवत्त) —यहाँ कुम्भीके महत्त्व भेदोंमें अभिप्राय है। (उत्पत्ति-उत्पत्ति—३० मूलाचार ९९६-९९८)

१, ३३, १३ णाणावरण (सं० ज्ञानावरण)—यह आठ कर्मोंमेंसे एक है, जो जीवके ज्ञान मूल का आवरण करता है। ज्ञानके मति, ध्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केरल इन पांच भेदोंके अभावमें ज्ञानो आवरण करनेवाले कर्मके भी पांच भेद माने गये हैं। (देखिए त० सू० ८, ९)।

१, ३३, १४ दंसणावरण (सं० दर्शनावरण)—यह आठ कर्मोंमेंसे एक है, जो जीवके दर्शन गुणका आवरण करता है। इसके ९ भेद हैं—चक्षु, अचक्षु, अजपि, केरल, सारसण, कला विद्या, सिद्धविद्या, प्रचला, प्रचला-प्रचला और ह्यमानगुलि (देखिए त० सू० ८, ९)।

१,३३,१५ वेयणोय (सं० वेदनीय)—यह आठ कर्मोंमेंसे वह कर्म है जो जीवमें सुख या दुःखको वेदनाएँ उत्पन्न करता है, और तदनुसार ही उसके दो भेद हैं—साता वेदनीय और असाता वेदनीय । (देखिए त० सू० ८,८) ।

१,३३,१६ मोह—यह आठ कर्मोंमें सबसे प्रधान है, और यहाँ इसकी प्रबलताका वर्णन १,३३,१६ से १,३५,४ तक किया गया है । यहाँ १,३५,१-२ में मोहनीय कर्मकी २८ प्रकृतियोंका उल्लेख भी किया गया है । इनमेंसे १६ कपायोंके लिए देखिए ऊपर १,२१,१६ टिप्पण । इनमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तथा स्त्री, पुं० और नपुंसक वेद ये ९ नोकपाय तथा दर्शनमोहनीयके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन भेदोंको मिलानेसे मोहनीय कर्मके कुल २८ भेद हो जाते हैं (देखिए त० सू० ८, ९) ।

१,३५,५ आउकम्म—(सं० आयुर्कर्म) के चार भेद हैं देवायु, मनुष्यायु, नरकायु और तिर्यञ्चायु (देखिए त० सू० ८,१०) ये प्रकृतियाँ अपनी-अपनी गतियोंमें जीवकी काल-मर्यादा निश्चित करती हैं ।

१,३५,६ तेयाणव सणामि—नामकर्मकी गति, जाति, शरीर, अंगोपांग आदि प्रकृतियाँ उनके भेदोपभेदों सहित ९३ होती हैं । (देखिए त० सू० ८,११) ये कर्मप्रकृतियाँ जीवकी नाना शारीरिक परिस्थितियों व गुण-धर्मोंको उत्पन्न कराती हैं ।

दुग्णि गुत्त—गोत्र कर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं—उच्चगोत्र व नीचगोत्र, जो क्रमशः लोकपूज्य या गृहित कुलमें जन्म ग्रहण कराती हैं । (देखिए त० सू० ८,१२) ।

अंतराय—(अंतराय) कर्मकी पाँच प्रकृतियाँ हैं, जो क्रमशः दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन गुणोंके विकासमें अंतराय उत्पन्न करती हैं । (देखिए त० सू० ८,१३) ।

१,३५,८ अट्ट कम्म आदि—उपर्युक्त आठों कर्मोंके भेदोंकी संख्या ५ + ९ + २ + २८ + ४ + ९३ + २ + ५ = १४८ होती है ।

१,३६,१ दुट्ट लेस्सा (दुष्ट लेश्या)—योग अर्थात् मन-वचन-कायकी उस प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं, जो कपायोंके उदयसे अनुरञ्जित हो । कपायोंकी तीव्रता व मन्दताके अनुसार इसके क्रमशः ६ भेद हैं—कृष्ण, नील, कापीत, पीत, पद्म और शुबल । इनमेंसे प्रथम तीनमें कपायका अंश क्रमशः तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र रहता है, और इस कारण इन तीनोंको अशुभ या दुष्ट लेश्याएँ कहा जाता है । अन्तिम तीन लेश्याओंमें कपायका अंश क्रमशः मन्द, मन्दतर और मन्दतम होनेसे ये लेश्याएँ शुभ गिनी जाती हैं । सूक्ष्म-दृष्टिसे ये तीव्रतमसे मन्दतम तक कपायके अंश प्रत्येक लेश्याके भीतर भी माने जाते हैं । इस अपेक्षासे प्रत्येक लेश्याके सामान्यतः ६ और विशेषतः अनन्त भेद भी माने जा सकते हैं । (देखिए त० सू० २,६; गो० सा० जीव० ४८८ आदि) ।

१,३६,२ विकहा (सं० विकथा)—धर्मसम्बन्धी चर्चाके अतिरिक्त समस्त राग-द्वेषात्मक चर्चा विकथा कहलाती है, जिसके विषयानुसार अनेक भेद हो सकते हैं । सामान्यतः मुनिचर्याके प्रमादोंमें चार प्रकारकी विकथाओंका निर्देश पाया जाता है—स्त्रीकथा, भवतकथा, राष्ट्रकथा और राजकथा (देखिए गो० सा० जीव० ३४ औप० सूत्र ७९) ।

१,३६,३ पञ्च कुदंसण च पञ्चासव (पाँच कुदर्शन व पञ्चान्नव)—देखिए ऊपर मिच्छन्त, आसव १,६,१, टिप्पण) ।

१,३७,१ दह कामावत्थ (दश कामावस्था)—कामी पुरुषकी क्रमशः दश अवस्थाएँ ये हैं—चिन्ता, दर्शनाभिलाष, दीर्घनिश्वास, ज्वर, दाह, भोजनकी अरुचि, भोजनत्याग, उन्माद, प्राणसन्देह, और मृत्यु (देखिए पञ्चमचरित अयोध्याकाण्ड २१,९) ।

१,३७,१ रुदट्टदंडसत्तप्पयारु—इसका अनुवादमें किये गये अर्थके अतिरिक्त निम्न अर्थ भी सम्भव है :—वह सैन्य, रौद्र व आर्तध्यान तथा अनर्थदण्डके पाँच भेद (रूपी योधा) इस प्रकार सात प्रकारका था । दण्ड अर्थात् अनर्थदण्डके पाँच भेद हैं—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और

उपभोग परिभोग आनर्थक्य । (देखिए त० सू० ७, ३२) ।

संकाकंखाविदिगिंछुवन्तु—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि सम्यक्त्वके मूल व मिथ्यात्वके अंग हैं । इन्हींके विपरीत निःशंकित, निःकांक्षित आदि सम्यक्त्वके आठ अंग कहे गये हैं (देखिए ऊपर वच्छल्ल १, २१, ७ टिप्पण) ।

सन्धि-२

२, २, २—संवेय (संवेग)—यह सम्यग्दर्शनका एक अंग है, जिसका अर्थ है आत्म-कल्याणको ओर प्रवृत्ति ।

२, ३, ३ सियसद् (स्यात् शब्द)—इसका तात्पर्य स्याद्वाक्यसे है जिसकी सात भंगियां जैनन्यायमें प्रसिद्ध हैं—स्यादस्ति, स्याद्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्याद्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य (दे० सप्तभंगी तरंगिणी, स्याद्वादमञ्जरी)

२, ४, ४ तेरह चरिय (त्रयोदश चारित्र)—यहाँ अभिप्राय सम्भवतः मुनिधर्मकी ५ महाव्रत, ५ समिति, और ३ गुप्ति इन तेरह साधनाओंसे है ।

२, ४, ६ वंभचेर नव (ब्रह्मचर्य नव)—ब्रह्मचर्यके नौ अंग निम्न प्रकार हैं—? स्त्रियोंका संसर्ग न करना, (२) स्त्रीकथा न करना, (३) स्त्रियोंके स्थानका सेवन न करना, (४) स्त्रियोंके मनाहूर अंगोंको न देखना न ध्यान करना, (५) कामोद्दीपक भोजन न करना, (६) आहार-पान मात्रासे अधिक न करना, (७) पूर्वकृत कामक्रीडाका स्मरण न करना, (८) स्त्रियोंके शब्द, रूप व सीमाग्यकी मराहना न करना, (९) इन्द्रिय-मुखोंकी अभिलाषा न करना । (दे० टाणांग ९)

अष्टमहागुण (अष्ट महागुण)—यहाँ सिद्धोंके आठ गुणोंसे तात्पर्य प्रतीत नहीं होना क्योंकि वे जीवके कामसे संग्रामके समय प्रकट नहीं होते, मुक्ति होनेपर होते हैं । सम्भवतः यहाँ मुनिधर्मके ५ महाव्रत और ३ गुप्ति इन ८ गुणोंसे अभिप्राय है । अथवा यहाँ ५ अणुव्रत और मद्य, मांस एवं मधु इन तीन मकारोंका त्याग इन श्रावकके आठ मूल गुणोंसे अभिप्राय हो । (दे० रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ६६) ।

२, ४, ७ निस्संकाईं सवच्छुल—सम्यक्त्वके निःशङ्कादिक आठ अङ्ग हैं, जिनमें वास्तव्य भी एक है । (देखिए ऊपर वच्छल्ल १, २१, ७ टिप्पण) ।

दमहिं नरिंद्हिं...आदि—संयम पालनका मुख्य अङ्ग है पाँचों इन्द्रियोंका दमन ।

२, ४, ८ अनुकम्पा—अर्थात् जीवदया । यह सम्यक्त्वके लक्षणोपमेमें एक है । (देखिए त० सू० १, २ स० सिद्धि टीका) ।

णय-नव—जैनन्यायके ९ नय इस प्रकार हैं—? उपाधिक और पर्यायानिक से दो मूलनय तथा नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुमूत्र, शब्द, समभिरुद्ध और एवंभूत ये सात नय (देखिए देखनेके लिये तत्त्व नयचक्र ११, १२) ।

२, ४, १० मुंड—दो प्रकारके हैं द्रव्यमुण्ड और भावमुण्ड । गिरके केसोंका मूलात्त प्रणमण्ड है, और चारों कपायों अथवा पाँचों इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना भावमुण्ड है । इन प्रकार मुण्ड २ या १० प्रकारके कहे जा सकते हैं । (देखिए टाणांग ५) ।

२, ४, ११ पंचहि सहु...आदि—यहाँ पञ्चेन्द्रिय संवरने अभिप्राय प्रतीत होता है ।

२, ४, १३ चउणास—(सं० चतुर्णाम्) चार न्याय हैं—नाम, न्यायना, शब्द और भाव, जिनके अनुसार तत्त्वोंका विचार किया जाता है । (त० सू० १, ५) ।

विनय—चार हैं दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपायविनय (देखिए त० सू० १, २३) । इनके अतिरिक्त मन, वचन और वाच विनय भी कहे गये हैं । इन प्रकार विनयोंका संख्या हो जाते हैं । (देखिए ओप० सू० ३०) ।

२, ४, १४ दिट्टिचउक—(पृष्टिचतुष्क) यहाँ चरमव्रत, मुक्ति दर्शन के लिये चार अर्थों

अभिप्राय है जो दर्शनावरण कर्मके विवेचनमें ग्रहण किये गये हैं। (देखिए ऊपर अंगणावरण १, ३३, १४ टिप्पण)

वारह पच्छत्त—(द्वादश प्रायश्चित्त) इसके त० सूत्र ९. २२ में आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना, ये ६ भेद गिनाये गये हैं। औप० सूत्र ३० में इसके दश भेद कहे हैं, जिनमें-से प्रथम मान तो उपर्युक्त ही है, और शेष तीन हैं—मूल, अणवदृष्ट्या और पारंचिय। वस्तुनमें १२ प्रायश्चित्त किस अंशसे कहे, यह ज्ञात नहीं होता।

तिहि जो इहि (त्रिभिः योगिभिः)—तीन योगी अर्थात् मनयोगी, चननयोगी और काययोगी।

२, ५, १ सिवसुहेउ—(शिवसुहेतु) शिव अर्थात् मोक्ष गुणकी प्राप्तिके चार हेतु (अर्थात् साधन) हैं—दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप, जिन्हें आराधनाएँ भी कहते हैं। (देखिए भग० आराधना)।

२, ७, १ चोरासी गुण लक्ष्म—(चोरासी लक्ष्म गुण)। द्विगादि अतिक्रमके गुणनसे उत्पन्न इन भेदोंके लिए देखिए मूलाचार १०२३।

२, ७, २ अष्टावीस मूलगुण—गुणियोंके २८ मूलगुण ये हैं—५ महाव्रत, ५ ममिति, ५ इन्द्रिय-निरोध, ६ आवश्यक ये २१ तथा लीच, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अद्वन्द्वयवन, स्थितिभोजन और एकभवत ये सात। (देखिए मूलाचार १, ३६)।

२, ७, ३ आभिणिबोहि आदि—आभिनिबोधिक अर्थात् मतिज्ञानके ३३६ भेद कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—पदार्थका ग्रहण पाँच इन्द्रियों और मनके निमित्तसे होता है, और उस ग्रहणकी चार अवस्थाएँ हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। ग्रहण योग्य पदार्थ भी बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिन्त और ध्रुव तथा इनसे विपरीत एकविध आदि वारह अवस्थाओंमें पाया जाता है। अतः द्रव्योंकी अर्थपर्यायिके ग्रहणमें मतिज्ञानके $६ \times ४ \times १२ = २८८$ भेद हुए। इनके अतिरिक्त पदार्थकी व्यञ्जन पर्याय चक्षु और मनसे रहित चार इन्द्रियों द्वारा, बहु बहुविध आदि १२ प्रकारसे होता है जिसके $१२ \times ४ = ४८$ भेद होते हैं। इस प्रकार मतिज्ञानके कुल $२८८ + ४८ = ३३६$ भेद हो जाते हैं (त० सू० १, १३—१९)।

२, ७, ४ वारह मंडलियहि आदि—इनसे जैनागमके १२ अंगोंका अभिप्राय है, जिनके नाम हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृद्शा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद। (देखिए त० सू० १, २० सर्वा० सिद्धि टीका)।

२, ७, ४ चउदह पुद्वंग—वारहवें श्रुतांग दृष्टिवादके परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाँच खंड हैं। इनमें-से पूर्वगत या पूर्वोकी संख्या चौदह है। उत्पाद, अग्रायणी, वीर्यानुप्रवाद, अस्ति-नास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्य-प्रवाद, आत्म-प्रवाद, कर्म-प्रवाद, प्रत्याख्यान-प्रवाद, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल और लोकविदुसार (देखिए त० सू० १, २० सर्वा० सिद्धि टीका)।

२, ७, ५ अचर असेस सुवनाणु—श्रुतज्ञानके उपर्युक्त वारह अंग और चौदह पूर्वोंके और भी अनेक भेद हैं जो अंगवाह्य माने गये हैं, जैसे—दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि। (देखिए त० सू० १, २०, सर्वा० सिद्धि टीका)।

२, ७, ६ अचहिनाण—अवधिज्ञानके तीन भेद हैं—देशावधि, सर्वावधि और परमावधि (त० सू० १, २१-२२ राजवा० टीका)।

दुहुं मणपज्जउ—मनःपर्यय ज्ञानके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। (देखिए त० सू० १, २३)

२, ७, ८ दो गुण—यहाँ सम्भवतः केवलीके दर्शन और ज्ञान इन दो गुणोंसे तात्पर्य है।

२, ८, २ सत्त भेय—अर्थात् स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति आदि सप्तभंगी। (देखिए ऊपर सियसद् २, ३, ३ टिप्पण)।

चत्तारि—यहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणोंसे अभिप्राय प्रतीत होता है।

२, ६, १ लद्धि (लद्धि)—लद्धियहाँ दो प्रकारकी कही गयी है। एक तो वे ५ लद्धियाँ हैं, जिनके प्राप्त होनेसे जीवको सम्यक्त्वके उत्पन्न होनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है। इन ५ लद्धियोंके

नाम ये हैं— (१) क्षयोपशम (२) विशुद्धि (३) देशना (४) प्रायोग्य और करण (गो० जी० ६५०) ।

दूसरी ९ लक्ष्मियाँ वे हैं, जो जीवके केवलज्ञान प्राप्त करनेसे उत्पन्न होती हैं । उन ९ लक्ष्मियोंके नाम हैं— (१) क्षायिक सम्यक्त्व (२) चारित्र (३) ज्ञान (४) दर्शन (५) दान (६) लाभ (७) भोग (८) उपभोग और (९) वीर्य । इनकी प्राप्तिसे जीव परमात्मा हो जाता है (गो० जी० ६३) ।

२, ६, २ सुहृत्सेसहिं—(शुभ लेश्या) (दे० १. ३६. १ टिप्पण) ।

२, १०, १ खाइय दंसण (क्षायिक दर्शन)—सम्यग्दर्शन ३ प्रकारका होता है (१) क्षायिक (२) औपशमिक और (३) क्षायोपशमिक । दर्शन-मोहनीय कर्मके धय होनेसे क्षायिक; उपशम होनेसे औपशमिक तथा अनन्तानुबन्धी कषायों व दर्शनमोहनीयकी मिथ्यात्व और मिथ्य प्रकृतियोंके सर्वघाती अंगोंके उपशम व उनके उदयागत निपेकोंके धयसे जो कुछ मलिनताको लिये हुए सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे क्षायोपशमिक या वेदक सम्यक्त्व कहा है (दे० गो० जी० २५, २६, व ६४५) ।

२, १०, १ अणुवेक्खा (अनुप्रेक्षा)—कर्मबन्धकी रोकके लिए जिन धार्मिक क्रियाओंका उपदेन दिया गया है वे हैं—(१) गुप्ति (२) समिति (३) धर्म (४) अनुप्रेक्षा (५) परीपहज्य और (६) चारित्र । इनमें अनुप्रेक्षाके वारह भेद हैं (१) अनित्य (२) अशरण (३) नंसार (४) एकत्व (५) अन्यत्व (६) अशुचि (७) आस्रव (८) संवर (९) (निर्जरा) (१०) लोक (११) बोधिदुर्लभ और (१२) धर्म । इन्हें ही वारह भावनाएँ भी कहते हैं । (तत्त्वार्थमूत्र ९, २-७; कुन्दकुन्द्याचार्य कृत वारह अणुवेक्खा तथा कत्तिगेयाणुवेक्खा) ।

२, १०, २ समाहि (समाधि)—उस आध्यात्मिक तल्लीनताका नाम समाधि है जिसके अन्त्यास से जीव परमात्मा बन जाता है (दे० समाधिशतक पूज्यपाद कृत) ।

२, १३, २ सत्तहि सुवियारहि—यहाँ सात विकारोंसे सम्भवतः सप्तव्ययनसे ही तात्पर्य है जिसके लिए देखिए १—६ टिप्पण ।

२, १६, ७ असमद्धयहु—इसका अनुवाद असमृद्ध किया गया है, किन्तु इसका संस्कृत रूप असमध्वज = विपमध्वज कामदेव लेना अधिक उपयुक्त होगा ।

२, २१, ५ करि अचछुइ...इत्यादि—यह कोई कहावत है जो प्रत्यक्ष दिग्गामी वेनेशाली बन्धुकी भी पूछताछ करनेकी व्यर्थताको प्रकट करती है । किन्तु उपलब्ध पाठसे उसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता । क प्रतिभे "सिह"के स्थानपर "सिह" पाठ है, जिसे यदि "शिखा (दीपशिखा)" के अर्थमें लिखा जाय तो पूरी कहावत इस प्रकार भी हो सकती है कि "हाथमें दीपशिखा होनेपर भी चोर क्या घात कर रहा है, वह हमारे से पूछा जाता है ।"

२, ३१, १ नउ करइ पउत्तउ—मिथ्यात्वके बधीभूत हुआ जीव धर्मोपदेनका पाठन नहीं कर पाता । सच्चे धर्ममें शंकाशील होता है तथा धर्माचरणमें यदि प्रयत्न होता है तो चारित्रमें अविचारण अर्थात् दोष उत्पन्न करता है । वह अपनेको समझाल नहीं पाता अर्थात् सयोग आचरणमें नहीं देना सकता । प्रत्येक घटके अतिचारोंके लिए देखिए तत्त्वार्थ० ७।२४) ।

२, ३४, ७ वत्तीस अंतराय—यहाँ सम्भवतः योगके आलोचन, निरवगात भाषि ३३ सूक्तों प्रतिपक्षी विघ्नोंसे अभिप्राय है (दे० समवायांग ३२) ।

२, ३४, ७ चउवीस गंथ—यहाँ ग्रन्थ अर्थात् परिग्रहके दस वाक्य और सौतल अर्थात् अर्थके अभिप्राय है । वाक्य परिग्रह—(१) धेव (२) वास्तु (३) तिरव्य (४) तुर्ल (५) अणु (६) धान्य (७) वासी (८) दान (९) कुप्प, और (१०) भाण्य ।

अन्तरङ्ग परिग्रह—चार कषाय—ज्योष, मान, माया, मोह; नी नीलकण्ठ अर्थात् अणु, अणु, अणु अरति, शोक, भय, कुगुप्ता, स्त्रीवेद, पुण्य वेद, नर्तक वेद; तथा दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व ।

२, ३४, ६ केवल अदिणाण (केवलज्ञान)—यह सति आदि पाँच प्रमाणोंके द्वारा ही हीनता का

है, जिसकी प्राप्तिसे जीव केवली व परमात्मा होकर मुक्तिका अधिकारी हो जाता है ।

२, ३७, ११ विह्विक्रिचि रिच्छिह्वि अइश्रोथकउ—ब्रह्मा और रीछनीके आख्यानसे सम्बन्ध है ।

२, ४०, ६ मूढत्तय—तीन मूढताओंके नाम ये हैं—(१) लोकमूढता (२) देवमूढता तथा गुरुमूढता (दे० रत्नकरण्ड० २२-२४) ।

२, ४०, ७ छुडयइण (पडायतन)—सच्चे देव, शास्त्र और गुरु तथा इनके माननेवाले ये छह आयतन कहलाते हैं ।

२, ४३, ४ पंच वि दंसणइं—यहाँ दर्शनावरण कर्मके नौ भेदोंमेंसे (१) निद्रा, (२) निद्रानिद्रा (३) प्रचला (४) प्रचलाप्रचला और (५) स्त्यानगृद्धि, इन पाँच भेदोंसे अभिप्राय प्रतीत होता है ।

२, ४४, २ अट्ट रउड् भिडिय सुहभाणं—आत्त और रीद्र ये दो अशुभ ध्यान धर्म और शुक्ल इन दो शुभ ध्यानोंसे भिड़ गये ।

जोयहुँ तिण्णि सल्लया—तीन गल्य अर्थात् मिथ्यात्व, माया और निदान, मन वचन काय रूप त्रियोगसे युद्धमें भिड़ गये ।

२, ४६, १ आसव वंध गुणहं दह लंपड—यहाँ द्रव्य और भाव रूप दो आसव तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानावरणादि आठ कर्मवन्ध इन दसका उत्तमशमादि दश गुणोंसे विरोधका अभिप्राय प्रतीत होता है ।

२, ४६, ७-८ उपसम सेदिय खाइय भूमि—आध्यात्मिक दृष्टिसे सांसारिक जीवकी हीनतम अवस्था मिथ्यात्वसे लेकर अयोगकेवली नामक गुणस्थान तक विकासकी चौदह भूमिकाएँ या श्रेणियाँ मानी गयी हैं । इनमें सातवाँ गुणस्थान अप्रमत्त विरत नामक है, जहाँसे आगेके गुणस्थानोंपर चढ़नेकी दो सीढ़ियाँ हैं । जब जीव मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंका उपग्रामन करता हुआ आगे बढ़ता है तब वह केवल ग्यारहवें गुणस्थान उपशान्तमोह तक ही चढ़ पाता है, ऊपर नहीं, व वहाँ से पुनः नीचेकी ओर गिरता है । यह उपशम श्रेणी कहलाती है । किन्तु सातवें गुणस्थानसे आगे जीव यदि मोहनीयकर्मका क्षय करता हुआ आगे बढ़ता है तब वह ग्यारहवें गुणस्थान उपशान्तमोहमें न जाकर सीधा बारहवें गुणस्थान धीणमोहमें पहुँचता है और वहाँसे नियमित तेरहवें व चौदहवें गुणस्थानोंसे होकर मुक्ति प्राप्त करता है । यह क्षपक श्रेणी कहलाती है ।

२, ४६, ५ पणर पमाय—पन्द्रह प्रमादोंके लिए देखिए १, ६, १ के आसव (आसव) का टिप्पण ।

२, ५२, १ पाव पयडी—(पाप प्रकृति)—ऊपर १, ३३ के टिप्पणमें ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंकी भेदरूप १४८ प्रकृतियाँ बतलायी जा चुकी हैं । वे जीवको इष्ट व अनिष्टकारी होनेकी अपेक्षा पुण्य और पाप इन दो भेदोंमें विभाजित की जा सकती हैं । जीवके ज्ञानादि मूल गुणोंका घात करनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चारों घातिया कर्मोंकी सैतालीस प्रकृतियाँ तथा शेष चार अघातिया कर्मों की अहितकारी त्रेपन प्रकृतियाँ, इस प्रकार कुल सौ प्रकृतियाँ पाप रूप हैं और शेष अड़तालीस पुण्य रूप हैं (दे० तत्त्वार्थसूत्र ६।३)

शब्द-कोष

(यहाँ संख्याङ्क मयणपराजयचरिउके क्रमशः संधि, कडवक और पंक्तिके सूचक हैं । ताराङ्कित देशी शब्द हैं । यही सब नहीं, विशेष शब्द ही लिये गये हैं)

अइअ—अतीत, २,३७,११
 अइहार—अतिहार, २,७५,१०
 अक्खदाण—अक्षयदान, २,७८,१३
 अक्खिय—आख्यात, १,१७,१०
 अखअ—अक्षय, १,३१,६
 अगल—अग्रल, १,७,५
 अच्छर—अप्सरस् २,७८,७
 अज्जेवण—अ + जीमन, अनशन २,६९,६
 अणखालउ—अस्खलित १,१४,५
 अणयार—अनाचार २,५४,२
 अणवज्ज—अनवद्य १,२०,४
 अणुहुत्त—अनुमुक्त २,३७,१४
 अण्ण—अनुण १,२५,९
 अण्णाण—अज्ञान २,१८,२
 अथेर—अ + स्थविर, अजर १,३१,६
 अद्ध—अर्द्ध २,७५,८
 अट्ठंभण—अत्रह्य, अत्रह्यचर्य १,३३,१२
 अमाण—अमान, अमाप, अनन्त २,७,७
 अम्हार—अस्माकम् (हि० हमारा) १,२५,११
 अवत्थ—अवस्था १,२४,५
 अवर—अपर (हि० और) १,१५,४
 अवसवण—अपशकुन २,२४,४
 असमद्धय—असमृद्ध या असमध्वज २,१९,७
 अंकुड—अंकुश २,१६,१; २,७१,२
 अंचिय—अंचित १,१,२
 आण—आ + नी, लाना १,११,५
 आण—आज्ञा १,२२,३; १,२६,२
 आभिद्ध—आष्ट (हि० आ भिड़ना)
 २,३१,२; २,४६,४
 आयण्ण—आकर्ण २,१६,११
 आसंघ—आ मिल (आसज्ज धानुसे) २,२२,२
 आहाक्म्म—अधःकर्न २,७२,९
 इत्थ—इत्थ १,२३,५

ईइवहिं—इदानीम् (हि० अभी)
 २,२८,६; २,४८,५
 ईसा—ईर्ष्या १,१४,४
 उच्छर—उत्स, उच्छल २,३०,२; २,४६,८
 उच्छल्ल—उत्स (हि० उच्छलना) २,३७,१
 उच्छु—इक्षु १,५,२; १,१८,२
 उद्धंत—उद्धत २,४,२
 उप्पाड—उत्पाट २,२२,३
 उट्ठभ—उद्भू, स्थित (मराठी—उत्ता)
 २,१५,१; २,२४,४
 उट्ठभट्ट—उद्भूत, उद्भूट १,२४,४; २,५,२;
 २,१६,१०
 उम्माय—उन्माद २,५७,२
 उम्माह—उन्माथ १,४,५
 उवाअ—उपाय २,१६,५
 उवर—उद्घृ १,२६,४
 उणाहिउ—उनाधिक २,८१,१४
 उस्त—शोष १,१४,८
 उत्तर—अपसर २,२२,८
 एकट्ट—एकत्र (हि० एकट्टा) २,२४,३
 एत्तहिं—अत्र २,२,१
 एवहिं—इदानीम् २,५५,१०
 ओसर—अपसर २,५८,३
 ओहट्ट—अवपट २,१६,५
 कालंत—काल १, १९, ११
 कटक्कद—कटाक्ष २, ७८, ३
 कट्ठयउ—कटक्क २, ८१, ३
 कट्ठिन—कटिपत्र (सं-कटिपत्र) २, १५, २
 कपह—कप १, बधिके कर्म अण्ण १, २, ३
 कन्द—कुत्र १, २१, ९
 कन्दद—क + द + द + द + द १, ८, ३
 कण्ण—कण २, १९, १०
 कण्ण—कण २, १९, १०

कचणु—कः (हि० कौन) २, १६, ९; २, ६१, ५
 कव्य—काव्य १, ३, ३
 क्कसमस—कसमसाना २, ५५, १०
 कह—कथ्, °मि १, ३, ३.
 कह—कथा १, ३, ३
 किंकर—कविके ज्येष्ठ आता १, २, २
 कुदाल—कुदाल २, १६, २
 क्कैर—सेवा १, २२, ४; १, २६, ३
 कोवंड—कोदण्ड १, ५, २
 क्कखट्ट—खट्वा (हि० खाट) २, ५५, ७
 क्कखडफड—छटपटाना २, ५५, १३
 खत्तिय—क्षत्रिय २, ७, १०
 क्कखलभल—क्षोम (हि० खलमलाहट)
 २, ५२, १५
 खवल—क्षोम (हि० खलवलाना)
 १, ३०, ४; २, २२, ४
 खंध—स्कन्ध २, ५२, १३
 खीण—क्षीण १, २३, २; १, २५, १०
 खुज्ज—कुज्ज १, १४, ६
 खेव—क्षिप्र १, २३, ६
 गज्ज—गर्ज्, °जेह् १, ६, ४
 गलगज्ज—गल + गर्ज् १, ७, ५
 गहिल्ल—गृहीत १, १४, २
 गंजिअ—मर्दित १, ७, १
 गारव—गौरव २, १६, १०; २, १८, ४
 गाह—आग्रह १, १९, ५; २, ५५, ८
 गिज्जावलि—गृद्धावलि २, २३, २
 क्कगूणि—गौन १, १४, ७
 क्कगोह—योद्धा २, ५५, ३
 घडथाव—घटस्थाप २, ७८, ९
 क्कघडहड—घडघड (हि०घडघडाना) २, ९, ५
 घर—गृह २, ६८, ३
 घरिणि—गृहिणी १, १३, ५
 क्कघरप्परि—घरपटक २, २२, ८
 क्कवल्ल—क्षिप् २, ११, १; २, २८, १; २, ४०, ८
 क्कघुम्ममाण—भ्रमन् (हि० घुमता हुआ)
 २, ३७, ६
 क्कघुम्माण—भ्रान्त, भ्रममान २, ७२, २
 घुलिय—घुलित, चलित २, ७८, ५
 चक्कि—चक्री २, ६२, ५

क्कचड—आरह १, १०, ५; २, १, १; २, १०, १
 २, २५, १३; २, ५७, ३; २, ७८, २
 क्कचणय—चणक (हि० चना) २, ५५, १०
 चत्त—त्यक्त १, १, ४
 क्कचप्प—दंश (हि० चवाना) २, १५, १
 चम्मक—चमत्कृत २, ६६, ४
 चलवलिय—चलित २, ५२, १५
 क्कचव—वच् १, २७, ४
 क्कचंग—वर, सुन्दर (हि० चंगा; म० चांगला)
 २, ५५, ७
 चंगएव—चङ्गदेव (कविके पिताका नाम)
 १, २, १
 क्कचारहडि—चारमटी, शौर्य १, ३७, १०;
 २, ५५, ५
 चित्त—चित्रा (कविके माताका नाम) १, २, २
 चुक्क—च्युत २, ३७, ११
 चौय—चोद, प्रेर २, ६४, ५
 क्कछज्ज—सज्ज् °जेह् १, ६, ४; २, ४, ७
 छडयहण—पडायतन २, ४०, ७
 क्कछट्टु—मुच् २, २८, ३; २, ५५, ९
 क्कछंड—मुच् (हि० छोड़ना) १, १९, ८;
 १, २०, १; १, २१, १७; २, ४९, ४; २, ५२, २
 क्कछट्टुविअ—मोचित १, ७, २, (हि०छुड़ाना)
 छम्म—छम् (हि० छल) १, १९, १२
 छव्वासय—पडावश्यक १, २१, ८; २, ४, ९
 छित्त—क्षिप्त २, ७५, ३
 क्कछिक्क—छीक २, २४, २
 क्कछुट्टु—मुक्त (हि० छूटना) १, २६, ५
 क्कछुट्टु—मुच् २, १३, ८
 क्कछुडु—क्षुद्रं (हि० तुरन्त) १, २४, ५
 क्कछुडु—स्फुट २, ५५, ८
 छुद्ध—क्षिप्त २, ३४, ३
 छुह—क्षिप् २, ५५, ५
 छोह—क्षिप् २, २२, ५
 जयवत्त—जयवार्ता १, १, ५
 जंप—जल्प १, १७, ६
 क्कजंपाण—झाँपी, पालकी १, २९, ३
 जाणिअ—ज्ञात १, ४, २
 जावहि—यावधि; (जाव-यावत् + हि)
 १, ३१, १०

जिस्थु—यत्र १, ३७, १०
जुङ्गण—योधन २, ५५, २
❀जोअ—दृश् १, १९, १
❀जोड—योज् (हि० जोड़ना) १, १६, ३
❀जोव—दृश् २, ५३, २
झड—झट २, १३, ५
झत्ति—झटिति २, ५५, १०
❀झम्प—आच्छाद (हि० झाँपना)
२, ५१, २; २, ५९, १
झा—ध्या २, ६८, ५
झाण—ध्यान २, ४४, २
झीण—क्षीण २, ६७, १
डम्भ—दम्भ १, ९, ३
❀डुक्क—प्राप्त, आगत २, ६६, २
णअ—नी २, ४०, १३
णमंस—नम् २, ४०, ८
णव—नम्^० विवि १, ३, १
णाण—ज्ञान २, ७, ७
णास—न्यास २, ४, १३
णाह—नाथ १, १९, ५
❀णिअ—दृश् १, २५, ११
णिगंथपह—निर्ग्रन्थपथ १, १७, १
णिप्पज्ज—निष्पद्य १, १४, ६
णिट्भच्छ—निर्मस्ती २, ११, १
❀णिय—दृश्^० विणु १, ८, १;
येवि १, ८, ३; १, १३, १; १, २०, २;
१, २१, १३; १, २३, ३; २, ६४, ३;
२, ७४, १
णियपुण—नेपुण्य १, २, ३
णिन्वेअ—निर्वेद १, १७, ८
णिसुण—नि + ध्रु^० णेवि १, ८, १
❀णिहाल—दृश् २, २१, ४
तफ़—तर्क (शास्त्र) १, ४, २
तट्ट—ग्रस्त २, ६१, ४; २, ७५, १
❀तत्ति—चिन्ता १, २९, १
❀तलार—तलवर (हि० कोतपाल)
१, १९, १५
तिज्जअ—तृतीय १, २, ४
❀तिडिपिडन्त—तड़फड़ते हुए २, ३७, २
तिरिय—तिर्यक् २, ५२, १२

तिल्लोअ—त्रैलोक्य १, ७, ४
तुरय—स्वरित २, ५७, ४
तोड—त्रोट १, १४, ६; २, २२, ३; २, ६९, ३
❀तोरी—तव २, २२, ७
थक्क—स्थित १, २३, ३; २, २५, ४; २, ३१, ७;
२, ३७, ११; २, ४६, ३
❀थक्क—स्था २, २२, ६
❀थट्ट—ठाठ १, ३५, ११
❀थट्ट—समूह २, ४६, १०
❀थप्पड—चपटा २, १९, ८
❀थरहरंत—कम्पायमान १, २७, ८
थविय—स्थापित १, २१, १६
थंभण—स्तम्भन २, ५७, २
था—स्था २, ३१, ३
❀थाड—सम्मवतः स्थाप २, ५२, १२
थाम—स्थाम १, ३५, ६; २, ५७, ४
थुण—स्तु^० हि १, २, ५
थेर—स्थविर (वृद्ध) १, ९, २
दइच्च—दैन्य २, ३१, ७
दइय—द्वय १, १७, १०
दक्ख—दृश् १, ३७, ११
❀दडक़—दरकना २, ६६, ७
दलवट्टण—मर्दन, दलन २, ३४, ६
❀दवत्ति—दृष्टिति २, ६५, ३
दंडाहिउ—दंडापिप २, ६, ५
दाइच्च—दायादय (दूर) १, १७, ८
❀दाव—दर्श १, १४, १०; २, १३, ९
दाव—दाप् १, २६, ५
दिकख—दग् १, २०, ५; २, ६३, ५
दिण्ण—दत्त १, २०, ५
दियवर—द्विज^० (कविका लघुशब्दात्)
१, ३, ४
दुइत्तु—दौष्य १, १७, १०
दुग्गह—दुग्ध १, ३३, १७
दुरंज—दुरंज्य १, १३, ५
दूवन्—दूतय (दौष्य) १, १३, ५
दून्—दौष्य २, ६९, ३
दूवन्—दग् २, ६९, ३
दोहाग्गिअ—दोहाग्गि १, ८, २
❀धम्मधम्मं—धम्मधम्मं २, ३३, ७

धणहर—धनुर्धर, धनुष २, ६२, १
 धयवडा—ध्वजपताका १, ३६, १
 ध्ववक्क—धौकना २, २२, ६
 ध्वसक्क—धसकना २, ६६, ९
 ध्वाह—धाड़ देना २, ४३, १
 धिद्धि—धृष्टि १, ३, ५
 धियत्तिय—धिककृत, आतंकित २, ३१, १३
 पइस—प्रविश १, २३, ७; १, २६, ४
 ध्वपइं—त्वचा १, ३३, १
 ध्वपचार—उपालम्भ २, ६०, २
 पच्छत्त—प्रायश्चित्त (हि० पछतावा) २, ४, १४
 पच्छाय—प्रच्छाद २, ५९, १
 पच्छित्त—प्रायश्चित्त २, १८, ३
 पच्छिल—पृष्ट (हि० पीछे) २, २४, २
 पड—पत् २, ५५, १३
 पडिखलण—प्रतिस्खलन २, ५४, ३
 पणच—प्रणम् विवि १, १, ४
 पणमामि १, ३, २
 ध्वपवोल्ल—प्रवच् २, ४१, १
 पयज्ज—प्रतिज्ञा २, ४, १०
 पयड—प्रकट् मि १, १, ५
 पयत्त—प्रयत्न १, २३, ५
 पयाउ—प्रताप २, ४०, ३
 परमपय—परमात्मन् १, १, ४
 परिघुलिय—परिघुलित, परिभ्रमित २, ५८, ४
 परिचत्त—परित्यक्त १, १९, १०
 परियत्त—प्रवृत्त, प्राप्त २, ७, ९
 परिसक्क—परिसर्प २, ६६, ९
 पलित्त—प्रदीप्त २, ५८, ८
 पवत्तिय—प्रवर्तित २, ३१, १२
 पहंतर—पथान्तर १, १७, २
 ध्वपहुत्त—प्राप्त (सम्भवतः प्रभूतसे) १, १७, २;
 १, ३३, १०; २, ४, १०; २, १५, ४; २, ७८, ८
 पाड—पात् २, ५२, १२
 पारावत्त—परावृत्त २, ३१, ८
 पासड—पापंड १, ३०, ३; २, ४३, ४
 पिच्छ—प्रेक्ष १, १०, ५; २, ४१, २
 पुज्जिय—पूजित १, १, ३
 पुडइणि—पुटकिनी, कमलिनी पत्र
 (हि० पुंण) २, ५८, १०

पुप्फुवंतु—फूफुर्वन् २, २३, १
 पूस—स्पृश २, १६, १२
 पेत्त—प्रेर् २, ४१, २
 पेसणु—प्रेषण १, १६, ५
 ध्वफरहत्थ—फहराता हुआ फर + हस्त -
 फल (डाल) + हस्त २, ३०, ४
 फरहरंत—स्फरन् (हि० फहराता हुआ)
 २, ९, १
 फाड—स्फाट् (हि० फाड़ना) २, ६१, ५
 फार—स्फार् २, ७६, १
 फिक्कार—फेक्कार २, २३, २
 फुडक्क—स्फुट् २, ६६, ७
 फुडु—स्पष्ट १, २४, ५
 फुसिय—स्पृष्ट २, १८, ५
 फेड—स्फेट् (हि० फेरना) १, १६, २
 वलद्—वलीवर्द (हि० वैल, वलद) २, ६२, ५
 वहिर—वधिर (हि० वहरा) २, ९, २
 वंझा—वन्ध्या १, १४, ७
 वंभ—व्रह्मा १, २७, ३
 वंभचेर—व्रह्मचर्य २, ४, ६
 वीयअ—द्वितीय १, २, ३
 वुण—वा (हि० वुनना) २, ५५, ७
 ध्ववुल्ल—वच् (हि० बुलाना) १, ११, ४;
 १, ३१, १; २, ४८, ४; २, ६२, ४
 ध्ववोल्ल—वच् १, १४, १; १, १६, २
 ध्ववोल्ल—वच् १, १७, १२; १, २१, १८; २, २९,
 २; २, ४०, ५
 वोहणिय—वोधनिका (हि० सीख) २, २०, २
 भउँ—भूमि २, २५, ५
 भज्ज—मज्य, मज्ज २, ५५, ३
 भडवाय—भटवाद, धीरत्व २, ५८, ८
 भत्ति—भक्ति १, ३, २
 भर—स्मृ २, १५, २
 भवित्ति—भवित्री, भवितव्यता १, २९, ५
 भिक्खारिअ—भिक्षाचारिन् (हि० भिखारी)
 १, ९, ३
 भिच्च—भृत्य १, १७, ८
 ध्वभिड—भाकम् (हि० भिड़ना)
 २, ४४, २; २, ४६, २
 भिंभल—विह्वल १, ११, १; १, ३५, १०;
 २, ६४, ४

क्लृप्त—विस्मृ (हि० भूलना) १, ११, २;
 १, १४, २; १, १९, ४
 मउड—मुकुट २, ५८, ४
 मच्छर—मात्सर्य १, १९, ८
 क्लमडप्फर—मदमरित (गर्वसे भरा हुआ)
 २, २९, २
 मयगल—मदगल, हस्ती १, २९, ३
 मल—मृद् १, २, ५
 महल्ल—महत् (प्रधानः) १, ५, ४; १, १७, ६;
 १, १९, ६
 क्लम्हारी—अस्माकम् (हि० हमारी) २, ४३, ७
 क्लमंड—बल १, २०, ३
 माइय—मात (हि० समाना) १, २१, ९
 मिल्ल—मेल १, १९, ५
 मुग्गर—मुद्गर २, ६५, २
 मुण—ज्ञा (ज्ञा) १, १३, १
 मुत्तय—मुक्त + क १, १०, २
 क्लमुरुक्क—मुड़ना २, ६३, २
 मुव—मुच् २, ५५, ५
 क्लमुसमूरण—भंजन, दलन २, ८१, ९
 क्लमेरउ—मम (हि० मेरा) २, ७२, ४
 मेल—मेल १, ११, ५
 क्लमेल्ल—मोच् १, १७, ५
 क्लमेल्ल—मुच् २, ७३, १
 मोकल्ल—मोच् १, १७, १
 मोकल्ल—मुक्त १, २३, १
 रइ—रच् १, ३, ३
 क्लरसमस—मिलमिसाना २, ५२, १६
 क्लरंडत्तण—वैधव्य (हि० रंडापा) २, ५५, १४
 राघअ—कविका कनिष्ठ आता १, २, ४
 रिच्छि—रिधी (रीछनी) २, ३७, ११
 क्लरीण—रिष्ट १, २३, २
 क्लरोल—कोलाहल (हि० रोला) २, ४२, १
 क्ललइ—लो, शीघ्र २, ५५, ५
 लइय—ला (धा०), गृहीत २, ४०, ९
 ल + एप्पिणु—ला (हि० लेना, लेकर)
 १, १९, १५
 लग्न—लग्न २, ५५, ४
 लट्टि—चष्टि २, ६२, १
 क्ललयअ—लान (हि० लिखा) १, १८, ३

क्ललल्लक—ललकार २, ३१, ४
 लहुआ—लघुका १, २, ५
 लित्त—लित १, ९, २
 लीह—रंख १, ३५, ४; २, १५, २; २, ४८, २
 क्ललुग्गड—रुग्ण, भग्न २, १९, १२
 क्लल्लिहक—लुप् २, ३१, ११; २, ३७, ११
 क्लवइयरु—वृत्तान्त १, १९, ८
 वइसारिय—उपसारित (हि० समीप बैठाया)
 १, २१, २०
 वचच—वृज् १, १३, ३
 वच्छल्ल—वान्मल्य १, २१, ७
 वट्ट—वृत् १, १४, ९
 वर—वार् २, ४०, १३
 ववस—व्यवसो २, ५२, ११
 वंभचेर—ब्रह्मचर्य १, २१, ८
 विउत्थ—विस्तृत २, ५१, २
 विकखाय—विद्ययान १, २४, ४
 विग्गह—विग्रह (समान या कर) १, ४, २
 विग्गुत्त—विकृत २, १९, ११
 विग्घ—विघ्न १, ३, १; १, २१, १५
 विण्णत्त—विज्ञप्त १, २३, ७
 विण्णव—विज्ञप् २, २६, २
 वित्त—वृत्त (हि० चीना) २, २०, ३
 विदिगंछि—विचिकित्सा १, ३७, ३
 विट्टवण—विट्टवण १, ३, १
 विट्टाण—विट्टाण १, १४, १; १, १७, ७
 विप्फर—विन्फर् २, ७६, १
 विचप्प—विकल्प १, १९, ३
 विग्इअ—विराजित १, ५, ५
 विवरम्मसुह—विदगादुग्ग २, ५७, २; २, ७५, ४
 विवाअ—विवाद १, २७, १; २, १६, ५
 विन्नट्ट—विन्नत्त, विस्मित २, २, ३; १, १, ३
 विन्नण—व्यसन १, ३३, ७
 विन्नहमेण—व्यसनेन । प्रथमं वर्णयति
 अत्रिणां च तत्र १, ३, ३
 विहट्ट—विष्ट २, ४६, ८
 २ विहट्टप्फर—विहत्त २, १४, १
 विहत्तंयत्त—वित्त २, ५५, १
 विहाहय—विहायित १, ३, १; १, ३, १
 २ विहत्त—वि + वृत् १, २, १

८७

गीय—द्वितीय १, २२, ५
 गीह—विर्मा १, ३५, १; २, २२, ८
 ग्—द्वौ अपि १, २, ४
 गसर—वेदार १, १४, ९
 गलण्ण—सम्पूर्ण २, २५, ८
 गसक—सृप् २, ४८, ३
 गकार—सत्कार १, २१, ११
 गमिल्ल—श्यामा (हि० सैला) २, ५२, १०
 समुच्चभड—समुद्भूत २, ४, ९
 सयाण—सज्ञान (सज्ञान, सयाना) १, ३१, ४
 ॐसरवद्—स्वरोदय २, १०, २; २, ४६, ५
 सर—स्मर २, ४२, ३
 सवण्ण—स्ववर्ण १, १०, ३
 सहाअ—स्वभाव १, २१, २
 संजलण—संज्वलन १, २१, १६
 संतट्ट—संत्रस्त २, ६९, ८
 संभाल—संस्तृ (हि० संभालना) २, ३१, १३
 सारत्त—सारत्व (सार) १, ९, ५
 साह—साध् (हि० साधना) १, २१, १५;
 १, २५, २

साहीण—स्वाधीन १, ३१, ६
 सिल्ल—शिला २, ५८, १
 सिय—स्यात् २, ३, ३,
 सिचिण—स्वप्न १, १४, ७
 सिंगार—शृंगार १, ९, ४
 सिंघासण—सिंहासन २, ८०, ५
 सीह—सिंह २, १९, ६
 सुयणाह—श्रुतज्ञान १, ४, ४
 सुवणाण—श्रुतज्ञान २, ७, ५
 सुचित्त—सुवृत्त १, १०, १
 सेस—शेष (आशीष) २, ७८, १३
 सोयाचिणि—सौदामिनी (विद्युत्) २, ८१, ८
 सोव—स्वप् २, २२, ५
 सोहरग—सौभाग्य १, ९, १
 ॐहक—हांक २, ३१, ४
 ॐहकार—आह्वान करना (हि० हाँक लगाना)
 १, २१, १९; १, २५, ३; १, २९, ५; २, ५८, ६
 हम्ममाण—हन्यमान २, ४२, ३
 हरि—(कवि नाम) १, २, ४
 ॐहेडि—होड़ (मराठी मेंढी) २, ३७, २

शुद्धि-पत्र

सन्धि-१

पद्य	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१	विग्घ-	विग्घ-
९	३	मिक्क्यां-	मिक्क्या-
११	४	तुज्ज	तुज्ज
११	५	मेलावहि	मेलावहि
१३	४	विणट्टइ	विणट्टइ
१४	१	बोलंतु	बोलंतु
१४	६	खुज्जे	खुज्जे
१४	१०	पट्टविहि	पट्टविहि
१४	११	पट्टवहि	पट्टवहि
१६	४ (अनु.)	पैर पकड़कर	पैसोंको प्रणामकर
१७	५	भेलिय-	भेलिय-
१७	९	विप	वि
१८	३	चल्लिऊ	चलिउ
१९	१३	सभाविज्जइ	संभाविज्जइ
१९	१४ (अनु.)	सुप्रदास्तभावमें	श्रुतशास्त्रमें
२१	४	ससंजभ	ससंजम
२४	४	विक्क्याय	विक्क्याय
३३	२ (अनु.)	कुमद	कुमम
३३	१५	असियर तिक्कस ममाणु	असियर-तिक्कस-ममाणु
३५	४ (अनु.)	धोप राजाओंका भी सम्मान करक	भार्नादांद प्राण करके
३५	९ (अनु.)	भृग्योंकी	भृग्योंकी
३६	४	रउददु	रउददु

सन्धि-२

२	१	-पूरंयं	-पूरंयं
४	११ (अनु.)	महाप्रभु	महाप्रभ
७	८	घार	घार
१०	२ (अनु.)	मिद्ध भूमिको शपना लक्ष्य कनाकर	मिद्धभूत कर्तव्यकथा विश्वरूप करके
१०	६ (अनु.)	हमारे रहने आपका ऐना करना	हमारे रहने आपका ऐना करना
१२	२	उज्जिअवि	उज्जिअवि
१९	७	नदुएहियउ	नदुएहियउ
२१	६	वा	वा
३७	४	भउ	भउ

५५
३७
३८
४०
४३
४३
५२
७०
८१

पंक्ति
४ (अनु.)
२
९
२
४ (अनु.)
३
२
४ (अनु.)

अशुद्ध
तीनों
अजड तिहुवणे
रडद
मिच्छतें
पाखण्ड महाशय
तडयडद
धाविडरणंगणे
लेख

शुद्ध
तीनों मट
अजड तिहुवणे
रडद
मिच्छतें
सहस्रों पाखण्ड
तडयडद
धाविड रणंगणे
लेख

